मोहन राकेश रचनावली

संपादक जयदेव तनेजा

मोहन राकेश हिन्दी के सर्वाधिक 'एक्सपोज़्ड' रचनाकार माने जाते हैं। राकेश का जीवन और लेखन 'घर' नामक मृगमरीचिका के पीछे बेतहाशा भागते एक बेसब्र, बेचैन, व्याकुल और ज़िद्दी तलाश का पर्याय है। रचनावली का यह पहला खंड–'अंतरंग'–उनके इसी 'अपना आप' पर केन्द्रित है।

यह खंड लेखक के पेचीदा जीवन के बहिरंगी बहुरूपों को दिखाने के साथ-साथ अंतरंग के गुह्य प्रदेशों के विचित्र रहस्य-लोक के गवाक्ष भी खोलता है। इसका पहला अंश अधूरा 'आत्मकथ्य...' है। इसके बाद 'चींटियों की पंक्तियाँ : ज़मीन से काग़ज़ों तक,' 'देखो बच्चू...!' और मृत्यु से लगभग दो महीने पहले रजिन्दर पॉल द्वारा लिया गया एक ऐसा साक्षात्कार है, जो उनके उदास, असुरक्षित, अस्थिर एवं अकेले आरम्भिक जीवन की प्रामाणिक और दिलचस्प झाँकी प्रस्तुत करता है।

इस खंड के अन्त में 1950 से 1958 तक उनके द्वारा लिखी गई डायरी को रखा गया है।

राकेश के अन्तर्विरोधी जटिल चरित्र एवं उनके साहित्य को सही परिदृश्य और उचित सन्दर्भ में समझने के लिए यह खंड महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

मोहन राकेश रचनावली-1
[अंतरंग]

मोहन राकेश रचनावली

खंड : एक

सम्पादक

जयदेव तनेजा

राधाकृष्ण
नयी दिल्ली पटना इलाहाबाद

ISBN : 978-81-8361-427-6

मोहन राकेश रचनावली-1

पहला संस्करण : 2011

मूल्य : ₹ 10400
(तेरह खंड)

प्रकाशक
राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002

शाखाएँ : अशोक राजपथ, साइंस कॉलेज के सामने, पटना-800 006
पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-211 001

वेबसाइट : www.radhakrishnaprakashan.com
ई-मेल : info@radhakrishnaprakashan.com

आवरण : राधाकृष्ण स्टूडियो

मुद्रक
बी.के. ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

MOHAN RAKESH RACHANAWALI-1
Edited by Jaidev Taneja

मोहन राकेश

अम्माँ के साथ राकेश

अम्माँ के साथ पोता शैली (शालीन)

अनीता जी के साथ

मन की उलझन

अनुक्रम

प्राक्कथन

रचनावली, ग्रन्थावली या समग्र के प्रकाशन का अर्थ है किसी लेखक की सर्वप्रथम रचना से लेकर अन्तिम रचना तक की समस्त कृतियों को रचना/प्रकाशन के काल-क्रम की दृष्टि से विधानुसार एक सुविधाजनक एवं तार्किक व्यवस्था में पूरी प्रामाणिकता एवं शुद्धता के साथ प्रस्तुत करना। किसी भी रचनाकार का मूल्यांकन उसके शिखर से होता है—होना भी चाहिए। परन्तु यदि उसे पूरी तरह जानना-समझना हो तो उसकी बुनियाद—उसके कच्चे-पक्के आरम्भ और लड़खड़ाते, गिरते-उठते, जूझते, भटकते, सँभलते, थकते, ठहरते और पुनः चलने के उन प्रयासों एवं पड़ावों को भी गम्भीरता से देखना-परखना ज़रूरी होता है, जिनसे होकर, अपनी असफलताओं के बावजूद, लेखक अपनी मंज़िल (?) तक पहुँचा है। मेरा विश्वास है कि रचनाओं को उनके वास्तविक अन्तिम स्वरूप, वहाँ तक पहुंचने के प्रयासों, रचना-काल और सही समय एवं परिवेश के सन्दर्भ में पढ़ने-विवेचित करने की कोशिश करें तो शायद हम किसी लेखक और उसके लेखन का यथासम्भव सम्यक् एवं सम्पूर्ण आकलन कर सकते हैं। इसी कारण मैं मानता हूँ कि रचनावली में लेखक की सभी अप्रकाशित, असंकलित, अपूर्ण और आधी-अधूरी रचनाओं को भी यथास्थान सुनियोजित रूप में रखा जाना चाहिए।

इसलिए रचनावली के सम्पादन का काम काफ़ी बड़ा और बड़ी ज़िम्मेदारी का कठिन काम है। और रचनावली यदि मोहन राकेश की हो तो यह काम, कई दृष्टियों से और भी कठिन एवं जटिल हो जाता है। इसकी सबसे बड़ी समस्या तो यही है कि राकेश एक सम्पूर्णतावादी (परफ़ैक्शनिस्ट) रचनाकार थे। वे अपनी लेखकीय-छवि के प्रति अत्यन्त सचेत एवं सतर्क रहते थे। शायद यही कारण है कि हिन्दी के एक स्वतंत्र-लेखक के चुनौतीपूर्ण जीवन का वरण करने के बावजूद उनकी अप्रकाशित रचनाएँ प्रकाशित रचनाओं के मुकाबले कहीं ज़्यादा हैं, जबकि उनकी लेखकीय हैसियत कुछ भी छपवा सकने की थी।

लेखन मोहन राकेश की पहली प्राथमिकता थी। उनके लिए जीना भी रचना का ही पर्याय था। इसीलिए वे सायास जीवन भर बेचैन, बेसब्र, अस्थिर, अशान्त और

असन्तुष्ट बने रहे। जीवन के किसी एक वर्ष, माह, सप्ताह या दिन तो क्या, एक साँस को भी बिना किसी नए स्पन्दन, संवेदन या अनुभव के यूँ ही गुज़ारना, दोहराना या गँवा देना उन्हें मंज़ूर नहीं था। उन्होंने रोम-रोम से अपने जीवन, समाज, जगत, समय और परिवेश को अपनी चेतना में जज़्ब करके उस भोगे हुए यथार्थ तथा कई रंग-रूपों में अनुभूत सत्य का पूरा सत निचोड़कर अपनी रचनाओं में उड़ेल दिया। यही कारण है कि उनकी रचनाएँ उनके भावमय-चिन्तन, सूक्ष्म मानवीय अन्तर्दृष्टि, द्विधाविदीर्ण मानसिकता, अस्थिर चित्तता तथा अपने जीवन और प्राणों की ऊर्जा से स्पन्दित हैं। थोरों ने कहा था, "सबसे महान् कलाकार वह है जो अपने जीवन को ही कला का विषय बनाए।" पता नहीं मोहन राकेश महान् रचनाकार हैं या नहीं, परन्तु यह निस्संदेह पूरा सच है कि उनके लेखन की अधिकांश सामग्री उनके दुस्साहसी और प्रयोगधर्मी जीवन ने ही उन्हें दी। इस दृष्टि से परानुभव को स्वानुभव बना देनेवाली उनकी चमत्कारी संवेदनशीलता की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

रचना-प्रक्रिया को राकेश किसी दिव्य-शक्ति की प्रेरणा, अन्तर्ज्ञान (इनट्यूशन), प्रतिभा, स्फुरण या रहस्यमयता इत्यादि से न जोड़कर एक सचेतन मानसिक प्रक्रिया मानते थे, जिसे नियन्त्रित एवं मर्यादित किया जा सकता है। यह नियन्त्रण और मर्यादा ही कला है। अनुभूति और अनुभव तो मन की स्वाभाविक प्रक्रिया है परन्तु अभिव्यक्ति में सम्पूर्णता, स्वाभाविकता एवं जीवन्तता लाने के लिए जिस दक्षता, शिल्प के अधिकार और कला-निपुणता की अपेक्षा होती है—उसे सतत प्रयास और अभ्यास से ही सिद्ध किया जा सकता है। राकेश की रचना-प्रक्रिया दरअसल अनुभूति को उसकी पूरी स्वाभाविकता, तीव्रता एवं सघनता और अनुभव को पूरी जटिलता के साथ अभिव्यक्त करने की, कभी न ख़त्म होनेवाली कोशिश और कशिश का ही दूसरा नाम है। वे अपने व्यक्तिगत जीवन में नौकरी, शहर, घर और पत्नी को लेकर कितने ही अस्थिर, उतावले और लापरवाह क्यों न रहे हों, अपने लेखन के प्रति वे अत्यन्त धैर्यवान, कठोर, अनुशासित, गम्भीर और सतर्क थे। आत्म-निषेध की प्रबल भावना उनमें थी। पूरी तरह आत्मतुष्ट होने के बाद ही वे अपनी किसी रचना को प्रकाशन के लिए देते थे। आत्मसम्मान और लेखकीय अधिकारों के प्रति इतने जागरूक एवं कट्टर थे कि अपने लिखे में वे प्रकाशक-सम्पादक को एक शब्द भी बदलने की छूट नहीं देते थे। नाटक के निर्देशकों द्वारा मंचन की पूर्व-अनुमति न लेने या नाटककार की इजाज़त के बिना आलेख में परिवर्तन कर लेनेवालों के ख़िलाफ़ वे वकीलों के नोटिस भिजवा देते थे या मुक़दमे दायर कर देते थे।

इस पृष्ठभूमि में यदि मोहन राकेश के औपचारिक एवं अनौपचारिक सम्पूर्ण लेखन को देखा-परखा जाए तो निःसन्देह मोहन राकेश के सम्पूर्ण लेखन को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहला वर्ग उन रचनाओं का है जो राकेश के जीते जी प्रकाशित

हुईं। दूसरे वर्ग में वे सभी रचनाएँ आती हैं जो उनके मरणोपरान्त छपीं। इनमें से दो-तीन अपवादों को छोड़ दें, तो ये पुस्तकें प्रकाशकों द्वारा किए गए उनकी रचनाओं के संकलन मात्र हैं। पुस्तकों के अतिरिक्त 'सारिका', 'नटरंग', 'इनैक्ट' नामक पत्रिकाओं के 'राकेश विशेषांकों' और मिशिगन स्टेट युनिवर्सिटी के 'एशियन स्टडी सेन्टर' द्वारा अंग्रेज़ी में प्रकाशित 'एन्थोलॉजी' में भी पांडुलिपियों के रूप में प्राप्त उनकी बहुत सारी अप्रकाशित नई रचनाएँ भी छपीं। लेकिन इन दोनों वर्गों के साहित्य की अब कोई पांडुलिपि उपलब्ध नहीं है। इसलिए उनके अन्तिम प्रकाशित रूप को ही प्रामाणिक मान लेना पड़ा है।

तीसरे वर्ग में, उनके पत्रों के अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं, डायरियों और फ़ाइलों से प्राप्त पूर्ण, लगभग पूर्ण, अपूर्ण या आधी-अधूरी वे रचनाएँ आती हैं जिन्हें मैंने 1995 से लेकर सन् 2003 के बीच 'राकेश और परिवेश : पत्रों में', 'एकत्र', 'पुनश्च' एवं 'नाट्य-विमर्श : मोहन राकेश' नामक पुस्तकों के रूप में सम्पादित कर प्रकाशित करवाया है। इन पुस्तकों के छप जाने के बाद मूल पत्र और राकेश की हस्तलिपि में उपलब्ध अधिकांश सामग्री (उनके टाइप राइटर सहित), श्रीमती अनीता राकेश की इच्छानुसार, नाट्य-शोध संस्थान (कोलकाता) में सुरक्षित रखने के लिए उसकी निदेशक डॉ. प्रतिभा अग्रवाल को दे दी गई। इसलिए रचनावली के सम्पादन के समय मूल से मिलान करने के लिए मेरे पास कोई पांडुलिपि मौजूद नहीं थी। फिर भी, इस तीसरे वर्ग की रचनाओं की प्रामाणिकता के सन्दर्भ में मैं केवल अपनी निष्ठा, ईमानदारी और मेहनत के बल पर ही पाठकों को आश्वस्त कर सकता हूँ कि 'मेरे द्वारा सम्पादित ये सारी सामग्री यथासम्भव मूल के अनुरूप एवं प्रामाणिक है।'

मोहन राकेश की कुछ रचनाएँ, जैसे—रजिन्दर पॉल, कार्लो कपोला और मोहन महर्षि के साथ उनके साक्षात्कार तथा कई अन्य लेख मूलतः अंग्रेज़ी में हैं, किन्तु अब तक उनके हिन्दी अनुवाद ही छपते रहे हैं। इस रचनावली में उन्हें ज्यों-का-त्यों अंग्रेज़ी के मूल रूप में ही छापा गया है। अतः एक अन्य स्तर पर यह रचनावली इस रूप में भी प्रामाणिक है कि राकेश का अंग्रेज़ी में लिखित साहित्य पहली बार पुस्तकाकार यहीं प्रकाशित किया गया है।

राकेश के जीवन-काल में छपी पुस्तकों में से, एकमात्र 'परिवेश' को छोड़कर, किसी के साथ भी कोई छेड़छाड़ नहीं की गई है। 'परिवेश' में राकेश की कई तरह की रचनाएँ संकलित हैं। उसमें आत्मकथात्मक, व्यक्ति-चित्र, रिपोर्ताज, संस्मरण, समकालीन प्रश्नों पर टिप्पणियाँ, रपटें और लेख शामिल हैं। इसके बावजूद राकेश को लगा था कि पुस्तक को सम्पूर्णता देने के लिए कुछ और सामग्री अपेक्षित है, जिसे उस समय लिख पाना लेखक के लिए सम्भव नहीं था। स्पष्ट है कि 'परिवेश' को स्वयं राकेश भी सुनियोजित और अपने आप में सम्पूर्ण पुस्तक नहीं मानते थे। इसी

तर्क से प्रोत्साहित होकर मैंने इसे पुनर्सम्पादित करने का साहस किया। इस प्रक्रिया में, न केवल इसके दो आत्मकथात्मक लेख रचनावली के प्रथम खंड में रख दिए गए, बल्कि दूसरे और तीसरे वर्ग की अनेक रचनाओं को भी विधा और विषय के अनुसार इसी पुस्तक में समाहित कर दिया गया है।

राकेश के मरणोपरान्त उनके बहुविध लेखों, साक्षात्कारों एवं परिचर्चाओं को 'साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि' नामक पुस्तक में संकलित कर 1975 में प्रकाशित किया गया था। इस पुस्तक के अन्य लेखों को और अधिकांश स्वतंत्र-रचनाओं को विषयानुसार क्रमबद्ध करके रचनावली के खंड-आठ में संयोजित किया गया है।

राकेश द्वारा अंग्रेज़ी में लिखी गई रंगकर्म एवं फिल्म-लेखन सम्बन्धी काफ़ी सामग्री अपने मूल रूप में पहली बार इस रचनावली में ही पढ़ने को मिलेगी। उनका सुप्रसिद्ध पार्श्व नाटक 'छतरियाँ' का मूल अंग्रेज़ी रूप 'मैड डिलाइट' भी ऐसी ही एक और रचना है।

विभिन्न खंडों की भूमिकाएँ प्रायः परिचयात्मक हैं और वहाँ केवल उन्हीं प्रासंगिक तथ्यों का उल्लेख है, जिन्हें रचना पढ़ने से पहले पाठक के लिए जान लेना उपयोगी हो और जिससे रचना को सही परिप्रेक्ष्य में रखकर पढ़ा और समझा जा सके। कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें पत्रिका और पुस्तक में छपे रूपों में शीर्षक का ही नहीं कथ्य एवं शिल्प का भी पर्याप्त अन्तर है। ऐसे में राकेश की रचना-प्रक्रिया को समझने और तुलनात्मकता की दृष्टि से रचना के अन्तिम प्रारूप को रचनावली के उचित खंड में यथास्थान देने के बाद, उसके आरम्भिक रूप को भी, परिशिष्ट में दे दिया गया है।

प्रामाणिकता के बाद रचनावली-सम्पादन की दूसरी बुनियादी समस्या काल-क्रम की थी। इसमें रचना-काल अथवा प्रकाशन-काल को आधार बनाया जा सकता था। परन्तु रचना-काल को लेकर दो समस्याएँ हैं। पहली यह कि सभी रचनाओं के रचना-काल की प्रामाणिक जानकारी मिलना लगभग असम्भव है। इसका सबसे बड़ा और शायद एकमात्र प्रमाण यह है कि हमारे सम्पूर्ण साहित्य में अज्ञेय द्वारा उनकी अपनी लिखी और व्यवस्थित ढंग से रखी गई और स्वयं सम्पादित की गई 'सदानीरा' के अपवाद को छोड़कर सम्भवतः दूसरी कोई ऐसी उल्लेखनीय पुस्तक नहीं है, जो रचना-काल के आधार पर संयोजित की गई हो। दूसरे, यदि रचना-काल मिल भी जाए तो रचना-लेखन के आरम्भ को आधार बनाया जाए या फिर उसके सम्पूर्ण होने को? मोहन राकेश के मामले में तो यह 'लगभग' नहीं, बल्कि पूरी तरह असम्भव है। वे रचना को एक जीवित इकाई मानते थे जो रचनाकार के साथ-साथ आजीवन 'ग्रो' करती रहती है। अपने कृतित्व के लिए उनकी कसौटियाँ एवं अपेक्षाएँ बहुत बड़ी थीं। उनकी रचनाओं के कई-कई प्रारूप मिलने का भी यही कारण है। वे जब तक स्वयं

सन्तुष्ट नहीं हो जाते थे, किसी रचना का पीछा नहीं छोड़ते थे। और विडम्बना यह है कि सन्तुष्ट कभी वे होते नहीं थे!

परन्तु इसी सिक्के का एक दूसरा पहलू भी है। अध्यापकी और सम्पादकी वाले पाँच-सात वर्षों को छोड़ दें तो उनका लगभग सम्पूर्ण जीवन स्वयं चुनी और स्वीकार की गई आर्थिक कठिनाइयों, संकटपूर्ण स्थितियों तथा चुनौतियों की संघर्ष-गाथा रहा है। स्वतंत्र लेखक की ज़रूरतों, रेडियो तथा पत्र-पत्रिकाओं की माँगों और मित्र-सम्पादकों के न टाले जा सकने वाले अधिकारपूर्ण आग्रहों के चलते उन्हें कई बार रचनाएँ निश्चित समय की सीमा के दबाव और तनाव में अकसर जैसे-तैसे पूरी करके तुरन्त देनी होती थीं। यही कारण है कि कालान्तर में पुस्तक रूप में छपवाते समय वे उन्हें पुनः संशोधित, सम्पादित और कभी-कभी तो काफी परिवर्द्धित तक कर देते थे। यह प्रक्रिया केवल शब्द और वाक्य-विन्यास को ही नहीं, रचना के कथ्य और शिल्प तक को भी प्रभावित करती है।

इस सन्दर्भ में उदाहरण के तौर पर उनके पहले उपन्यास 'स्याह और सफ़ेद' का पहला पन्ना लें तो उसे वे 17 मई, 1953 को लिखते हैं और सन् 1960 तक दो सौ पन्नों से भी अधिक लिख चुकने के बाद उसे अधूरा छोड़ देते हैं। कालान्तर में उसी के उत्तरार्द्ध पर आधारित 'नीली रौशनी की बाँहें' लिखकर 1962 में 'धर्मयुग' में धारावाहिक रूप से छपवाते हैं। छपने के बाद उसमें फिर संशोधन करते हैं और उसे वैसे ही पड़ा रहने देते हैं। लगभग दस साल बाद उसका पुनर्लेखन करके 1972 में 'अन्तराल' के नाम से उसे पुस्तकाकार प्रकाशित करवाते हैं। यही नहीं, राकेश 21-8-1954 को अपनी डायरी में कश्मीर को लेकर एक उपन्यास का लेखन आरम्भ करते हैं, जिसका नाम है—'सौन्दर्य की खोज'। अगस्त-सितम्बर 1956 तक उसे 'जेहलम के माँझी' नाम से पूरा भी कर डालते हैं। लगभग एक दशक बाद वह 1964-65 में 'नई कहानियाँ' में 'काँपता हुआ दरिया' के नाम से धारावाहिक रूप से छपता है और अन्तिम दो-एक किस्तों के छपने से पहले यह सम्पादक की इस सूचना के साथ बन्द हो जाता है कि, 'बहुत जल्द ही यह पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो रहा है।' परन्तु लेखक की मृत्यु तक यह कहीं नहीं छपता और 1998 में राकेश की अप्रकाशित-असंकलित रचनाओं के संग्रह 'एकत्र' में प्रकाशित होता है!

यही हाल कमोबेश उनके नाटकों का भी है। 'लहरों के राजहंस' की बीस साल लम्बी रचना-प्रक्रिया को तो हम सब जानते हैं। यह तथ्य भी ज़्यादातर लोग जानते होंगे कि 'आषाढ़ का एक दिन' 3 मार्च से 21 अप्रैल, 1958 के बीच लिखा गया, जून 1958 को छपा और 9 अगस्त, 1959 को संगीत नाटक अकादमी द्वारा सर्वश्रेष्ठ नाटक के रूप में पुरस्कृत घोषित किया गया। परन्तु इस बात का शायद ही किसी को पता हो कि इसी कथानक पर आधारित इस नाटक का पूर्व रूप 'कालिदास'

शीर्षक से राकेश ने अप्रैल 1955 तक पूरा लिख लिया था, जोकि मई या सितम्बर 1955 को छपनेवाला भी था। परन्तु...

कश्मीर के एक क्लब और उसके बार में आने-जानेवाले विभिन्न वर्गों और मानसिकताओं के चरित्रों की दिलचस्प कहानी कहने की एक कोशिश राकेश ने 1965 में उपन्यास 'कई एक अकेले' लिखकर भी की थी। लेकिन बात बनी नहीं और लेखक ने उसे अधूरा ही छोड़ दिया।* फिर इसी कथ्य पर आधारित नाटक 'पैर तले की ज़मीन' पर हाथ आज़माया तो वक्त ने साथ नहीं दिया और नाटक अधूरा छूट गया जो कमलेश्वर की कलम से पूरा होकर (?) 1975 में प्रकाशित हुआ। जलियाँवाला बाग के हत्याकांड की अर्द्धशती पर आधारित प्रकाश-ध्वनि आलेख 'विजन्स-1919' यद्यपि 27 मार्च से 15 अप्रैल, 1969 के बीच लगातार ही लिखा गया था लेकिन प्रकाशित होने में उसे लगभग तीन दशक लग गए। उनके सभी एकांकी, बीज नाटक, ध्वनि-नाटक और पार्श्व-नाटक के रूप में किया गया एक अनूठा प्रयोग—सबके सब उनके मरणोपरान्त ही संग्रहित-प्रकाशित हुए।

स्पष्ट है कि इन परिस्थितियों में रचना-काल की दृष्टि से तो मोहन राकेश की रचनाओं को क्रम-बद्ध किया ही नहीं जा सकता था।

काल-क्रम का दूसरा आधार प्रकाशन-काल हो सकता है। इसमें भी दो श्रेणियाँ हैं—पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन अथवा पुस्तकाकार प्रकाशन। उक्त विवेचन एवं उदाहरणों से स्पष्ट है कि मोहन राकेश जैसी जटिल रचना-प्रक्रिया वाले रचनाकार के सन्दर्भ में इन दोनों आधारों पर भी काल-क्रम संयोजन निर्भ्रान्त एवं निर्विवाद नहीं हो सकता। हम जानते हैं कि राकेश की अधिकतर रचनाएँ पहले पत्रिकाओं में और कुछ या काफ़ी समय बाद पुस्तक रूप में छपीं। कुछेक ही सीधे किताब के रूप में प्रकाशित हुईं और अनेक केवल पत्रिकाओं में छपकर ही रह गईं। इन हालात में उनका प्रामाणिक प्रकाशन-काल किस आधार पर निर्धारित किया जाए? इस पेचीदा परिस्थिति में रचनाओं के पुस्तक रूप में उसके प्रथम संस्करण के प्रकाशन-काल को ही आधार बनाना मुझे अपेक्षाकृत बेहतर विकल्प लगा। परन्तु अपवाद के तौर पर, दो-एक स्थानों पर, इस नियम के विरुद्ध जाकर, प्रकाशन-काल के स्थान पर रचना-काल को प्राथमिकता देना ही अधिक तर्कसंगत तथा उचित प्रतीत हुआ। उदाहरण के लिए 'एक घटना' 1974 में प्रकाशित होने के कारण राकेश का अन्तिम कहानी संग्रह है। परन्तु रचना-काल की दृष्टि से इसमें 7 मई, 1944 को लिखी गई लेखक की पहली कहानी से लेकर 1950-51 तक की एकदम आरम्भिक एवं अपरिपक्व कहानियाँ ही संकलित हैं। इसलिए अपने ही बनाए नियम के विरुद्ध

---

* इसका प्रकाशन रचनावली के खंड-नौ में अधूरी रचनाओं के साथ किया गया है। —सं.

जाकर मैंने इसे कहानियों पर केन्द्रित खंड-पाँच के बजाय खंड-दो में प्रस्तुत 'पहले पहल' की रचनाओं के साथ रखा है।

विविध-विधाओं के खंड-नौ के अंतिम भाग 'अधूरी रचनाएँ' में रचना के प्रकाशन-प्रसारण काल के साथ-साथ खंडित या आधी-अधूरी (प्रायः अप्रकाशित) कृतियों के रचना काल को ध्यान में रखते हुए क्रम-निर्धारण किया गया है। जहाँ प्रकाशन-प्रसारण और रचना-काल कुछ भी उपलब्ध नहीं है, वहाँ अनुमान का सहारा भी लेना पड़ा है। उदाहरणार्थ हस्तलिखित रूप में प्राप्त नाटक 'शय्या' के दूसरे अंक के पहले दृश्य का रचना-काल 1945 आलेख पर ही लिखा है। रेडियो-रूपान्तर और ध्वनि-नाटक लिखने का अधिकांश काम राकेश ने आकाशवाणी जालन्धर के लिए मित्र हरिकृष्ण प्रेमी के आग्रह पर 1957 में किया था। इसी आधार पर 'मिस्टर भाटिया' के रूपान्तरण एवं प्रसारण काल को उसी समय के आसपास का मान लिया गया है। हम जानते हैं कि 'लहरों के राजहंस' 1963 में लिखा गया था अतः उससे सम्बन्धित दृश्य का सम्भावित रचनाकाल 1962-63 मान लेना पड़ा है। टंकित रूप में मिले खंडित एकांकी 'खालिस-नाखालिस' के साथ ही उसका रचना-काल 1958 भी लिखा मिला है। यात्रा-संस्मरण 'ऊँची झील' 1 मई, 1960 को आकाशवाणी के इलाहाबाद केन्द्र से प्रसारित हुआ था, जिसे बाद में राकेश ने 'परिवेश' के बड़े लेख 'यात्रा का रोमांस' में इस्तेमाल किया। 'चन्द सतरें और...' 1962 में 'सारिका' में छपे कुछ चुने हुए सम्पादकीय हैं। बीज नाटक 'हिस्व्' सम्भवतः 'शायद' और 'हंः' के साथ 1967 में ही लिखा गया होगा क्योंकि ज्ञानपीठ के श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन को लिखे अपने 19-11-67 के एक पत्र में राकेश स्पष्टतः लिखते हैं कि "...'तीन बीज नाटक' के प्रकाशन की व्यवस्था मैंने कर ली है—राधाकृष्ण प्रकाशन से।" संग्रह छपा नहीं, लेकिन सम्भावना यही है कि उस पुस्तक में छपनेवाला तीसरा बीज-नाटक 'हिस्व्' ही रहा होगा। 'रंगमंच और फ़िल्म' माध्यमों को लेकर राकेश 1970 के आस-पास नेहरू फ़ैलोशिप पर काम करने और 'फ़िल्म वित्त निगम' से जुड़ने के बाद ही अधिक गम्भीरता से सोचने लगे थें। इसी आधार पर विचार-बिन्दुओं को अन्तिम स्थान दिया गया है।

पुस्तकों के मामले में कई बार ऐसा भी होता है कि किसी पत्रिका के सम्पादक अथवा प्रकाशन-संस्थान के प्रकाशक द्वारा किसी शीघ्र-प्रकाश्य या आगामी-प्रकाशन की सूचना के साथ पुस्तक का विज्ञापन भी छाप दिया जाता है। परन्तु किसी कारणवश उस समय या कालान्तर में भी वह पुस्तक कभी प्रकाशित ही नहीं हो पाती। कभी किसी भिन्न नाम से प्रकाशित होती है। ऐसी स्थितियाँ भ्रम पैदा करती हैं। इस सन्दर्भ में ध्यातव्य है कि रूसी शोध-रंग यात्रा के बाद राकेश के अनुभवों एवं संस्मरणों पर आधारित शीघ्र प्रकाश्य पुस्तक के रूप में 'पतझर का रंगमंच' का ज़ोर-शोर से विज्ञापन किया गया था। सम्भवतः 'नटरंग' में प्रकाशित 'रंगमंच और

शब्द' तथा 'शब्द और ध्वनि' नाटक लेख तथा 'सारिका' में छपा 'मकबरे और आज' शीर्षक यात्रा-संस्मरण उसी पुस्तक के अंश थे। परन्तु राकेश की आकस्मिक मृत्यु के कारण उसकी शेष रचनाएँ लिखी ही नहीं जा सकीं। इसीलिए वह पुस्तक आज तक नहीं छपी, न ही उसकी पाण्डुलिपि कहीं मिली। नए अनुसन्धाता आज भी उसकी तलाश में पुस्तकालयों की ख़ाक छानते रहते हैं। राकेश की एक रचना 'कई एक अकेले' की तलाश को लेकर मुझे भी लगभग ऐसी ही एक समस्या का सामना करना पड़ा। यहाँ तो इस बुनियादी तथ्य को लेकर ही विवाद था कि इस नाम का राकेश का कोई उपन्यास वास्तव में था भी या नहीं? राकेश की फ़ाइलों, डायरियों या उपलब्ध अन्य सामग्री में इस नाम का कहीं कोई उल्लेख नहीं था। उनकी पत्नी अनीता राकेश से लेकर राकेश के जानकारों, प्रशंसकों, समीक्षकों और मित्रों-परिचितों तक का निश्चित उत्तर नकारात्मक था। परन्तु मुझे लगता था कि मैंने यह नाम शायद कहीं पढ़ा/सुना है। लेकिन बहुत खोजने-पूछने पर भी जब कुछ हाथ नहीं लगा, तो उसकी सूचना पाने के लिए मैंने सार्वजनिक विज्ञापन भी दिए। कहीं से कोई उत्तर नहीं मिला। फिर एक दिन संयोग से राकेश के पत्रों की किताब पलटते हुए राकेश के शिष्य एवं मित्र मुम्बई के गिरधारी लाल वैद के 2-2-1965 के एक पत्र में इसका सन्दर्भ मिल गया। परन्तु सम्पर्क करने पर इस विषय में उनसे भी कोई जानकारी नहीं मिल पाई। विडम्बना यह है कि पत्र के सन्दर्भ-सूत्र से जब मैंने 'सारिका' जैसी प्रतिष्ठित और राष्ट्रीय स्तर की व्यावसायिक पत्रिका की 1965 की फ़ाइल ढूँढ़ने की कोशिश की तो वह कहीं नहीं मिली—टाइम्स ऑफ़ इंडिया के दफ़्तर में भी नहीं। अन्ततः एक मित्र के माध्यम से कोलकाता के राष्ट्रीय पुस्तकालय से अपेक्षित सामग्री की एक धुँधली-सी फ़ोटोप्रति प्राप्त हुई। इस खंड की अधूरी रचनाओं के साथ राकेश के इस लगभग अज्ञात एवं विलुप्तप्राय अधूरे उपन्यास 'कई एक अकेले' को रचनावली में प्रकाशित कर पाने की मुझे प्रसन्नता है।

पत्रों के कालक्रम निर्धारण की समस्या थोड़ी भिन्न थी। रचनावली में पत्र-लेखकों को अकारादि क्रम से रखकर फिर प्रत्येक के पत्रों को तारीखवार अलग-अलग क्रम से संयोजित किया गया है। इसमें प्रकाशित पत्रों के मामले में कई पत्रों पर कोई तारीख़ नहीं थी। अनेक में तारीख़ थी भी तो अकसर सन् ग़ायब था। ऐसे में उन पर लगी डाकखाने की मुहर (यदि वह पठनीय है तो) को आधार बनाया गया है। सादे या छपे पैडों पर लिखित ऐसे पत्रों के क्रम-निर्धारण में पूर्वापर सम्बन्ध, कथ्य और उसमें आए सन्दर्भों से तारीख, मास और विशेषतः सन् का अनुमान लगाना पड़ा है। जैसे कि राजेन्द्र यादव की पुस्तक 'अब वे वहाँ नहीं रहते' में राकेश का बिना तारीख़ का एक पत्र (रचनावली में राजेन्द्र यादव के पत्रों में पत्र संख्या 48) है। इसमें दो प्रमुख सन्दर्भ हैं। एक, 'चार फरवरी को शरत् की शादी है।' और दूसरा

यह कि, 'नवनीत का आपरेशन ठीक हो गया है। अब वह नॉर्मल ढंग से घूमने-फिरने लगा है।' चूँकि सत्येन्द्र शरत् की शादी की तारीख़ 4 फरवरी, 1958 है और नवनीत का आपरेशन 28 दिसम्बर, 1957 को हुआ और टाँके खुलने के बाद 7 जनवरी, 1958 को वह घर आया था। इसलिए हर हालत में यह पत्र 7 जनवरी, 1958 के बाद और 4 फरवरी, 1958 से पहले लिखा गया होगा। अतः इस पत्र (संख्या 48) की तारीख़ यहाँ जनवरी, 1958 मान ली गई है।

रचनावली के सम्पादन के दौरान रचनाओं की प्रामाणिकता और उनके सम्यक् काल-निर्धारण के साथ-साथ एक बड़ी समस्या उनके शुद्ध प्रस्तुतीकरण की भी थी। यह सच है कि पूरी सावधानी के बावजूद, प्रकाशन में कुछ-न-कुछ गलतियाँ रह ही जाती हैं। रचना के बाद के संस्करणों में ऐसी अशुद्धियाँ क्रमशः बढ़ती भी जाती हैं। कुछ वर्ष पूर्व, 'आधे अधूरे' के राज संस्करण के प्रकाशन से पहले जब मैंने उसके पहले संस्करण के आधार पर पाठ-संशोधन किया तो उसमें प्रूफ़ की भयंकर अशुद्धियाँ देखने को मिलीं, जो दशकों से ज्यों-की-त्यों चली आ रही थीं। इसलिए पाठ-संशोधन के मामले में मैंने मुख्यतः प्रथम संस्करण को ही आधार माना है।

जीवन हो या लेखन राकेश दुनिया के व्याकरण के खिलाफ़ चलने के आदी थे। उनके लेखन का बुनियादी सरोकार अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच कम-से-कम दूरी रखते हुए लिखना था। वे अपनी अनुभूति और उसकी यथासम्भव सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के बीच भाषा या व्याकरण के किसी नियम, कानून और परम्परा को हस्तक्षेप नहीं करने देते थे। इसलिए भाषा-विज्ञान एवं व्याकरण की दृष्टि से राकेश की अनेक अभिव्यक्तियाँ दोषपूर्ण एवं अशुद्ध प्रतीत हो सकती हैं। परन्तु कई बार राकेश निरर्थक ध्वनियों-उद्‌गारों के सार्थक प्रयोग और कुछ भ्रष्ट शब्दों-वाक्यांशों या अभिव्यक्तियों को अपेक्षित अर्थ एवं प्रभाव के सम्पूर्ण सम्प्रेषण की दृष्टि से जानबूझकर इस्तेमाल करते हैं—विशेषतः नाटकों के संवादों में। उस तथाकथित अशुद्ध प्रयोग का महत्त्व शुद्ध प्रयोग के मुकाबले कहीं ज़्यादा होता है। इसलिए रचनावली में ऐसी 'अशुद्धियों' को जानबूझकर ज्यों-का-त्यों रहने दिया गया है। स्पष्ट है कि शुद्धता के मामले में यहाँ शब्द अथवा भाषा की अपेक्षा अभिप्रेत/प्रभाव को अधिक महत्त्व दिया गया है।

तथ्यों के स्तर पर शुद्धिकरण की एक अन्य समस्या का सामना भी सम्पादक को करना पड़ा है। उदाहरण के लिए खंड-दस में मोहन राकेश द्वारा राजेन्द्र यादव को लिखा बिना तारीख़ का एक पत्र (संख्या 58) संकलित है। इसमें एक वाक्य है, "न जाने शादी कराके उसे (कमलेश्वर को) क्या साँप सूँघ गया है।" ढूँढ़ने पर 'राकेश और परिवेश : पत्रों में' नामक़ पुस्तक में राजेन्द्र यादव द्वारा राकेश को लिखा एक पत्र (संख्या 277) मिला, जिसमें लिखा गया है कि "कमलेश्वर शादी कराके जाने कहाँ

मर गया!” इस पत्र पर 7-7-56 की तारीख़ दी गई है। अतः ज़ाहिर है कि राकेश द्वारा लिखे गए पत्र की तारीख़ भी इसी के आसपास होनी चाहिए। परन्तु तथ्यात्मक दृष्टि से उक्त पत्र पर प्रकाशित तिथि का सन् सही नहीं हो सकता, क्योंकि कमलेश्वर की शादी की तारीख़ 24 जून, 1958 है। इसलिए स्पष्ट है कि राजेन्द्र यादव के पत्र पर दी गई 7 जुलाई तो ठीक है, लेकिन सम्भवतः प्रकाशन-प्रक्रिया के दौरान, असावधानीवश किसी स्तर पर, सन् 1958 की जगह 1956 हो गया होगा। इसके अतिरिक्त राकेश के इसी पत्र में स्कॉलरशिप से त्याग-पत्र देने को लेकर जो ऊहापोह की स्थिति मौजूद है, वह भी जून-जुलाई 1958 के आसपास की ही है, क्योंकि 20 अगस्त, 1958 को तो उन्होंने त्याग-पत्र दे ही दिया था। इसलिए मोहन राकेश के इस पत्र (संख्या 57) की अनुमानित तिथि जुलाई, 1958 मान ली गई है। सम्पादक द्वारा इस प्रकार की अनुमानित तारीख़ों को छोटे कोष्टकों में रखा गया है। खंड-नौ में प्रकाशित अधूरे उपन्यास ‘कई एक अकेले’ के दो-तीन पृष्ठों पर कोष्टकों में दिए गए कुछ शब्दों का आधार भी सम्पादक का अनुमान ही है।

जलियाँवाला बाग हत्याकांड पर आधारित मोहन राकेश के ध्वन्यालोक आलेख ‘विजन्स-1919’ में एक भिन्न प्रकार की समस्या थी। इसका लेखन-काल 27 मार्च से 14 अप्रैल, 1969 है। अमृतसर में इसका प्रदर्शन 14 अप्रैल, 1969 को हुआ। ‘एकत्र’ नामक संकलन में यह रचना 1998 में पहली बार प्रकाशित हुई। इसका आलेख साइक्लोस्टाइल्ड प्रति के रूप में प्राप्त हुआ था।

आलेख की मूल प्रति में ‘तकनीकी नोट्स’ कहीं नहीं हैं और जो हैं, उन्हें बाद में पैंसिल से अंग्रेज़ी में लिखा गया है। आदत के मुताबिक यहाँ भी प्रस्तुति की तैयारी के दौरान राकेश अन्त तक अमृतसर में मौजूद रहे और सम्भवतः अन्तिम क्षण तक उन्होंने आलेख में अनेक संशोधन भी किए, जैसा कि प्रस्तुति-आलेख और प्रस्तुति की टेपांकित रिकॉर्डिंग के मिलान से स्पष्ट होता है। उदाहरण के लिए, अंश-14 के आरम्भ में ‘भाइयो!’ की जगह ‘सुनो भाइयो! सुनो’ कर दिया गया तो अन्त में सरकारी और जनता की मुनादियों के प्रभावशाली कोलाज को भी जोड़ दिया गया। अंश-15 के सम्बोधन को ‘साहबे सदर’ से बदलकर ‘जनाबे सद्र’ किया गया और अन्त में पहले बेकल साहब से की गई ‘अर्ज़’ को बाद में ‘दरख़्वास्त’ बना दिया गया। अंश-18 का पूरा सरकारी ऐलान और अंश-28 के अन्त में प्रदर्शन की समाप्ति से पहले ‘जन गण मन’ का विधान भी लेखक ने संभवतः पूर्वाभ्यास के दौरान ही किया होगा, क्योंकि प्रस्तुति-आलेख तक में यह संशोधन नहीं किए गए हैं। अतः यहाँ प्रकाशित आलेख के शब्द, प्रदर्शन की रिकॉर्डिंग से लिये गए हैं और दृश्य एवं ध्वनि-विवरण तथा तकनीकी नोट्स रचनाकार द्वारा लिखित आलेख की मूल प्रति से। प्रामाणिकता एवं शुद्धिकरण की दृष्टि से रचना के अन्तिम रूप निर्धारण का यह एक नया आयाम है।

मोहन राकेश के प्रकाशित, असंकलित, अप्रकाशित, औपचारिक, अनौपचारिक और अपूर्ण लगभग सम्पूर्ण साहित्य को इस रचनावली के तेरह खंडों में विभाजित किया गया है।

राकेश के जीवन एवं लेखन में बहुत कम अन्तर रहा है। इसलिए ज़रूरी लगा कि राकेश के जीवन के उतारों-चढ़ावों, गड्ढों और पहाड़ों, सफलताओं-असफलताओं के बारे में पाठक पहले जान लें। इसलिए रचनावली का पहला-खंड 'अंतरंग' रखा गया है, जो लेखक के पेचीदा जीवन के बहिरंगी बहुरूपों को दिखाने के साथ-साथ अंतरंग के गुह्य प्रदेशों के विचित्र रहस्य-लोक के गवाक्ष भी खोलता है।

रचनावली के दूसरे खंड को 'पहले पहल' शीर्षक दिया गया है। इस खंड में ग्रन्थावलियों की प्रचलित परम्परा से हटकर राकेश द्वारा विविध विधाओं में किए गए प्रकाशित-अप्रकाशित, पूर्ण-अपूर्ण सर्वप्रथम रचना-प्रयोगों को काल-क्रम से क्रमशः एक साथ प्रस्तुत किया गया है। रचनावली में खंड-विभाजन के इस नए प्रयोग का मुख्य उद्देश्य लेखक के बहुविध रचना-कर्म के आरम्भिक बिन्दुओं को रेखांकित करना रहा है। इसमें मोहन राकेश के सर्वप्रथम एकांकी एवं एकांकी-संग्रह, कहानी-संग्रह, फिल्मालेख, निबन्ध, यात्रा-संस्मरण, रेडियो-नाटक, अधूरे उपन्यास के दो अंश, डायरी का शुरुआती हिस्सा और प्रथम पूर्णकालिक नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' को सम्मिलित किया गया है। यही खंड वह आधार-भूमि है, जिस पर खड़े होकर हम लेखक की रचनात्मक-यात्रा को अथ से अन्त तक जाँच-परखकर उसके विकास, ह्रास और सफलता-असफलता का उचित मूल्यांकन कर सकते हैं। विभिन्न खंडों की पृष्ठ संख्या में बहुत अन्तर न हो जाए इस व्यावहारिक दृष्टि से भी, अपवाद स्वरूप, कहीं-कहीं समझौता करना पड़ा है।

रचनावली का तीसरा खंड 'नाटक' पर केन्द्रित है। 'आषाढ़ का एक दिन' के 'पहले-पहल' नामक दूसरे खंड में चले जाने के बाद मोहन राकेश के शेष नाटकों को यहाँ कालक्रम से रखा गया है। 'लहरों के राजहंस' के पहले और नए, दोनों संस्करणों को यहाँ इस प्रयोजन से एक साथ प्रस्तुत किया गया है ताकि कालान्तर में यह सनद रहे कि इस नाटक का 1963 में प्रकाशित एक पहला प्रारूप भी था, जिसका वर्तमान नया रूप 1968 में छपा। इनके बाद क्रमशः 1969 और 1975 में छपे 'आधे अधूरे' और 'पैर तले की ज़मीन' को स्थान दिया गया है। परिशिष्ट में दी गईं इन नाटकों की महत्त्वपूर्ण बहुभाषी प्रस्तुतियों की सूचनात्मक प्रदर्शन-सूचियाँ इस खंड की एक अन्य प्रमुख विशेषता है।

खंड-चार में राकेश के एकांकी, अन्य लघु-नाट्य प्रयोग तथा ध्वनि-नाटक संगृ[illegible] तथा बीज नाटक' नामक पुस्तक में प्रका[illegible] एकांकी' शीर्षक के अन्तर्गत 'घड़ी भर

एकान्त', 'कर्फ़्यू', 'विदा निशा' तथा 'कलिंग-विजय' (संशोधित रूप) नामक बाद में मिले चार नए एकांकी भी रचनावली में शामिल किए गए हैं। इसी प्रकार, रेडियो नाटकों/रूपान्तरों के संग्रह 'रात बीतने तक तथा अन्य ध्वनि नाटक' पुस्तक की पूर्व प्रकाशित रचनाओं के बाद 'अन्य ध्वनि नाटक' शीर्षक से नए मिले मौलिक ध्वनि-नाटक 'तुलसीदास' तथा मंचीय एकांकी 'कर्फ़्यू' के रेडियो रूपान्तर भी यहाँ छापे गए हैं। मोहन राकेश के बहुचर्चित पार्श्व-नाटक 'छतरियाँ' का अंग्रेज़ी में लिखा गया मूल आलेख 'मैड डिलाइट' पहली बार इस खंड में ही प्रकाशित किया गया है।

रचनावली का पाँचवाँ खंड कहानियों पर केन्द्रित है। इसमें 'इंसान के खँडहर', 'नये बादल', 'जानवर और जानवर', 'एक और ज़िन्दगी' तथा 'फ़ौलाद का आकाश' नामक राकेश के मूल कहानी-संग्रहों को प्रकाशन-क्रम में प्रस्तुत किया गया है। इनके बाद लिखी गई 'ख़ाली', 'पहचान' और 'क्वार्टर' को उक्त संग्रहों के बाद 'और अंत में...' शीर्षक के अन्तर्गत रखा गया है। 'गुंझल' को मूलतः उपन्यास 'स्याह और सफ़ेद' का अंश होने के कारण यहाँ से निकालकर 'खंड-दो' में प्रकाशित किया गया है। कमलेश्वर द्वारा सम्पादित राकेश की आरम्भिक-अप्रकाशित कहानियों के संग्रह 'एक घटना' को भी इस खंड के बजाय 'पहले पहल' नामक दूसरे खंड में ही दिया गया है। कहानी के आरम्भिक प्रारूप को किस प्रकार विकसित-संशोधित करके मोहन राकेश उसके अन्तिम प्रारूप तक पहुँचाते थे—उस प्रक्रिया को जानने-समझने के उद्देश्य से 'फटा हुआ जूता' और 'उलझते धागे' के पूर्व प्रकाशित आलेख 'रूप रस गन्ध' तथा 'पहाड़ी रास्तों पर' को भी इस खंड के परिशिष्ट में प्रस्तुत किया गया है।

रचनावली के खंड-छः और सात राकेश के उपन्यासों पर केन्द्रित हैं। छठे खंड में उनका बड़ा और पुस्तकाकार प्रकाशित पहला उपन्यास 'अँधेरे बन्द कमरे' है तो सातवें खंड में 'न आने वाला कल', 'अन्तराल' और 'काँपता हुआ दरिया' क्रमशः संकलित हैं। इसके परिशिष्ट में राकेश का चर्चित किन्तु अनुपलब्ध उपन्यास 'नीली रौशनी की बाँहें' दिया गया है। यह उपन्यास चूँकि प्रकाशित उपन्यास 'अन्तराल' का पूर्व-रूप है, इसलिए यहाँ उसका संक्षिप्त रूप ही रखा गया है।

खंड-आठ में राकेश के आलोचनात्मक-विचारात्मक लेख दिए गए हैं। यहाँ उनके जीवन-काल में प्रकाशित निबन्धों की पुस्तक 'परिवेश', मरणोपरान्त 1975 में छपे उपलब्ध लेखों के संकलन 'मोहन राकेश : साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि' तथा उसके भी बाद मिले हिन्दी-अंग्रेज़ी के अनेक लेखों एवं साक्षात्कारों की सामग्री को पुनर्संयोजित और सम्पादित करके विषय के अनुसार यहाँ 'नाटक और रंगमंच', 'कथा-प्रसंग' तथा 'परिवेश' शीर्षकों के अन्तर्गत क्रमशः प्रस्तुत किया गया है। 'परिवेश' में से दो आत्मकथात्मक लेखों को निकालकर खंड-एक में रखने के अलावा कोई फेरबदल नहीं किया गया है। इसके उपशीर्षकों को बदले बिना अन्य अथवा

नई सामग्री को उन्हीं के अन्तर्गत समाहित कर दिया गया है। इस खंड के चौथे भाग में कार्लो कपोला और मोहन राकेश के बीच 30 जुलाई, 1968 को हुआ वह महत्त्वपूर्ण साक्षात्कार दिया गया है जो अंग्रेज़ी में अमरीका के 'एशियन स्टडी सेन्टर' द्वारा 1974 में प्रकाशित मोहन राकेश की 'एन्थोलॉजी' में छपा था। यहाँ पहली बार उसे मूल रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। 1975 में छपे इसके बहुपठित एवं बहुउद्धृत हिन्दी रूप को परिशिष्ट में दिया गया है। इसके बाद राकेश के बहुविध आलोचनात्मक बाईस लेखों के 1974 में छपे संग्रह 'बकलम खुद' को स्थान दिया गया है। ये लेख राकेश ने 1960 से 1967 के बीच 'नई कहानियाँ' में 'बकलम खुद' तथा 'सारिका' में 'नई निगाहों के सवाल' एवं '... कुछ और अस्वीकार' शीर्षक स्तम्भों के लिए लिखे थे। इन स्तम्भ-लेखों के क्रम और पुस्तक के मूल स्वरूप की रक्षा करने की दृष्टि से 1962-63 में छपे राकेश के सम्पादकीय 'चन्द सतरें और...' के चुने हुए तीन नए आलेख यहाँ परिशिष्ट में दिए गए हैं।

खंड-नौ में विविध विधाओं की कुछ पूर्व-प्रकाशित पूर्ण और कुछ नई अपूर्ण फुटकर रचनाएँ संकलित हैं। सबसे पहले कुछ नई सामग्री के साथ राकेश की डायरी के उस उत्तरार्द्ध को रखा गया है, जिसका पूर्वार्द्ध खंड-एक में है। इसके बाद मुम्बई के डायरीनुमा 'स्पॉट नोट्स' और फिर प्रकाश एवं ध्वनि का अनूठा प्रयोग 'विजन्स-1919' क्रमशः प्रकाशित किए गए हैं। इनके अतिरिक्त, फ़िल्म, समीक्षा, काव्य, किशोर एवं बाल साहित्य तथा विविध विधाओं की आधी-अधूरी तेरह रचनाएँ भी इस खंड में दी गई हैं।

रचनावली के दसवें खंड में तीस व्यक्तियों को मोहन राकेश द्वारा लिखे गए कुल 543 पत्र प्रकाशित किए गए हैं। इन व्यक्तियों में अनीता राकेश जैसी प्रेमिका-पत्नी, बड़े भाई-भाभी जैसे उपेन्द्रनाथ अश्क तथा कौशल्या अश्क, शिष्य-मित्र जैसे गिरधारी लाल वैद और राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी, सत्येन्द्र शरत् जैसे अनेक सहयात्री-दोस्तों, श्यामानन्द जालान एवं प्रतिभा अग्रवाल जैसे कई रंगकर्मी साथियों को लिखे बहुसंख्य आत्मीय एवं अनौपचारिक पत्र शामिल हैं। इनके अलावा प्रकाशकों, सम्पादकों, कलाकारों, स्वदेशी-विदेशी लेखकों, अनुवादकों, प्रशंसकों, परिचितों और सरकारी-ग़ैर-सरकारी अधिकारियों इत्यादि, अनेक क्षेत्रों और पेशों से जुड़े व्यक्तियों को लिखे गए सत्रह औपचारिक पत्र भी यहाँ अलग से परिशिष्ट में दे दिए गए हैं।

साहित्य की इस नितान्त अनौपचारिक विधा के रूप में किसी लेखक के पत्रों को एकत्रित करने और उन्हें व्यवस्थित ढंग से सम्पादित करके शुद्ध रूप में प्रकाशित करने की अलग समस्याएँ हैं। पत्रों के बारे में सबसे बड़ी विडम्बना तो यह होती है कि लेखक के पास दूसरों के पत्र होते हैं और दूसरों के पास लेखक के। यह परनिर्भरता इस खंड की सबसे बड़ी समस्या थी। किसी भी लेखक–विशेषतः

स्वतंत्र-लेखक के लिए प्रायः पत्र लिखना या प्रत्येक आनेवाले पत्र का उत्तर देना मुश्किल होता है। प्रेम-पत्रों की स्थिति भिन्न है! दूसरी समस्या राकेश के दुरूह हस्तलेख की भी थी। शायद इसी से परेशान होकर कालान्तर में उन्होंने सीधे टाइपराइटर पर ही लिखना शुरू कर दिया था।

यह सच है कि राकेश से (लगभग) प्रत्येक पत्र-लेखक को उनके पत्र न लिखने या पत्रोत्तर न देने की समान शिकायत रही है। परन्तु झूठ यह भी नहीं कि कई बार राकेश ने सिर्फ़ पत्र-लिखने के लिए कॉलेज से छुट्टी ली और एक बार तो केवल एक महीने में सौ से अधिक पत्र लिखे। प्रश्न यह है कि वे हज़ारों पत्र अब कहाँ हैं—हैं भी या नहीं—कौन जाने? मेरे भरसक प्रयास से तो ज़्यादा मिले नहीं!

इसके बावजूद एक धुँधली-सी यह उम्मीद अब भी है कि राजेन्द्र यादव की पुस्तक की तरह शायद निकट भविष्य में कभी कमलेश्वर और धर्मवीर भारती को लिखे राकेश के बहुसंख्य पत्र उनकी किसी किताब के रूप में छप जाएँ तो सम्भवतः उस दौर का पूरा नेपथ्य और राकेश का अन्तरंग अधिक स्पष्ट हो सके।

रचनावली में छपे पत्रों में आए नाम-सन्दर्भ ज़्यादातर चर्चित-परिचित साहित्यकारों के ही हैं। फिर भी, अबाध पठनीयता को बनाए रखने की दृष्टि से ज्ञात, अल्पज्ञात या अज्ञात सन्दर्भों पर उन्हीं पत्रों के साथ संक्षिप्त पाद-टिप्पणियाँ भी दे दी गई हैं। एकरूपता की दृष्टि से भी पत्र-प्रकाशन में कुछ मामूली समझौते किए गए हैं।

साहित्यकारों के पत्र उनके जीवन और समय के प्रामाणिक दस्तावेज़ होते हैं। मनोविश्लेषण की दृष्टि से देखें तो पत्र के मूल कथ्य के साथ इस बात का भी अपना महत्त्व होता है कि लेखक ने किस भाषा (हिन्दी/अंग्रेज़ी या...) का प्रयोग किया है? सम्बोधन क्या है? पत्र हस्त-लिखित है या टंकित? उसने किन शब्दों को चुना और उन्हें कौन-सा क्रम दिया? वह पत्र कब, कहाँ से और किसे लिखा गया? ये तमाम बातें तो हम प्रकाशित पत्रों के माध्यम से प्रायः सहजता और प्रामाणिकता के साथ जान सकते हैं, परन्तु पत्रों के माध्यम से होनेवाले अध्ययन-विश्लेषण में पत्र-लेखक की हस्तलिपि, हस्ताक्षर और लिखकर काटे गए शब्दों का भी अपना ख़ास अर्थ होता है।

पश्चिम में तो उपरोक्त तथ्यों के अतिरिक्त इन बातों पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है कि लेखक ने पत्र पोस्टकार्ड, पिक्चर पोस्टकार्ड, अन्तर्देशीय-पत्र, छपे पैड या सादे काग़ज़—किस पर लिखा है? उसने पत्र के लिए किस आकार-प्रकार और रंग-रूप के काग़ज़ को चुना और स्याही का रंग क्या है? शब्द छोटे, बड़े, बारीक या मोटे हैं? इन तमाम तथ्यों के सूक्ष्म-गहन विश्लेषण से पत्र-लेखक के बारे में कई रोचक, गम्भीर, उत्तेजक और अप्रत्याशित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

परन्तु हमारे यहाँ की परिस्थितियाँ भिन्न हैं। पश्चिम के मुकाबले यहाँ औपचारिकता और व्यक्तिकेन्द्रीयता भी कम है। और मामला यदि मोहन राकेश जैसे

खानाबदोश तथा अस्थिर-अनिश्चित मानसिकता वाले लेखक के पत्रों का हो—तो इन तमाम बातों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता क्योंकि राकेश के कई पत्र रेलवे प्लेटफ़ॉर्मों, बस अड्डों पर प्रतीक्षा करते या यात्राओं के दौरान आते-जाते वक्त लिखे गए हैं। अनेक पत्र होटलों, ढाबों, डाक बंगलों और जल्दी-जल्दी बदले जाने वाले अपने अथवा दोस्तों के घरों से लिखे गए हैं। ऐसे में पत्र के प्रकार, काग़ज़ के स्वरूप और स्याही के रंग इत्यादि के चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता—उस जगह और उस वक्त जो कुछ उपलब्ध हुआ, उसी का इस्तेमाल कर लिया गया। इसके अतिरिक्त, छपाई की अपनी सीमाएँ भी हैं। इसके माध्यम से उक्त सभी ब्यौरे पत्र-पाठक के लिए उपलब्ध करा सकना सम्भव ही नहीं है। विदेशों में मूल पत्र संग्रहालयों में सँभालकर रखे जाते हैं। हमारे यहाँ.वैसी कोई परम्परा या संस्कृति ही नहीं रही। जिस समाज में स्वयं रचनाकार और रचना का ही अपेक्षित सम्मान न हो, वहाँ उसकी चिट्ठी-पत्री को भला कौन रखेगा—सँभालेगा? इन परिस्थितियों में राकेश के इतने पत्रों का मिल जाना और इस खंड में उनका यथासम्भव काल-क्रम तथा व्यवस्थित ढंग से छप जाना भी मेरे लिए कम सन्तोष की बात नहीं है।

विभिन्न देशों-प्रदेशों, भाषाओं और संस्कृतियों के आदान-प्रदान का सबसे बड़ा माध्यम है—अनुवाद। इनसे हमारा साहित्य वैविध्य, विस्तार और समृद्धि प्राप्त करता है। अनेक विश्वविख्यात रचनाकारों ने यह कार्य बड़े उत्साह एवं मनोयोग से किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर आज की पीढ़ी तक के वरिष्ठ एवं नवोदित हिन्दी लेखक भी रचनाकर्म के इस क्षेत्र में सक्रिय रहे हैं। मोहन राकेश ने भी अनुवाद का यह कार्य, कभी खुशी से और कभी तत्काल आर्थिक संकट से उबरने के लिए मजबूरी में किया था। रचनावली के अन्तिम तीन खंड उनके अनुवादों पर ही केन्द्रित हैं। संस्कृत भाषा, साहित्य और नाट्य-विधा राकेश की चेतना के अभिन्न अंग रहे हैं। अपने आपको तथा अपने समकालीन रंगकर्म को उसकी जड़ों से जोड़ने के महत् उद्देश्य से राकेश ने संस्कृत से शूद्रक के 'मृच्छकटिक' और कालिदास के 'शाकुन्तल' जैसे कालजयी नाटकों के रंगोपयोगी हिन्दी अनुवाद किए। इन्हें खंड-ग्यारह में हिन्दी अनुवादों के प्रकाशन-क्रम से एक साथ रखा गया है।

इस रचनावली के अन्तिम दो खंडों में चार विदेशी उपन्यासों को भी उनके हिन्दी में प्रकाशित होने के कालक्रम में संयोजित किया गया है। बारहवें खंड में ग्रेहम ग्रीन के 'उस रात के बाद' (द एंड ऑफ़ द अफ़ेअर), क्लेरेंस डे के 'जो कहें पापा जो करें पापा' (लाइफ़ विद फ़ादर) और एदिता मॉरिस के 'हिरोशिमा के फूल' (फ़्लावर्स ऑफ़ हिरोशिमा) तथा तेरहवें खंड में हेनरी जेम्स के 'एक औरत का चेहरा' (पोट्रेट ऑफ़ ए लेडी) जैसे विश्वविख्यात उपन्यासों के मोहन राकेश कृत हिन्दी अनुवाद संकलित किए गए हैं।

मोहन राकेश पुस्तकों की भूमिकाओं को एक तात्कालिक उपयोग की चीज़ मानते थे—यात्रा का ग़ुबार—जो धीरे-धीरे बैठ जाता है और अप्रासंगिक हो जाता है। यह सत्य है कि भूमिका के मुकाबले वास्तविक महत्त्व रचना का ही होता है। परन्तु असत्य यह भी नहीं कि कालान्तर में यही भूमिकाएँ उस दौर तथा उस समय-सन्दर्भ के साथ लेखक के सम्बन्ध और विधा-विशेष के विकास को जानने-समझने का महत्त्वपूर्ण माध्यम सिद्ध होती हैं। किसी लेखक के सम्पूर्ण लेखन का एक अविभाज्य अंग तो यह हैं ही। कल्पना कीजिए यदि राकेश के 'लहरों के राजहंस' के नए रूप की भूमिका न होती तो हम राकेश की रचनाधर्मिता एवं प्रक्रिया के जाने कितने सरोकारों और आन्तरिक दबावों-तनावों को जानने से वंचित रह जाते! इसलिए मेरा विश्वास है कि रचनावली के सन्दर्भ में ये भूमिकाएँ एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ की तरह ज़रूरी हैं। इसी कारण रचनावली में प्रकाशित राकेश की जिन पुस्तकों में भी रचनाकार की भूमिका प्रकाशित थी उसे रचना के साथ उसी खंड में रखा गया है।

परन्तु उनकी तीन भूमिकाएँ ऐसी थीं जिनका यहाँ समुचित स्थान निर्धारित करना एक समस्या से कम नहीं था। राकेश द्वारा सम्पादित पुस्तक 'आईने के सामने' तथा एकांकी संकलन 'पाँच पर्दे' की भूमिकाएँ स्वभावतः रचनावली की मूल योजना में कहीं फ़िट नहीं बैठती थीं। सोच-विचार के बाद 'आईने के सामने' की भूमिका को खंड-एक के परिशिष्ट में रखा गया। इसका प्रमुख कारण यह है कि पहले खंड में छपा लेख 'चीटियों की पंक्तियाँ : ज़मीन से कागज़ों तक...' वास्तव में मूल लेख 'आईने के सामने' का ही बदला हुआ शीर्षक है। इसलिए उसे इसी खंड के परिशिष्ट में देना मुझे युक्ति-संगत प्रतीत हुआ। 'पाँच पर्दे' की भूमिका एकांकी पर लिखे गए स्वतंत्र लेख जैसी थी, इसलिए उसे वैचारिक लेखों के खंड-आठ में 'नाटक और रंगमंच' के अन्तर्गत प्रस्तुत अन्य नाट्य-लेखों के साथ 'एकांकी' शीर्षक से एक नाट्य-लेख के रूप में समाहित कर दिया गया। राकेश की सम्पूर्ण कहानियों की शृंखला—'क्वार्टर', 'पहचान' और 'वारिस' नामक तीनों खंडों पर एक ही संक्षिप्त भूमिका है। इसके सम्पादित रूप को रचनावली की कहानियों पर केन्द्रित खंड-पाँच के अन्त में प्रस्तुत तीन बड़ी कहानियों की संयुक्त भूमिका के रूप में दिया गया है।

सम्पादक के रूप में मेरा आग्रह रहा है कि मैं स्वयं को आलोचक होने से भरसक बचाए रखूँ और अपने व्यक्तिगत राग-द्वेष, पूर्वग्रहों, मान्यताओं एवं मूल्यांकनपरक टिप्पणियों से बचते हुए राकेश की रचनाओं को यथासम्भव प्रामाणिक एवं व्यवस्थित रूप में पाठकों के समक्ष रख दूँ। इसके अतिरिक्त, मैं यह भी मानकर चला हूँ कि पत्र-पत्रिकाओं में छपी कृतियों के मुक़ाबले पुस्तकों के रूप में छपी कृतियाँ ही अधिक विश्वसनीय एवं प्रामाणिक हैं, क्योंकि वे एक बार फिर से लेखक की संवेदनशील और पैनी नज़र से गुज़रकर ही छपी हैं।

'मोहन राकेश रचनावली' का यह महत् कार्य मेरे माध्यम से सम्पन्न हुआ, इसकी मुझे बेहद खुशी है। मेरी सम्पादन-सामर्थ्य में विश्वास व्यक्त करने के लिए मैं श्रीमती अनीता राकेश और श्री अशोक महेश्वरी का कृतज्ञ हूँ। समय-समय पर इस कठिन कार्य में बहुविध सहयोग एवं सहायता करने के लिए मैं श्री सत्येन्द्र शरत्, स्व. कमलेश्वर, गिरधारी लाल वैद और डॉ. मीरा कांत का हृदय से आभारी हूँ।

और अन्त में, मुझे यह खेद भी है कि राकेश के समस्त नाटकों, उनकी कहानियों तथा डायरी को एक-एक खंड में सम्पूर्णतः नहीं दिया जा सका। मोहन राकेश के आत्मीय एवं उनकी कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के वरिष्ठ प्रकाशक, राजपाल एंड संस के स्वामी, श्री विश्वनाथ जी की 'सशर्त अनुमति' के कारण यह सम्भव नहीं हो पाया। परन्तु सम्पादक के नाते इस सशर्त अनुमति के लिए मैं उनका आभारी भी हूँ, क्योंकि उनकी शर्त के कारण ही सम्भवतः रचनावली को एक नए, मौलिक और रचनात्मक ढंग से संयोजित किया जा सका।

—जयदेव तनेजा

26 जनवरी, 2011
नई दिल्ली

तथ्यावलोकन

जीवन :

नाम : मदन मोहन गुगलानी (घर में पुकारने का नाम मद्‌दी) उर्फ़ मदन मोहन 'राकेश' उर्फ़ मोहन राकेश उर्फ़ राकेश।

जन्म : 8 जनवरी, 1925, जंडीवाली गली, अमृतसर (पंजाब)।

माता-पिता : श्रीमती बच्चन कौर (अम्मा), श्री करम चन्द गुगलानी (अरोड़ा)।

भाई-बहन : वीरेन्द्र/वरीन/वरेन कुमार कान्त (साढ़े चार साल छोटा/भाई), कमला (डेढ़ साल बड़ी/बहन)।

शिक्षा : संस्कृत में शास्त्री, अंग्रेज़ी में बी.ए., संस्कृत में एम.ए. (ओरिएंटल कॉलेज, लाहौर, 1944), हिन्दी में एम.ए. (पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़, 1952), नेहरू फ़ैलोशिप के अन्तर्गत 'नाटकीय शब्द' विषय पर शोध-कार्य (1970-72 अपूर्ण)।

अभिरुचियाँ : लेखन, यायावरी, मैत्री, प्रेम, अच्छा खाना-पीना, पहनना, रहना और त्याग-पत्र।

आजीविका : 47 साल, 11 महीने और 5 दिन के जीवन काल में मोहन राकेश ने लाहौर की फ़िल्म-कम्पनी में कथाकार और सिडहैम कॉलेज एवं एलफ़िंस्टन कॉलेज (मुम्बई), बिशप कॉटन स्कूल (शिमला), डी.ए.वी. कॉलेज (जालंधर), दिल्ली विश्वविद्यालय, सांध्य (दिल्ली) में अध्यापन तथा 'सारिका' (मुम्बई) के सम्पादन कार्य में कुल मिलाकर लगभग ग्यारह साल और नौ महीने ही नौकरी की। प्रत्येक नौकरी को अपनी इच्छा से त्याग-पत्र देकर छोड़ा। शेष जीवन स्वतंत्र-लेखक और घुमक्कड़ के रूप में अपनी शर्तों पर आत्म-सम्मान के साथ जिया।

प्रेम/विवाह : मोहन राकेश की अनेक महिला-मित्र एवं प्रेमिकाएँ रहीं। उन्होंने तीन बार विवाह किया।

पत्नियाँ : (1) 10-12-1950 को इलाहाबाद में सुशीला मेहरवाल से विवाह। 8-5-1955 को बेटे नवनीत/नीते का जन्म। 9-8-57 को पठानकोट में तलाक। बेटा माँ को दिया गया। अब उसका नाम नवनीत डोभाल।

(2) 11-5-1960 को कुल्लू में पुष्पा चोपड़ा से विवाह। आरम्भ से ही नहीं निभी। लेकिन पत्नी ने तलाक देने से इंकार कर दिया।

(3) 22-7-1963 को ग्वालियर की अनीता औलक से दिल्ली में गंधर्व-विवाह किया। 3-8-1963 को मुम्बई में मित्रों के बीच घोषणा और प्रीति-भोज। 28-10-1967 को बेटी पुर्वा और 12-11-1970 को बेटे शालीन/शैली का जन्म।

निधन : 3-12-1972 को आर-802, न्यू राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली में हृदयाघात से आकस्मिक मृत्यु।

कृतित्व :

एकांकी-संग्रह : सत्य और कल्पना : 1949
यात्रा-संस्मरण : आखिरी चट्टान तक : 1953
कहानी-संग्रह : इंसान के खँडहर : 1950
नये बादल : 1957
जानवर और जानवर : 1958
एक और ज़िन्दगी : 1961
फ़ौलाद का आकाश : 1966

[उपर्युक्त पाँचों संग्रहों की कहानियों में अपनी कुछ और नई कहानियाँ जोड़ते हुए राकेश ने क्रमशः 'आज के साए' (1967), 'रोएँ रेशे' (1968), 'एक एक दुनियाँ' (1969) और 'मिले जुले चेहरे' (1969) नामक संग्रह छपवाए। इसके उपरान्त 1972 में इसी प्रकार के तीन अन्य कहानी-संग्रह 'क्वार्टर तथा अन्य कहानियाँ', 'पहचान तथा अन्य कहानियाँ' और 'वारिस तथा अन्य कहानियाँ' भी प्रकाशित हुए। इसी वर्ष इन सभी कहानियों को नया क्रम देकर 'मोहन राकेश की सम्पूर्ण कहानियाँ' के नाम से एक साथ भी प्रकाशित किया गया। कालांतर में इन्हीं में से चुनी गईं कहानियों

के 'मेरी प्रिय कहानियाँ', 'मोहन राकेश की श्रेष्ठ कहानियाँ', 'मोहन राकेश की प्रतिनिधि कहानियाँ' जैसे कई अन्य संकलन भी छपे।]

गद्य-संकलन

परिवेश : 1957

बाल-साहित्य

समय सारथी : 1972

अनुवाद (नाटक)

मृच्छकटिक (महाकवि शूद्रक) : 1961

शाकुन्तल (महाकवि कालिदास) : 1966

अनुवाद (उपन्यास)

जो कहें पापा जो करें पापा (लाइफ़ विद फ़ादर–क्लेरेंस डे) : 1953

उस रात के बाद (द एंड ऑफ़ द अफ़ेयर–ग्रेहम ग्रीन) : 1960

हिरोशिमा के फूल (फ़्लावर्स ऑफ़ हिरोशिमा–एदिता मॉरिस) : 1965

एक औरत का चेहरा (पोट्रेट ऑफ़ ए लेडी–हेनरी जेम्स)

मरणोपरान्त प्रकाशित रचनाएँ

अण्डे के छिलके अन्य एकांकी तथा बीज-नाटक : 1973

रात बीतने तक तथा अन्य ध्वनि नाटक :1974

बकलम खुद : 1974

बिना हाड़-माँस के आदमी (बाल-साहित्य) : 1974

पैर तले की ज़मीन (कमलेश्वर द्वारा पूरा किया नाटक) : 1975

साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि : 1975

मोहन राकेश की डायरी : सं. अनीता राकेश (भूमिका-कमलेश्वर) : 1992

मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक : सं. नेमिचन्द्र जैन : 1993

राकेश और परिवेश : पत्रों में : सं. जयदेव तनेजा : 1995

एकत्र (राकेश की अप्रकाशित एवं असंकलित रचनाएँ)–सं. जयदेव तनेजा : 1998

काँपता हुआ दरिया (खंडित) : ('एकत्र' में) : 1998।

पुनश्च : (राकेश और अश्क दम्पत्ति के पत्र) : सं. जयदेव तनेजा : 2000

नाट्य-विमर्श : मोहन राकेश : सं. जयदेव तनेजा : 2003

पूर्वाभ्यास (आरम्भिक एकांकी) : सं. जयदेव तनेजा : 2008

मोहन राकेश विशेषांक

नटरंग (अक्टूबर-दिसम्बर, 1972) : सम्पादक–नेमिचन्द्र जैन

Enact (January-February, 1973) : Editor–Rajinder Paul

सारिका (मार्च, 1973) : सम्पादक–कमलेश्वर

Journal of South Asian Literature (JSAL), 1974, Editor–Carlo Cappola

जागृति (जून, 1983) अतिथि सम्पादक–डॉ. यश गुलाटी

नाटक

आषाढ़ का एक दिन : 1958

आषाढ़ का एक दिन (विशिष्ट संस्करण) : 1969

लहरों के राजहंस : 1963

लहरों के राजहंस (नये रूप में) 1968

आधे अधूरे : 1969

उपन्यास

अँधेरे बन्द कमरे	:	1961
न आने वाला कल	:	1970
अन्तराल	:	1972

भूमिका

मोहन राकेश रचनावली का प्रथम खंड 'अंतरंग' उनके 'अपना-आप' पर केन्द्रित है। राकेश के सन्दर्भ में रचना और रचनाकार के व्यक्तिगत जीवन में इतनी समानता है कि लगता है जैसे उनका लगभग सम्पूर्ण साहित्य प्रकारान्तर से उनका आत्मकथ्य ही है। विस्मयसूचक और प्रश्नवाचक चिह्नों से भरी मोहन राकेश के जीवन की इबारत में अर्द्ध-विराम तो फिर भी कुछ थे, लेकिन पूर्ण-विराम के लिए कहीं कोई जगह नहीं थी। शान्ति, सुरक्षा और स्थिरता से उन्हें डर लगता था और संघर्ष के अभाव में बस 'खाना, पीना और बीतना' की बात सोचकर ही वह सिहर उठते थे। वह दुनिया के नियम-कानूनों को मानकर सीधी राह चलने की बजाए अपने विवेक की टेढ़ी-मेढ़ी लीक पर चलने तथा अपनी शर्तों पर जीवन जीने के आग्रही थे। अनपेक्षित और अनिश्चित के सम्मोहन ने राकेश को उनके जीते-जी इतना विचित्र और चुनौतीपूर्ण बना दिया था कि वह एक ज़िन्दा आदमी की जगह किंवदंती-सी प्रतीत होने लगे थे। एक वैष्णव और सात्विक परिवार में पैदा होने के बावज़ूद राकेश कालान्तर में क्यों और कैसे इतने विद्रोही बन गए कि दूर से देखनेवालों ने उन्हें सिर्फ़ एक शराबी-कबाबी और औरतबाज़ ख़ानाबदोश व्यक्ति तक समझ लिया! उनके स्वभाव, तनाव, अभाव और परिस्थितियों के प्रभाव को गहराई से जाने बिना राकेश के बहु-आयामी एवं जटिल व्यक्तित्व को समझा नहीं जा सकता। उनके व्यक्तित्व का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उनके जीवन ही नहीं, साहित्य को जाँचने-परखने के लिए भी बेहद ज़रूरी है।

मोहन राकेश हिन्दी के सर्वाधिक एक्स्पोज़्ड रचनाकार माने जाते हैं। लेकिन कैसी विडंबना है कि उनके आरम्भिक जीवन के बारे में बहुत ही कम प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध है! रचनावली के 'अंतरंग' नामक इस खंड से सम्भवतः यह कमी काफ़ी हद तक दूर हो सकेगी। इसका

पहला अंश 'आत्मकथा...' है जिसे राकेश ने लिखना शुरू तो किया था, लेकिन उसे पूरा नहीं कर सके। 'आत्मकथा...' का यहाँ दिया गया अंश मरणोपरान्त उनकी फ़ाइलों में मिला, जो नोट बुक के छोटे पन्नों पर लिखा गया है और कुछ पृष्ठों के बाद 'आत्मकथा' के अध्यायों की सूची भी इसमें दी गई है। तत्पश्चात् मोहन राकेश के निबन्ध संकलन 'परिवेश' के दो लेख वहाँ से हटा कर यहाँ रखे गए हैं। 'चींटियों की पंक्तियाँ : ज़मीन से काग़ज़ों तक' (मूल आलेख 'आईने के सामने' का बदला हुआ शीर्षक) उनके आरम्भिक जीवन का आईना है। 'देखो, बच्चू...!' में मोहन राकेश ने अपने जन्म-स्थान अमृतसर की जंडीवाली नामक तंग और अँधेरी गली के उस छोटे से घर का बड़ा बेबाक चित्रण किया है जो दादी के अन्धविश्वासों एवं निषेधों के साथ-साथ सुरुचि संपन्न वैष्णव पिता और उपेन्द्र नाथ अश्क जैसे उनके साहित्यकार मित्रों की पवित्र छाया से एक साथ आच्छादित था। ये रचनाएँ राकेश के परिवेश तथा उनके बचपन पर पड़ने वाले विविध पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रभावों को रेखांकित करती हैं।

इसके बाद 'इनैक्ट' के सम्पादक रजिन्दर पॉल द्वारा लिया गया राकेश का एक ऐसा अंतरंग साक्षात्कार है, जो उनके आरम्भिक जीवन की प्रामाणिक और दिलचस्प झाँकी प्रस्तुत करता है। पॉल और राकेश मित्र भी थे और साढ़ू भी। राकेश की मृत्यु से लगभग दो महीने पहले इस बातचीत को टेपरिकॉर्डर पर रिकॉर्ड किया गया था। 'इनैक्ट' में छपी यह बातचीत अंग्रेज़ी में थी जो, ज्यों-की-त्यों अपने मूल रूप में, रचनावली में ही पहली बार प्रकाशित हो रही है। दूसरा टेप बाद में कहीं खो गया, जिसमें राकेश ने 'सारिका' छोड़ने के अपने परवर्ती जीवन के बारे में विस्तार से बताया था। 'साक्षात्कार' में राकेश अन्तर्विरोधों से भरी अपनी आरम्भिक ज़िन्दगी से लेकर लाहौर की छद्म बौद्धिक और चकाचौंध भरी नई सम्मोहक दुनिया के प्रभावों, अपने रचनाकार व्यक्तित्व के विकास तथा जीवन-संघर्ष का बेझिझक आत्म-स्वीकार करते हैं। यहाँ अपनी जटिल मानसिकता तथा विडम्बनापूर्ण वैवाहिक जीवन की दुर्भाग्यपूर्ण व्यथा-कथा के साथ-साथ 'घर' की तलाश में भटकते मोहन राकेश अपनी तीसरी पत्नी (!) अनीता और (बेटी-बेटा) पूर्वा एवं शालीन के साथ अपने सुखद आत्मीय सम्बन्धों की दिलचस्प दास्तान भी बड़ी सहज ईमानदारी से उद्घाटित करते हैं।

सचेतन स्तर पर लिखी गई आत्मकथा, साहित्यिक रचना के रूप में शब्दबद्ध किए गए आत्मकथात्मक लेख और सोच-समझकर दिए गए

साक्षात्कार—चाहे जितने भी ईमानदार एवं सच्चे हों—'डायरी' जितने आत्मीय, अनौपचारिक और अंतरंग नहीं होते। इसलिए, और प्रकाशन-क्रम की दृष्टि से भी पूर्व प्रकाशित 'मोहन राकेश की डायरी' को इस खंड के अन्त में रखा गया है। 'बम्बई : 1948' की आरम्भिक तीन प्रविष्टियों के 'पहले पहल' नामक खंड-दो में चले जाने के कारण इस खंड की डायरी पृष्ठ 18 की 'कन्नानौर : 8.1.1953' की प्रविष्टि से लेकर 20.12.1958 की जालन्धर की आख़िरी प्रविष्टि तक के अंश को ही लिया गया है। इसी के बाद राकेश जालन्धर को छोड़कर दिल्ली चले जाते हैं। जहाँ से उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का नया दौर शुरू होता है। उल्लेखनीय है कि उक्त प्रकाशित डायरी में राकेश की एक अन्य डायरी का वह अप्रकाशित हिस्सा भी आरम्भ में जोड़ा गया है, जिसमें उन्होंने शिमला में मिशनरी स्कूल की नौकरी (1950-51) तथा आगरा में अपने विवाहित जीवन की दूसरी सालगिरह के तनाव, अन्तर्द्वन्द्व एवं संशय और दिल्ली में नई सम्भावनाओं की तलाश (1951-52) के रोचक तथा मार्मिक मनोभावों को बेबाकी से दर्ज किया है। दोनों डायरियों की सम्बद्धता में अद्‌भुत क्रमबद्धता एवं निरन्तरता स्पष्ट दिखाई देती है।

परिशिष्ट में मोहन राकेश द्वारा सम्पादित पुस्तक 'आईने के सामने' की 'भूमिका' दी गई है, जो सम्पादक राकेश के उद्‌भावनापूर्ण मौलिक सोच और सर्जनात्मक व्यक्तित्व से हमारा साक्षात्कार कराती है।

स्पष्टतः इस खंड की सामग्री में कुछ स्थानों पर पुनरावृत्ति है। कुछ तथ्यों की प्रामाणिकता को परस्पर सत्यापित करने के लिए उस सामग्री को ज्यों-का-त्यों रहने दिया गया है। आशा है इस खंड को पढ़ने के बाद पाठक न केवल राकेश के अन्तर्विरोधी लगनेवाले जटिल चरित्र को कुछ बेहतर ढंग से समझ पाएँगे बल्कि उनके साहित्य को भी सही परिदृश्य एवं उचित सन्दर्भ में पढ़ सकेंगे।

—जयदेव तनेजा

अपना आप

आत्मकथा...

मुझे वर्षा बहुत प्रिय है और मैं किसी वर्षा के दिन से ही अपने जीवन की कहानी आरम्भ करना चाहता हूँ। मेरी कल्पना मुझे बहका रही है। मस्तिष्क में एक चित्र बन रहा है–पुराने घर की छत पर वर्षा की बूँदें पड़ रही हैं। वर्षा की बूँदों से जहाँ-तहाँ बुलबुले बन जाते हैं, जो तैरते हुए एक कोने की ओर, जिधर ढलान है, चले जाते हैं। हवा हलके-से दबाव से एक दरवाज़े को खोलकर एक कमरे में प्रवेश करती है और उसके स्पर्श से सिहरकर एक शिशु माँ के वक्ष के साथ सट जाता है, जो कि उसके लिए एक विस्तीर्ण उष्ण सुखद प्रदेश है और जिसकी सीमाएँ अभी उसे ज्ञात नहीं...

यह वास्तविकता भी हो सकती है, परन्तु चेतन रूप से मेरे लिए यह कल्पना ही है। वास्तविकता का मुझे इतना ही स्मरण है कि हमारा वह पुराना घर बहुत अँधेरा था, शायद तंग भी था, क्योंकि मुझे उस घर में दो मंज़िलों का और दो ही कमरों का होना याद है, यद्यपि तब मुझे घर का इतना विस्तार बहुत बड़ा लगा करता था। उस घर की निचली मंज़िल के कमरे में एक अलमारी थी, जिसमें माँ की कई सुन्दर और रहस्यमय चीज़ें रखी रहती थीं, जिन्हें हाथ में लेकर तोड़ने की मेरी उत्कट इच्छा रहती थी। उसी कमरे में एक ऊँची सामान रखने की जगह बनी हुई थी, जहाँ पर पिता का सितार रखा रहता था। मैं प्रायः वह सितार लेने के लिए हठ किया करता था। दादी मुझे बहलाने के लिए कहती थीं–अभी नहीं, जब तू बड़ा होगा, तब तुझे सितार देंगे।

और मैं एड़ियाँ उठाकर यथासम्भव लम्बा होने की चेष्टा करता हुआ यह प्रमाणित करना चाहा करता था कि अब मैं पहले से बड़ा हो गया हूँ, अतः मुझे सितार मिल जाना चाहिए।

हमारे उस घर के आगे भी गली थी और बाईं ओर भी। बाईं ओर की गली हमारे घर के सिरे पर बाल कौर के घर के आगे समाप्त हो जाती थी, जो हमारे घर के साथ सटा हुआ था। बाल कौर के घर के सामने टाइलों का छोटा-सा दालान था। बिजली जली रहती थी, हम प्रायः रात को उस दालान में खेला करते थे। परन्तु हम

वहाँ उन्हीं दिनों खेल पाते थे, जब दादी की बाल कौर के साथ मित्रता रहती थी। जब उन दोनों की लड़ाई हो जाती थी, तो हमारा वहाँ खेलना बन्द हो जाता था—और उनकी लड़ाई अकसर ही हो जाया करती थी। एक बार लड़ाई हो जाने पर कई-कई सप्ताह तक उनका वैमनस्य बना रहता था, और अन्त में किसी त्योहार या उत्सव के दिन दोनों में से कोई एक दूसरी को कुछ मिठाई या फल भिजवा देती थीं, जिससे पुनः उनके मित्रता-काल का आरम्भ हो जाता था। इस मित्रता-काल के आरम्भ होते ही हम लोग बाल कौर के दालान में खेलने पहुँच जाते थे। लड़कियाँ 'किक्कली' का, या ठीकरियाँ और छोटे-छोटे पत्थरों को उछालकर उलटे हाथ पर लेने और फिर उलटे हाथ के उछाल पर सीधे हाथ में दबोचने का खेल खेलने लगती थीं, या आपस में बाँहें उलझाकर गाने लगती थीं : 'विमला को लेने आते हैं आते हैं ठंडी मौसम में।'

मैं तब तक ठीक तरह से चलना नहीं सीख पाया था, यद्यपि बोलना सीख गया था। मैं अस्थिर ढंग से खड़ा होकर दालान में एक पैर से प्रहार करता हुआ बोला करता था—कबड्डी, कबड्डी, कबड्डी...

अपनी वह छोटी-सी गली मेरे लिए संसार का अभ्यन्तर भाग था, और गली के बाहर का बाज़ार, जहाँ मेरे ताऊजी की पंसारी की दुकान थी, संसार का बाह्य भाग, जहाँ जाना ख़तरे से ख़ाली नहीं था। जब मैं एक-डेढ़ वर्ष का था, तो एक दिन मेरी बहन, जो मुझसे डेढ़ साल बड़ी थी, मुझे उठाकर ताऊजी की दुकान की ओर ले चली। गली से निकलकर बाज़ार में आते ही उसने दाईं ओर से एक गौओं के झुंड को आते देखा। झुंड बहुत पास आ गया था, अतः सम्भवतः डरकर उसने मुझे वहीं फेंक दिया और स्वयं भाग गई। गौएँ एक-एक करके मेरे ऊपर से गुजरने लगीं। मैं उस समय बहुत सहम गया था, पर पूरी तरह चेतन था। गौओं के हिलते हुए स्तनों को नीचे से हाथ बढ़ाकर पकड़ लेने को मेरा मन होता था, परन्तु बड़े-बड़े वक्र स्तम्भों की पंक्तियों की तरह चलकर जाती हुई अनन्त टाँगें मुझे निश्चल बनाए हुए थीं। गौएँ मेरे ऊपर से गुज़रती गईं—किसी का पैर मेरे शरीर पर नहीं पड़ा। बहन मुझे वहाँ छोड़कर गली के अन्दर माँ को बताने चली गई थी कि मैं गौओं के नीचे आ गया हूँ। कुछ देरे बार जब मुझे वहाँ से उठाया गया, तो गौओं की टाँगों से मुक्त होकर और माँ के वक्ष के आश्रय का विश्वास पाकर मैंने रोना आरम्भ कर दिया।

गली, वह छोटी-सी सुरक्षित दुनिया, भी प्रकटतः उतनी सुरक्षित नहीं थी, क्योंकि गली की अधिकांश बूढ़ी स्त्रियों के विषय में दादी हमें जो कुछ बतलाया करती थीं, उससे हमारी यही धारणा बनी हुई थी कि वे सब जादू करनेवाली मानवेतर जाति की स्त्रियाँ हैं, जो छोटे-छोटे बच्चों को पकड़कर अपने घरों की कोठरियों में बन्द कर लेती हैं। उन स्त्रियों में एक को सब लोग बुआ कहकर पुकारते थे। उसका घर गली के सिरे पर था। उसका लड़का उस इलाके का सबसे बड़ा पहलवान और शरीफ घरों

की बहू-बेटियों के लिए खतरा समझा जाता था। उसका नाम कुछ और था, पर लोग उसे 'ढग्गा' कहकर पुकारते थे। पंजाबी में 'ढग्गा' शब्द का अर्थ है—'साँड़'। ढग्गा जब गली में आता था, तो थड़ों पर बैठी हुई युवतियाँ जल्दी-जल्दी घरों के अन्दर चली जाती थीं। ढग्गे से लोगों की आशंका उसके स्वास्थ्य के कारण ही थी, या किन्हीं विशेष घटनाओं के कारण, यह मैं नहीं कह सकता। इतना आभास मुझे है कि गली में लोग उसके असाधारण स्वास्थ्य के कारण ही उससे जलते थे और उसी वजह से उसके विषय में टीका-टिप्पणी न करके चुप रहते थे। बाहर बाज़ार में बाईं ओर थोड़ा आगे जाकर चौक़ में उसकी पान की दुकान थी, जो उस इलाके के हिन्दू बदमाशों का अड्डा समझी जाती थी। और चीज़ों की तरह बदमाशी का भी साम्प्रदायिक विभाजन था और इस दिशा में भी दूसरे सम्प्रदाय को मात करने के ठोस प्रयत्न किए जाते थे।

बुआ के अतिरिक्त एक और स्त्री गुरदेई थी, और और भी कितनी ही स्त्रियाँ थीं, जिन्हें मैं तब जादू—करनेवाली समझकर उनसे डरा करता था। एक तरह से अपनी माँ और दादी को छोड़कर शेष सभी स्त्रियाँ, जिनमें हमारी ताई भी सम्मिलित थीं, मेरे लिए भय का विषय थीं। अब मुझे लगता है कि गली के कुछ दूसरे बच्चे, जो मेरी दादी से दूर-दूर रहा करते थे, शायद यह विश्वास रखते थे कि वह भी जादू करनेवाली है और बच्चों को पकड़कर अँधेरी कोठरी में डाल देती है!

जीवन में जो पहली शिक्षा मुझे प्राप्त हुई, वह यही थी कि घर के बाहर (और इस अर्थ में ताई का कमरा भी घर के बाहर ही था) कोई भी व्यक्ति स्नेह और विश्वास का पात्र नहीं; और घरों के बच्चों में बुरी आदतें होती हैं; भिखमंगे बच्चों को थैलियों में बन्द करके ले जाते हैं; कोई यदि चीज़ दे, तो नहीं लेनी चाहिए, क्योंकि उसमें कुछ मिला रहता है, जो बीमार बना देता है; अच्छी चीज़ गली में जाकर नहीं खानी चाहिए, क्योंकि नज़र लग जाती है; और लोगों की छाया से बचना चाहिए, क्योंकि न जाने किसकी छाया बुरी हो और किसी रोग को जन्म दे दे। उस जीवन की कल्पना कुछ ऐसी थी, जैसे चारों ओर बुने हुए मकड़ी के जाले के अन्दर थोड़ी-सी ही जगह ख़ाली थी, जहाँ हम रह रहे थे; ज़रा भी हिलने-डुलने में उस जाले में फँस जाने की सम्भावना थी, अतः सुरक्षा इसी में थी कि अपने कोने में यथासम्भव निश्चेष्ट रहा जाए। आमोद ख़तरे का विषय था। साहस ख़तरे का विषय था। जीवन का कोई भी प्रयत्न ख़तरे का विषय था। डिबिया में बन्द कीड़े की तरह जीना ही जीने का एक रास्ता था।

मेरे बाबा वल्लभ सम्प्रदाय के वैष्णव थे। मेरे जन्म के पहले ही उनकी मृत्यु हो चुकी थी। उन्होंने दो विवाह किए थे। ताऊजी उनकी पहली पत्नी से थे। शायद इसी कारण दादी का ताऊजी के परिवार से स्नेह नहीं था, और क्योंकि अब ताऊजी ही

दुकान पर बैठते थे, अतः उनके प्रति दादी के हृदय में प्रतिद्वन्द्विता का भाव भी था। वह अपने को दुकान की असली मालकिन समझती थीं और उन्हें सदा यह शिकायत रहती थी कि ताऊजी दुकान की बिक्री का उन्हें ठीक हिसाब नहीं देते। इस बात पर प्रायः ताई के साथ उनकी चखचख हो जाया करती थी। वास्तविकता यह थी कि बाबा के जीवन के अन्तिम दिनों में बाज़ार में मन्दी आ जाने के कारण दुकान पर काफ़ी ऋण हो गया था, जिसे चुकाने के लिए मकान गिरवी रख दिया गया था। दुकान की आय का कुछ भाग ऋण चुकाने में भी चला जाता था। परन्तु दादी घोषणा करके कहा करती थीं कि ताऊजी दुकान की आय गुप्त रूप से अपनी पत्नी को लाकर दे देते हैं, और ताई उत्तर में वैसे ही सुनाया करती थीं कि उनके पति दादी के परिवार का पालन करने के लिए अपने परिवार को भूखा रख रहे हैं, और कि वे मूर्ख हैं, जो ऐसा करते हैं, क्योंकि दादी का अपना लड़का कमाने लायक है, जिसे अपनी माँ और परिवार का बोझ अब स्वयं सँभालना चाहिए।

बाबा की मृत्यु के समय मेरे पिता एल.एल.बी. में पढ़ रहे थे। इसमें सन्देह नहीं कि उनके इतना पढ़ लेने का श्रेय दादी की महत्त्वाकांक्षा को ही था। बाबा की मृत्यु के अनन्तर उस विकट परिस्थिति में भी उनका अध्ययन जारी रहा, इसका श्रेय भी दादी के हठी स्वभाव को था। वह प्रतिदिन अमृतसर से लाहौर पढ़ने जाते थे। उनके पास एक ही सफ़ेद कोट था, जिसे माँ इतवार के दिन धो दिया करती थीं। वह सबेरे सात बजे घर से खाकर जाते थे और फिर बारह घंटे बाद घर आकर खाते थे। इसका कारण घर की आर्थिक स्थिति ही नहीं, उनका धार्मिक नियम भी था। उन्होंने सोलह वर्ष की आयु में ही 'ब्रह्म सम्बन्ध' ले लिया था। वल्लभ सम्प्रदाय में 'ब्रह्म सम्बन्ध' ले लेनेवाला व्यक्ति भगवदर्पित समझा जाता है और वह घर के या किसी ब्राह्मण के चौके के अतिरिक्त और कहीं का बना भोजन नहीं करता। पानी भी वह कुएँ में से शुद्ध पात्र में अपने या ब्राह्मण के हाथ का खींचा हुआ ही पीता है। इस तरह पिताजी के लिए वह संयम आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी था। गरमी में भी बारह घंटे बिना पानी पिये रहना एक तरह से तपस्या ही थी। इसका उस आयु में ही उनके स्वास्थ्य पर प्रभाव दिखाई देने लगा था।

चींटियों की पंक्तियाँ : ज़मीन से काग़ज़ों तक

एक रात। उसके आर-पार दो दुनियाएँ हैं। दोनों दुनियाएँ मेरी हैं—मेरी अपनी, निजी। और उनके बीच की वह रात—वह भी मेरी अपनी है। इतनी कि आज तक भी वह बीती नहीं।

उस रात, सारी रात, नींद नहीं आई थी। पहले अँधेरे ज़ीने में दीवार से सिर टिकाए बैठा रहा था। फिर बैठक में तख़्त पर औंधा पड़ा रहा था। फिर खिड़की की सलाख़ों से सटकर स्याह आकाश की यात्रा करता रहा था। आकाश की, और आनेवाले कल की अनजान गहराइयों की।

कुछ ही देर पहले पिता की मृत्यु हुई थी। शरीर नीचे पड़ा था। सुबह तक पड़ा रहना था। शायद सुबह के बाद भी। अँधेरे को चीरती हुई एक आवाज़ ने इसकी चेतावनी दी थी। रोने की आवाज़ों को एकाएक चुप कर दिया था।

आवाज़ मालिक-मकान के बड़े लड़के की थी। बाज़ार में खड़े होकर छाती ठोंकते हुए उसने कहा था, "मैं मुरदा नहीं उठने दूँगा! जब तक किराया अदा नहीं किया जाता, मैं किसी को मुरदे को हाथ नहीं लगाने दूँगा!" मकान का कुछ महीनों का किराया कई साल से बाक़ी था। इधर बीमारी में छह-सात महीने का किराया उसमें और जुड़ गया था।

वह चला गया, तो अँधेरे में बहुत देर ख़ामोशी छाई रही। किसी को किसी से कुछ कहने की हिम्मत नहीं हुई। रोने की भी नहीं। जितने लोग जमा थे, वे एक-एक करके खिसक गए।

पर सुबह वे लौट आए। शवयात्रा में कोई बाधा नहीं पड़ी। माँ के हाथों की चूड़ियाँ तब तक बेच दी गई थीं। किराया अदा कर दिया गया था।

मगर उस रात, खिड़की की सलाख़ों के पास से, आकाश की गहराइयों में न जाने कितना कुछ देख लिया था, वह सब जो बीत चुका था, और वह भी जो बीत रहा था और जिसे अभी बीतना था। बीते हुए कल के कितने ही साये आनेवाले कल के मोड़ पर आ जमा हुए थे। और आनेवाला वह कल बिजली के तारों तथा पेड़ों की टहनियों से परे कभी जुगनू की तरह चमक जाता था, कभी सितारे की तरह झिलमिला उठता था। कभी वह घुप अँधेरे में खो जाता था, और रह जाता था गुज़रे हुए कल के सायों का हुजूम जो धीरे-धीरे बड़ा होता जाता था।

रात सर्दी की थी। सलाख़ें बहुत ठंडी थीं। फिर भी ठिठुरे हाथों ने मज़बूती से उन्हें थाम रखा था।

जंडीवाली गली के घर* की छत। उस घर की, जिसमें मैं पैदा हुआ था।

छत से पीछे के एक घर का आँगन नज़र आता है। कुछ लोग टोकरियाँ या जाने क्या सिर पर उठाए वहाँ नाचा करते हैं। पुरुष भी, स्त्रियाँ भी। दादी माँ मुझे उधर झाँककर नहीं देखने देतीं। कहती हैं—वह घर कंजरों का है। मुझे कंजर अच्छे लगते हैं। मैं ख़ुद उनकी तरह नाचना चाहता हूँ। मगर दादी माँ घूर कर देखती हैं, तो कंजर बनने और नाचने का सारा उत्साह गायब हो जाता है। मैं दादी माँ के घुटनों में दुबक जाता हूँ।

दादी माँ की घर की धुली मैली धोती से ख़ास तरह की गन्ध आती है—पसीने की, मसाले की, फूलों की, ठाकुरजी के भोग की। उस गन्ध की शरण में किसी का डर नहीं। न चमगादड़ का, न भूत का, न डायन का। दादी माँ से भूत-प्रेत भी ख़ौफ़ खाते हैं। उनकी गालियों के आगे किसी का वश नहीं। हमारे घर को छोड़कर मुहल्ले के सभी घरों में भूत-प्रेत, कंजर, छिपकलियाँ, जादूगरनियाँ, चमगादड़ और सिद्ध पुरुष रहते हैं। दादी माँ की सहेलियाँ, सब-की-सब टोना करती हैं। अकसर किसी-न-किसी को बीमार कर जाती हैं, मेरे कान में दर्द होता है, या आँख दुखनी आ जाती हैं, तो उसकी वजह यही होती है कि रंडी गुराँदेई या ख़समख़ानी ढग्गे की माँ दरवाज़े पर मिर्चें डाल गई थी। रात को गली में कुत्ता रोने लगता है, तो घर की खिड़कियाँ-दरवाज़े बन्द कर लिए जाते हैं। दादी माँ कहती हैं कि सुहाग-सड़ी फूलकौर प्रेत जगा रही है। फूल कौर और बाल कौर दादी माँ की सबसे अच्छी सहेलियाँ हैं। पर उनमें से जिस किसी के साथ उनकी लड़ाई हो जाए, वही रात को प्रेत जगाने लगती है। उनकी घर की खाने की चीज़ों में, यहाँ तक कि फलों में भी, ज़हर मिला रहता है। ठाकुरजी का प्रसाद भी वे किसी-न-किसी रोग के कीटाणु मिलाकर ही देती हैं।

गली में खेलना मना है; सिद्ध पुरुष भानेशाह और कोढ़ी कलजुग प्रसाद की नज़र के मारे। उनकी नज़र के कीटाणु रोग के कीटाणुओं से ज़्यादा ख़तरनाक हैं। घर में बन्द रहते भी, खिड़कियों-रोशनदानों के रास्ते आकर दबोच लेते हैं। घर के अन्दर ताई की बदनज़र के कीटाणुओं से खतरा है। उनसे सोखा पड़ सकता है। यूँ, माँ के बारे में भी दादी माँ की राय अच्छी नहीं है। पिताजी को तो वह नज़र से बचाकर रखना चाहती हैं।

घर में सीलन रहती है। नालियों से बदबू उठती है। सीढ़ियाँ अँधेरी हैं। ड्योढ़ी से दाख़िल होते ही पीछे एक कमरा है, दीवानख़ाना। उसमें माँ रहती हैं।

पहली मंज़िल पर आगे तीनदरी है। खिड़कियों में किवाड़ों की जगह बस्ते लगे हैं। पीछे अँधेरा कमरा है, जिसमें बड़े-बड़े सन्दूक रखे हैं। इसमें दादी माँ रहती हैं।

---

* मोहन राकेश का जन्म 8 जनवरी, 1925 को इसी गली वाले घर में हुआ, जहाँ वह 1927 तक रहे।

दूसरी मंज़िल पर आगे रसोईघर है। पीछे बरतन रखने और खाना खाने का कमरा। वहाँ से घी, अनाज और तरकारियों की गन्ध आती है। कभी-कभी वहाँ पूजा होती है। धूप, अगरु, चन्दन और कपूर की गन्ध आती है। वहाँ हम खेलते हैं।

ऊपर की मंज़िल पर आगे खुली छत और रौंस है। पीछे दो कमरे हैं। एक कमरे में तायाजी का ठाकुरद्वारा है। वहाँ आरती होती है। फूल और गोरोचन बिखरे रहते हैं। बड़ी-बड़ी नालोंवाले कमल ठाकुरजी पर झुके रहते हैं। साथ के कमरे में ख़ुली हवा चलती है। उसमें ताई रहती हैं।

घर में अकसर लड़ाई होती है। सीढ़ियों की अँधेरी हवा में ताई और दादी माँ की आवाज़ें नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे यात्रा करती हैं। लड़ाई होती है, तो हमें ऊपर जाने की मनाही हो जाती है।

घर में दम घुटता है। अकसर गली में भाग जाता हूँ। पकड़कर लाया जाता हूँ, फिर भाग जाता हूँ। कभी देवीद्वारे के आँगन में पाया जाता हूँ, कभी गली के बाहर गौओं के झुंड के नीचे से पकड़ा जाता हूँ। जब घर में बन्द रखा जाता हूँ, तो रो-रोकर बीमार हो जाता हूँ। घर और गली से हटकर मेरी एक अलग दुनिया है। कभी चींटियों की पंक्तियों के साथ दीवार के सूराखों की यात्रा करता हूँ। कभी धूप में उड़ते जर्रों को आपस में लड़ाया करता हूँ। दीवारों के टूटते पलस्तर से लेकर हौज से बहते पानी तक में तरह-तरह के चेहरे खोजता हूँ। पलस्तर के चेहरों को बदलने के लिए आँख का कोण बदलता हूँ, पानी के चेहरों को हाथ से बदल देता हूँ। बहाव मेरे बनाए चेहरों को बिगाड़ने लगता है, तो उनमें नए रूप भर देता हूँ। देर-देर तक अपने बनाए चेहरों को देखता रहता हूँ। तभी कोई हाथ पीछे से दबोच लेता है। पानी से खेलने के लिए डाँट पड़ती है। कहा जाता है–"यह लड़का जिस तरह एक-एक चीज़ को घूरता है उससे लगता है बड़ा होकर डाकू बनेगा!" डाकू और चाक़ू में मुझे कुछ ऐसी समानता नज़र आती है कि रसोई से सब्जी काटने का चाक़ू लेकर सबको डराना चाहता हूँ–"डाकू! डाकू! डाकू!" श्याम चाचा एक चूहे को पूँछ से पकड़े सामने आ जाते हैं तो चाक़ू फेंककर भाग खड़ा होता हूँ।

अब वह घर नहीं, दूसरा घर है।* ताया-ताई और उनके बच्चों को छोड़कर बाक़ी लोग इस घर में आ गए हैं। यह दुनिया गली की दुनिया की तरह रहस्यमय नहीं है, पर बहुत अकेली है। एक तरफ़ देसी साबुन का कारख़ाना है, दूसरी तरफ़ पाँधा है। सामने हलदी का कोठा है। पड़ोसी हैं–साबुन के कारीगर, हलदी ढोनेवाले मजदूर और पाँधे में पढ़नेवाले लड़के।

घर बाज़ार में है। बाज़ार के लड़कों से खेलना मना है।

मैं किताबों से खेलता हूँ। पिताजी की बैठक में बेशुमार किताबें आलमारियों में भरी हैं। मैं उनके साथ आँख-मिचौनी खेलता हूँ। उन्हें आड़ी-तिरछी रखकर क़िले बनाता हूँ। कोई भारी किताब गिरकर पैर तोड़ देती है, तो उससे नाराज़ होकर उसे

---

* यह घर गण्डावाला बाज़ार, अमृतसर में था, यहाँ राकेश 1927 से 1941 तक रहे।

अलमारी में पीछे की तरफ़ पटक देता हूँ। जिस किताब से ज़्यादा दुश्मनी हो, उसे पुराने सामान की बुखारी में बन्द कर देता हूँ। मौक़ा मिलने पर बुखारी में झाँककर उसे दाँत झँकाता हूँ—''यई, यई, यई!'' अदावत ज़्यादा हो तो डंडे से पीट भी देता हूँ। पन्ने फाड़ देता हूँ। उसके बाद फिर वही ''यई, यई, यई,!''

दुश्मनी किताबों से आगे बढ़ने लगती है। पहले दो दुश्मन हैं—पंडित लोकनाथ और सरदार निहालसिंह। ये दोनों हमारे घर क़र्ज़ वसूल करने आते हैं।

पंडित लोकनाथ लाठी टेकता हुआ जीने से ऊपर आता है तो मैं अन्दर के कमरे में जा छिपता हूँ। माँ ढूँढ़कर निकालती हैं। मुझे जाकर कहना होता है कि पिताजी घर में नहीं हैं। पंडित लोकनाथ यह सुनकर वापस नहीं जाता, बैठक में बैठकर इन्तज़ार करता है। आख़िर बड़बड़ाता हुआ जाता है। जाते हुए कहता है, ''बाबू आएँ तो कह देना, लोकनाथ आया था। कल फिर आएगा।'' उसके जीने में पहुँचते ही मैं उसकी पीठ से बदला ले लेता हूँ—'यई, यई, यई!'

निहालसिंह का क़र्ज़ बड़ा है। उससे दुश्मनी भी बड़ी है।

घर में कोई भी अच्छी चीज़ आए, तो लोगों के सामने खाने-पहनने की मनाही है—निहालसिंह की वजह से। निहालसिंह ने देख लिया, तो? निहालसिंह ने सुन लिया, तो? अच्छे कपड़े ट्रंकों में बन्द रहते हैं। हारमोनियम, सितार, वॉयलिन निहालसिंह की आहट पाते ही चारपाइयों के नीचे छिपा दिए जाते हैं। खुलकर जीने की हर कामना उस दिन की कील पर टँगी रहती है, जिस दिन निहालसिंह का क़र्ज़ उतरेगा।

पिताजी नया ग्रामोफ़ोन लाए हैं। लोगों से कहना होता है कि हमारा अपना नहीं है। रात को वक़्त हो, तो खाने के बाद लेटकर पिताजी शास्त्रीय संगीत के रेकॉर्ड सुनते हैं। अचानक ड्योढ़ी से आकर मैं दबी ज़बान में कहता हूँ—''निहालसिंह!'' वह अचकचाकर उठ बैठते हैं। माँ ग्रामोफ़ोन के साउंड-बॉक्स में तौलिया ठूँस देती हैं। निहालसिंह आवाज़ देता हुआ अन्दर चला आता है, तो चलते ग्रामोफ़ोन को लिहाफ़ ओढ़ा दिया जाता है।

पर निहालसिंह वापस ड्योढ़ी में नहीं पहुँचता कि दीवार के पलस्तर में उसकी आकृति को अपना निशाना बना लेता हूँ—यई, यई, यई!'

लेनदार बहुत हैं। पंडित लोकनाथ और निहालसिंह नहीं आते, तो लॉ बुक कम्पनी का एजेंट चला आता है। आता है पैसे माँगने, पर जाते हुए कुछ मोटी-मोटी किताबें और छोड़ जाता है। वह न आए, तो कोई बजाज़ या सुनार दादी माँ को पुकारता हुआ चला आता है। पिताजी दादी माँ के लेनदारों से चिढ़ते हैं, दादी माँ पिताजी के लेनदारों से। अपने-अपने लेनदारों की दोनों इज़्ज़त करते हैं।

मुझे उलझन होती है। तरस भी आता है। चाहता हूँ कि कुछ ऐसा किया जाए जिससे सब-के-सब क़र्ज़ एक साथ उतर जाएँ। मेरी लड़ाइयों के बावजूद पिताजी की अलमारियों में किताबों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है। सोचता हूँ कि

किताबों के ख़रीदार नहीं आते, इसलिए क़र्ज़ नहीं उतर पाते। और कि किताबों को बाज़ार में फैलाकर रखा जाए, तो जल्दी बिक्री हो सकती है। इस काम में पिताजी की सहायता करने के लिए उनकी ग़ैरहाज़िरी में एक दिन अलमारियों से कई मोटी-मोटी किताबें निकाल लेता हूँ। किसी तरह बाँहों में सँभालकर बेचने के इरादे से नीचे ले चलता हूँ। मेरे नेक इरादे का पता घरवालों को तब चलता है जब किताबों समेत ज़ीने से लुढ़कता हुआ सिर के बल नीचे जा पहुँचता हूँ।

घर के लोगों से बहुत-बहुत शिकायतें हैं। बहुत-सी चीज़ें, जो मेरे पास होनी चाहिए, उन्होंने अपने क़ब्ज़े में कर रखी हैं।

कुछ चीज़ें माँ की अलमारी में हैं। बंसलोचन के रंग की माला और पीला हरिण। वह न ख़ुद उनसे खेलती हैं, न मुझे खेलने देती हैं। माला के मनके मेरे हाथों में आकर अलग-अलग होने के लिए कुनमुनाया करते हैं। हरिण बेचारा अपनी जगह से हिल तक नहीं पाता और सिर झुकाए मायूस नज़र से मेरी तरफ़ देखता रहता है। मेरी आँख जब भी उससे मिलती है, मेरे हाथों में चुनचुनाहट होने लगती है।

सितार और वॉयलिन, शिकार किए मगरमच्छ और लूमड़ की तरह, दीवार पर लटके रहते हैं। उनके कान उमेठकर उनमें-से आवाज़ें पैदा करने का हक़ पिताजी का है। मेरा हक़ इतना भी नहीं कि कुरसी पर खड़ा होकर उनकी कसी आँतों को थोड़ा ढीला कर दूँ या उनके खुले जबड़ों में से एकाध दाँत बाहर निकाल लूँ। ऐसा करने पर मेरे कान उमेठकर मेरे अन्दर से आवाज़ें पैदा की जाती हैं। धमकी दी जाती है कि मुझे भी सितार और वॉयलिन के साथ उसी दीवार पर टाँग दिया जाएगा।

आले के सिंहासन की मूर्तियाँ दादी माँ की हैं। उन्हें नहलाने और कपड़े पहनाने का काम वही कर सकती हैं। मेरी इतनी बात भी नहीं मानी जाती कि उन्हें सर्दी में ठंडे पानी से न नहलाया जाए। मुँह-हाथ धोकर छोड़ दिया जाए। कपड़े ऊनी पहनाए जाएँ। मूर्तियों के दिल की बात मैं दादी से ज़्यादा जानता हूँ। पर दादी माँ हैं कि अपने को ही मूर्ति-मनोविज्ञान की पंडित समझती हैं।

कई तरह की ख़ूबसूरत डिबियाँ और नाजुक शीशियाँ पाशी बुआ के बक्से में रहती हैं। वह न ख़ुद उन्हें नीलाम करती हैं, न मुझे करने देती हैं। इस पर मैं उसे चुड़ैल कह दूँ, तो घर-भर में तूफ़ान उठ खड़ा होता है। यूँ ख़ुद ही सब कहते हैं कि चुड़ैलें बहुत ख़ूबसूरत होती हैं, और पाशी बुआ किसी चुड़ैल से कम ख़ूबसूरत नहीं।

कैमरा, बाइनॅक्युलर्ज़ और फ़ौलाद की खुलने-बन्द होनेवाली छड़ी, यह सामान श्याम चाचा की मिल्क़ियत है। पर उनसे मुझे शिकायत नहीं। कैमरे से वह मेरी तसवीरें उतारते हैं। बाइनॅक्युलर्ज़ से आसपास के घरों की छतें दिखाते हैं। फ़ौलाद की छड़ी लेकर कुत्तों का पीछा करने देते हैं। घर में एक वही हैं जिनसे मेरी पटती है। बड़े होकर भी वह बड़ों-जैसी नाजायज हरकतें नहीं करते।

"भा जी, मौत क्या होती है?" बरसात है। मैं श्याम चाचा के पास उनके खटोले में लेटा हूँ। जब पानी पड़ रहा हो, तो अकसर वह खुले में चारपाई पर चारपाई रखकर और ऊपर मोमजामा डालकर खटोला-सा बना लेते हैं। अन्दर लेटकर किताब पढ़ते रहते हैं।

मैं अभी-अभी सुनकर आया हूँ कि मामा देवीदयाल की मौत हो गई है। श्याम चाचा बाँह आँखों पर रखे खटोले में लेटे हैं। पढ़ नहीं रहे हैं। एक हाथ मेरे भीगे शरीर को धीरे-धीरे सहला रहा है। पहली बार उत्तर नहीं मिलता, तो मैं दूसरी बार पूछ लेता हूँ—"भा जी, मौत क्या होती है?"

श्याम चाचा बाँह आँखों से हटाकर मेरी तरफ़ मुँह कर लेते हैं। बताने लगते हैं कि ज़िन्दगी क्या चीज़ है। बच्चे कहाँ से आते हैं। मैं उन्हें टोककर अपना सवाल फिर दोहरा देता हूँ।

उनका हाथ मेरे कन्धे पर रुक जाता है। वह मुझे अच्छी तरह अपने साथ सटा लेते हैं। अपनी बात जारी रखते हुए बताते हैं कि मौत ज़िन्दगी का आख़िरी पड़ाव है। और मरता हुआ आदमी अपनी जान अपने बच्चों में छोड़ जाता है। मैं सोचकर सिहर जाता हूँ कि क्या एक दिन पिताजी भी अपनी जान मेरे अन्दर छोड़ जाएँगे?

"मौत के बाद क्या होता है?"

"मौत के बाद कुछ नहीं होता। मौत के साथ आदमी ख़त्म हो जाता है, बस।"

आदमी ख़त्म हो जाता है, बस! मैं श्याम चाचा के साथ और सटकर उनकी छाती के बालों को सूँघता हूँ। विश्वास नहीं होता कि आदमी सचमुच ख़त्म हो जाता है। श्याम चाचा कई बार मुझे छेड़ने के लिए मज़ाक़ किया करते हैं। उनकी साँसों से अन्दाज़ा लगाना चाहता हूँ कि कहीं यह भी उनका मज़ाक़ तो नहीं। इन्तज़ार करता हूँ कि शायद अभी मुस्कराकर मेरी तरफ़ देखें। मेरा सिर सहलाकर कहें कि गधे, तू मज़ाक़ भी नहीं समझता? आदमी ख़त्म कैसे हो सकता है! पर उनकी आँखें गम्भीर रहती हैं। होठों की सिकुड़नें ज्यों-की-त्यों बनी रहती हैं।

मोमजामे पर बूँदें टप-टप गिरती हैं। नीचे फ़र्श पर पड़ी बूँदें बुलबुले बनकर तैरती हैं। ऊपर से आती नई बूँदें उन्हें तोड़ जाती हैं। कुछ देर बुलबुले फ़र्श पर फिसलते हैं, फिर एकाएक बिना आवाज़ किए लुप्त हो जाते हैं। फुहार की जालियाँ कभी झीनी, कभी घनी होती हैं। वर्षा से डरकर जाले में छिपा कबूतर डैने फड़फड़ाता है। ज़ीने पर पैरों की आहट सुनाई देती है, पर कोई निकलकर छत पर नहीं आता। मेरा मन सहम जाता है। लगता है कि खटोले से निकालकर अपना पैर ज़मीन पर रखना चाहूँगा, तो ज़मीन छूने में नहीं आएगी। पैर को मैं कितना भी लम्बा कर लूँ, जमीन और-और नीची होती जाएगी।

स्कूल की बेंच पर बैठे, जीना चढ़ते, बंटे खेलते, अचानक मौत का ध्यान हो आता है। सबक़ भूल जाता है। पैर पत्थर हो जाते हैं। हाथ-ठंडे पड़ने लगते हैं।

क्या सचमुच...

अपने चारों तरफ़ देखता हूँ। क्या सचमुच एक दिन...?

मन होता है कि किसी और से भी पूछ लूँ। हो सकता है, श्याम चाचा ने मज़ाक़ में ही कहा हो या उन्हें भी ठीक पता न हो। या किसी ने उन्हें झुठला दिया हो। पर बात सच्ची न निकल आए, इसलिए किसी से पूछता नहीं।

मगर श्याम चाचा ही अपनी बात की सच्चाई भी साबित कर देते हैं। उनका हर्निया का ऑपरेशन हुआ है। ऑपरेशन के बाद सिंक करने लगे थे, इसलिए रातों-रात मेयो अस्पताल लाहौर से उन्हें अमृतसर ले आया गया है।

बन्द दालान है। दस-बीस लोग उनकी चारपाई को घेरे हुए बैठे हैं। मैं डरा-डरा उनके पास जाता हूँ। उनकी आँखों में हमेशा की-सी चमक नहीं है। मेरा हाथ अपने हाथों में लेकर वह होठों से लगा लेते हैं। कहते हैं–"आ मद्दी यार!" मुझे उनका हाथ बहुत ठंडा लगता है। पैरों के नीचे फ़र्श भी बहुत ठंडा लगता है। खुद अपना-आप भी बहुत ठंडा लगता है। वहाँ से आकर तकिया छाती के नीचे रखकर औंधा पड़ा रहता हूँ। थोड़ी देर में ख़बर आती है कि श्याम चाचा...

दिमाग़ में एक बुख़ार-सा चढ़ता जाता है। लगता है कि मैं और श्याम चाचा उसी खटोले में लेटे हैं। मैं अपना पैर लम्बा कर रहा हूँ, पर वह ज़मीन को नहीं छू पाता। आख़िर श्याम चाचा खुद उतरकर मुझे सहारे से उतार लेते हैं। पैरों के नीचे ज़मीन अब भी नहीं है। वह अँगुली पकड़कर मुझे अपने साथ ले चलते हैं। आगे धुन्ध है। डैने फड़फड़ा रहे हैं। ज्यों-ज्यों हम बढ़ते जाते हैं, धुन्ध गहरी होती जाती है। डैनों की फड़फड़ाहट बढ़ती जाती है। श्याम चाचा की गर्दन पर पसीने की बूँदे हैं। धून्ध सुर्ख होने लगती हैं, जैसे कि उसमें आग लग गई हो। फड़फड़ाते हुए डैने ख़ामोश हो जाते हैं। मुझे कुछ दिखाई नहीं देता। गले से आवाज़ भी नहीं निकलती। तभी कोई आकर कन्धे पर हाथ रख देता है। श्याम चाचा की अँगुली हाथ से छूट जाती है। यह हाथ मुझे धुन्ध से बाहर ले आता है–फड़फड़ाते डैनों के बीच। वहाँ आकर देखता हूँ कि यह हाथ–वापस लानेवाला हाथ–भी और किसी का नहीं, श्याम चाचा का ही है।

मुझे अँधेरे से डर लगता है। दिन में सपने देखता हूँ। घर में, स्कूल में, जहाँ कहीं, जिस किसी समय। सिर एक तरफ़ को झुक जाता है। आँखें भारी होने लगती हैं। माथे पर झिल्ली-सी चढ़ जाती है। हाथ की स्लेट या तख़्ती पर आड़ी-तिरछी लकीरें बनने लगती हैं। सामने के व्यक्ति एक से दो-दो होने लगते हैं। सुनाई देती आवाज़ों के नोक-नुक़ते गायब हो जाते हैं। मास्टरजी कुछ समझा रहे होते हैं कि बात के बीच से ही मैं सपने में फिसल जाता हूँ।

संगमरमर के फ़र्श पर बिखरा गोरोचन और आरती की घंटियाँ...गंगा की तेज़ धार और उस पर तैरते नन्हे-नन्हे दीये...घाट पर नहाती हुई युवतियाँ...उजले सुडौल

शरीर और गीली पारदर्शक साड़ियाँ...हवन का धुआँ और मन्त्रोच्चार...खुलते किवाड़ और सजी हुई मूर्तियाँ...अगरबत्ती से निकलते धुएँ की लकीर...उत्सव की भीड़ में टकराती आकृतियाँ...बारिश के पानी से भरा रास्ता और उसमें नंगे नाचते बच्चे... बच्चों को गालियाँ देती बुढ़िया पारो...''पारो गंडे-खानी! पारो गंडे खानी...!'' अच्छी तरह मुझे अपने साथ सटाकर चूमती हुई मुझसे दस साल बड़ी लड़की...कॉपियों के फटे पन्ने...रात की हवा में तैरते गीत...मोमबत्ती का पिघला मोम...काँपते साये...रोटी की खुशबू और ज़ीने के मोड़ पर बनारसी की आहट...चाक़ू से दरवाज़े पर खुदे हुए अक्षर...छत पर फैली धूप और गन्ने के बिखरे हुए छिलके...कटी पतंगों के लिए उठे हुए हाथ...''आ बो काटा! काटा ई बो!''...कच्चे रास्ते...थके हुए पाँव, और नींद से झुकी जाती आँखें...'इन्कलाब ज़िन्दाबाद' के नारे लगाता हुआ हुजूम...भीगे अँधेरे में वॉयलिन के स्वर...काँपते हाथ, सूखते होंठ और शरीर में कामना की पहली दस्तकें...!

बीते कल का यथार्थ आज का सपना बन जाता है, आनेवाले कल का सपना आज का यथार्थ। जीने का कोई भी क्षण अकेला और स्वतन्त्र न रहकर आगे-पीछे के क्षणों में खोया रहता है। जो बीत जाता है, मन उसमें अपनी जड़ें फैलाए रखता है। जो अनागत है, उसकी ओर उसकी डालियाँ हिलती रहती हैं। जीवन का हर दिन पिछले दिन के अन्दर से उगकर आता लगता है—आनेवाले कल को जल्दी से अपने अन्दर से उगा लेने को व्याकुल।

यह व्याकुलता, यह अस्थिरता, स्वभाव बनती जाती है। कोई भी क्षण, आनेवाले क्षण को जल्दी से पा लेने की चाह में, सहज नहीं रह पाता। जहाँ हो, वहाँ से उठो, कहीं और को चल दो। जो कर रहे हो उसे छोड़ो, कुछ और करने लगो। पढ़ने बैठो, तो दो-दो मिनट में पन्ने पलटकर देख लो कि अध्याय कहाँ समाप्त हो रहा है। खाने बैठो, तो चार मिनट में सब-कुछ निगलकर हाथ धो आओ। काँच का गिलास हाथ से छूट जाए तो उसके जमीन को छूने से पहले ही मान लो कि वह टूट गया है।

अस्थिरता से अतिवादी प्रवृत्तियाँ आने लगती हैं। चाय पियो, तो इतनी गरम कि ज़बान जल जाए। पानी पियो, तो इतना ठंडा कि गला दुखने लगे। हँसो, तो इतना कि मन उदास हो जाए। चुप रहो, तो ऐसे कि लोग परेशान हो उठें।

पहाड़ से ढुलकते झरने की तरह उमड़ आना। दूसरे में ज़रा-सी उदासीनता देखते ही घोंघे की तरह सिमट जाना। ज़रा-सी आत्मीयता पाते ही अपना सब कुछ कह देना। उकताहट का आभास मिलते ही कोसों दूर हट जाना। जीना कुछ इस तरह कि लगे हर समय एक ढलान के सिरे पर खड़े हैं। इससे पहले कि मौक़ा आए, खुद ही गिरने के लिए तैयार हो रहना।

अकसर बुख़ार हो आता है। तीन दिन में चेहरा पीला पड़ जाता है। फिर तीन दिन में सुर्ख हो जाता है। स्कूल जाने को मन नहीं करता। रोज़ सोचकर चलता हूँ कि हो सकता है आज स्कूल की बिल्डिंग को आग लग गई हो। पर रोज़ निराशा होती है। कभी दूर से स्कूल के बाहर फायर ब्रिगेड खड़े नज़र नहीं आते। बार-बार बुख़ार हो आने में एक बात अच्छी लगती है, स्कूल जाने से छुट्टी मिल जाती है।

बुख़ार में अकेले पड़े रहना होता है। पिताजी भी अकसर बीमार रहत हैं। माँ को ज़्यादा समय उनकी देखभाल करनी होती है। वकालत से ज़्यादा काम वह साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं का करते हैं। इसलिए बीमार न हों तो भी कमरे में आते ही पलंग पर पड़ जाते हैं। आधी-आधी रात तक माँ सिर या टाँगें दबाती रहती हैं।

मैं अकेला पड़ा हर करवट अपने को व्यस्त रखता हूँ। छत की कड़ियों को बार-बार तोड़ो और जोड़ दो। आँगन में एक पूरी दुनिया बसा दो और समेट लो। रोशनदान के रास्ते बाहर कूद जाओ और दुनिया-भर में घूम लो। हर चेहरे की लकीरों का इतिहास जोड़ो और तोड़-फोड़ दो। कान में पड़ी हर बात के गिर्द एक कहानी बुनो और तहख़ाने में डाल दो।

श्याम चाचा ने व्यायाम से अपना शरीर फ़ौलाद का-सा बना रखा था। कहा करते थे कि अच्छी ज़िन्दगी के लिए अच्छी सेहत बहुत ज़रूरी है। उनकी बात तो समझ में आती थी, पर सेहत बनाने से अच्छा लगता था बाग़ में पेड़ों के नीचे से पत्तियाँ बटोरना, कुएँ में झाँककर पानी की सतह पर तैरते फूलों को देखना, तारों पर बैठे कबूतरों पर कंकड़ फेंकना और कमरा बन्द करके 'गाड़ीवानों का कटरा' और 'चरित्रहीन' पढ़ना।

ज़र्द चेहरे का दुबला-सा लड़का। माँ, हमेशा की माँ से बदली हुई, उसके सामने खड़ी थी। बाल खुले थे। सिर पर कपड़ा नहीं था। घर में बन्द रहने से पैदा हुआ हमेशा का झुका-झुका भाव भी नहीं था। शवदाह के बाद दोनों श्मशान से लौटकर आए थे।

''तू अब से मेरी रखवाली करेगा?''

लड़का सकपका गया। कुछ कह नहीं पाया। माँ का भाव कठोर हो गया। उसने लड़के की कलाई अपने हाथ में ले ली। ''नहीं करेगा?''

लड़के ने एक बार काँपकर सिर हिला दिया, ''करूँगा।''

''भाई-बहन की पालना करेगा?''

लड़का सोचने लगा। बहन उससे डेढ़ साल बड़ी है। उसकी पालना वह किस तरह करेगा?

''नहीं करेगा?''

''करूँगा।''

माँ पल-भर उसी तरह उसकी कलाई पकड़े रही, फिर उसे छाती से लगाकर रोने लगी।

कोई विकल्प नहीं था। सोलह साल की उम्र में ज़िन्दगी ने एक चौखटे में फ़िट कर दिया था। जैसे भी हो, अपने को उस चौखटे के आकार में ढालना था।

आँखें आसपास की ज़िन्दगी के प्रति बहुत सतर्क हो रही थीं। अपने से बाहर घर को और घर से बाहर सामाजिक बन्धनों को प्रश्नात्मक दृष्टि से देखने लगी थीं। बरसात के दिनों में अमृतसर के बाज़ारों में बहुत कीचड़ हो जाता था। गुज़रकर जाते हुए टाँगें ऊपर तक लथपथ हो जाती थीं। अपने आसपास का माहौल भी कुछ वैसा ही लगता था। परिचय-क्षेत्र के बहुत-से लोग हर गुज़रते दिन के साथ पहले से छोटे होते जान पड़ते थे।

पिताजी की मृत्यु के बाद एक शोक-सभा हुई थी। उसमें बहुतों ने भाषण किए थे। मैंने भाषण नहीं सुने। उस सभा में गया नहीं था। कइयों को उसके बाद देखा भी नहीं। वे कभी हमारे यहाँ नहीं आए।

जो लोग आते, उनसे मिलकर लगता जैसे रोज़ किसी-न-किसी चेहरे की एक परत टूटती हो। रोज़ उसके पीछे छिपे किसी रहस्य का उद्घाटन होता हो। चेहरे, चेहरे न हों, उन पर चढ़ी झिल्लियाँ हों, जो एक-एक करके उतरती जाती हों। स्नेह, सहानुभूति, साहस और उत्साह की झिल्लियों के नीचे असली चेहरे बहुत मजबूर, डरपोक और हतोत्साह हों। अपने से बचना चाहते हों और बच न पाने के लिए अपने को कोसते हों। झिल्लियों को नोचते हों कि वे ठीक से काम नहीं देतीं। जब जिस तरह की सलवटें चाहिएँ, उसी तरह की सलवटें नहीं ला पातीं।

अपने में एक मतिभ्रम-सा लगता। मन में बहुत हलचल रहती। सोचता कि क्यों नहीं लोग ऊपर की झिल्लियाँ उतारकर बात करते? क्यों जान-बूझकर अपना ही निषेध करते हैं? कौन-सी विवशता है कि जो इन्हें झूठ बोलने, दिखावा करने और वास्तविकता को छिपाने के लिए मजबूर करती है? जैसे हैं वैसे बनकर जिएँ, और विश्वास के साथ जिएँ, तो इनके हितों को क्या क्षति पहुँचेगी? क्या कभी, किसी भी क्षण ये अपने छल के साक्षी नहीं होते? उसकी प्रताड़ना नहीं सहते?

अस्थिरता, अतिवादिता और आक्रोश! उन्नीस साल की उम्र में मन बहुत विद्रोही हो गया था।

विद्रोही मनःस्थिति की साक्षी थी दिव्या (यह उसका असली नाम नहीं।) अकसर कह देती थी, ''इतनी ऊँची आवाज़ में क्यों बोलते हो? धीरे से बात नहीं की जाती?''

तब एम.ए. में पढ़ने लाहौर चला गया था।* ट्यूशन और स्टाइपेंड से गुज़ारा करता था। घर की देखभाल बहन करती थी। वह ओकाड़ा के एक स्कूल में नौकरी कर रही थी।

---

* यहाँ 1942 से 1945 तक राकेश हॉस्टल में रहे।

दिव्या बहुत कम बात करती थी। बोलकर बात कहना उसे आता ही नहीं था। ज़्यादा बात वह चुपचाप देखती रहकर कह देती थी।

मिलने के लिए वह अमृतसर से लाहौर आया करती थी—शनिवार के दिन क्लासें मिस करके। मैं भी उस दिन क्लासें मिस करता था।

कॉलेज की बोट में मैं उसे राबी के पार ले जाता। वहाँ मूली और शलजम के खेतों में टहलते हुए अपना सिनिसिज़्म झाड़ता रहता। वह बीच में कभी इतना ही कहती, "क्यों?"

मेरे माथे पर बल पड़ जाते। उसका हाथ मैं अपने हाथ में भींचकर कहता, "तुम अभी बहुत छोटी हो। इन बातों को नहीं समझ सकोगी।" वह चेहरा तिरछा करके मेरी तरफ़ देखती। तब मुझे अहसास होता कि सत्रह साल की उम्र में वह इतनी छोटी नहीं है जितनी कि मैं समझता हूँ।

"देखो," मैं कहता, "आर्थिक क्रान्ति के साथ-साथ सारी दुनिया में एक और क्रान्ति का होना अनिवार्य है। यह क्रान्ति होगी मानवीय सम्बन्धों में, हमारी सामाजिक संस्थाओं में। धर्म, नैतिकता और संस्कृति-सम्बन्धी हमारे संस्कार जिस सभ्यता की देन हैं, वह अब खोखली पड़ चुकी है।"

दिव्या चलते-चलते रुककर आश्चर्य के साथ मुझे देखती। फिर इतना ही कहती, "क्यों?"

क्यों? क्यों?

मन में उठनेवाली कितनी ही बातों पर इस शब्द से विराम-चिह्न लग जाता था। सारा-सारा दिन दोस्तों के साथ स्टैंडर्ड या लोरैंग्ज़ के बार में बैठा रहता। ट्यूशन और स्टाइपेंड के पैसे दस तारीख़ तक ख़र्च हो जाते और सिर पर क़र्ज़ चढ़ने लगता। अन्दर हर समय कोई चीज़ सुलगती रहती और लगता कि दिमाग़ की नसें फटने जा रही हैं। कई-कई चीज़ें आपस में टकराती महसूस होतीं—कल के संस्कार आज की अनुभूतियों के साथ, कैशौर्य के सपने घिरे आते यथार्थ के साथ। जिस रूप में तब तक ज़िन्दगी को जाना था, उसे ग़लत मानने की मजबूरी सामने थी। अपने जिए हुए जीवन के प्रति मन में तीव्र वितृष्णा जागती थी। हालत उस कीड़े की-सी थी, जो पहले बन्द डिब्बे में छटपटाता रहा हो और अब खुली धूप में आकर और छटपटा रहा हो।

मन कहीं नहीं लगता था—न क्लास-रूम में, न उसके बाहर, न हॉस्टल के कमरे में, न बैडमिंटन कोर्ट में। न कॉफ़ी हाउस में, न लॉरेन्स बाग़ की क्यारियों में। न सिनेमा हाउस में, न लाइब्रेरी में। एक लावा-सा मन में उठता रहता था जो कहीं, किसी भी समय, अपने को भूलने नहीं देता था। क्लास में भाषा-विज्ञान पर भाषण सुनते हुए या शिलालेखों की अनुलिपि करते हुए, सहसा मन में एक जड़ता घिर आती थी। आँखें धूप में चमकती पत्तियों पर स्थिर हो रहतीं और मन फिर अन्दर के उन्हीं

जमघटों में खो जाता जिनके आतंक से वह बचा रहना चाहता था। प्राध्यापक सहसा कोई सवाल पूछ लेते तो चौंककर वीरान नज़र से मैं उनकी तरफ़ देखने लगता।

जवाब न देने पर पूछा जाता, "तुम बीमार तो नहीं हो?"

"नहीं, सर!"

"फिर तुम्हारे चेहरे से क्यों लगता है जैसे तुम..."

"मैं बिलकुल ठीक हूँ, सर!"

"तुम्हारे साथ दिक़्क़त यह है," एक साहब-मिज़ाज दोस्त कहा करता, "कि तुम्हें गणित नहीं आता। तुम अपने पर पड़ते प्रभावों में सन्तुलन नहीं ला पाते। इस छोर और उस छोर के बीच तुम्हारा मन पेंडुलम की तरह घूमता रहता है। इसीलिए तुम कभी रिलैक्स नहीं कर पाते और हर वक़्त 'टेंस' बने रहते हो। सिर्फ़ दो चीज़ों से तुम्हारा इलाज हो सकता है—एक नर्व टॉनिक, दूसरे स्त्री का शरीर।"

परन्तु अपने वॉर्डन से सुनने को मिलता, "तुम एक चकाचौंध में भटकते जा रहे हो, क्योंकि तुम्हारे लिए वह बिलकुल नई चीज़ है। मैं देख रहा हूँ कि गम्भीर विषयों से तुम्हारा मन हटता जा रहा है। हँसने-हँसाने और पीने-पिलाने में तुम अपने को ख़त्म किए दे रहे हो। मैं जब भी तुम्हारे बारे में सोचता हूँ, मुझे अफ़सोस होता है।"

पेंडुलम के दो छोर! सच्चाई शायद दोनों में थी, या शायद दोनों में ही नहीं थी। न साहब-मिज़ाज दोस्त के नुस्ख़े से इलाज हो सकता था, न वॉर्डन के अफ़सोस से दिशा मिल सकती थी। सच्चाई थी, तो और ही कहीं थी—पेंडुलम के फेर से बाहर। उसकी एकतार गति से दूर। किसी और गति में। ऐसी गति में जिसमें प्रवृत्ति तो होगी, पर साथ ही प्रवृत्ति की मजबूरी नहीं होगी। चलते जाना ही होगा, लौटकर आना नहीं होगा।

"मुझसे पूछो, तो तुम एक अभिशापित व्यक्ति हो," साँवले चेहरे का मेरा एक कवि-मित्र कहता, "तुम्हारे लिए ज़िन्दगी में कोई भी रास्ता नहीं है।"

रास्ता क्यों नहीं है?—मन विद्रोह करता। रास्ता होना चाहिए और ज़रूर होगा। और कई बार अपने से कटकर अपने को देखा करता।

कृष्णनगर के एक हवेलीनुमा घर* में ऊपर की मंज़िल पर दो कमरे। उनमें यह आदमी माँ, बहन और भाई के साथ रहता है।

कभी कमरे में बैठकर यह माँ के साथ लड़ रहा होगा कि वह इसकी पुरानी कमीज़ें काटकर अपने जम्पर क्यों बनाती है? नए जम्पर क्यों नहीं सिलाती? क्या वह उसे इतना निकम्मा समझती है कि घर के लोगों के लिए वह ढंग के कपड़े भी नहीं जुटा सकता?

तभी नीचे से कोई आवाज़ देगा और यह घर से भाग खड़ा होगा। दो घंटे कॉफ़ी हाउस या किसी रेस्तराँ में बैठा रहेगा। बिना ज़रूरत कॉफ़ी पीएगा, बिना मतलब बहस

---

* लाहौर के इस घर में राकेश 1945 से 1947 तक रहे।

करेगा। जिस किसी को विट' के काँटे में फँसाकर मज़ा लेता रहेगा। बार-बार इतने ज़ोर से हँसेगा कि मैनेजर मजबूर होकर बैरे के हाथ चिट भेजेगा—"प्लीज़!" कुछ देर बाद, और कहीं ह्विस्की का गिलास हाथ में लिए वह वैदिक ऋचाओं की व्याख्या कर रहा होगा। 'सेक्रेड डिप्रेशन' की बात कर रहा होगा। दोस्तों से अलग होने में इसे अलग होना बहुत महसूस होगा। जैसे कि इसके अस्तित्व के रेशे उनके अस्तित्व में बिने हों, और अब इसे रेशे काटकर अलग होना पड़ रहा हो।

फिर लॉरेन्स की किसी बेंच पर यह अकेला बैठा रहेगा। किसी भी परिचित-अपरिचित से बात करने को इसका मन नहीं होगा। अकेला बैठकर सोचता रहेगा, घुमड़ता रहेगा। पास से गुज़रते घनिष्ठ परिचित को भी नहीं पहचान पाएगा। समझा जाएगा कि यह बहुत बददिमाग़ है। या सख़्त इन्फ़ीरियॅरिटी कॉम्प्लेक्स का शिकार है।

शाम तक कॉलेज के हॉल में यह नाटक की रिहर्सल में लगा रहेगा। कई-कई पात्रों का अभिनय करेगा। अलग-अलग भूमिकाओं में जिएगा। इसे लगेगा कि इसमें एक नहीं, कई व्यक्ति साथ-साथ रहते हैं। उन सबमें यह अपने वास्तविक रूप को पहचानना चाहेगा।

फिर स्टूडेंट्स यूनियन की मीटिंग में या किसी जुलूस में शामिल होने चला जाएगा। ऊँची आवाज़ में बात करेगा। नारे लगाएगा। ज़रूरत पड़ने पर लड़ने को तैयार हो जाएगा।

रात को बिस्तर में दुबककर दॉस्तोएव्स्की का कोई उपन्यास पढ़ेगा। फिर लिखेगा, फिर फाड़ देगा। लिखते-लिखते दिमाग़ जड़ हो जाएगा, तो काग़ज़-कलम परे फेंककर उनसे मुक्त हो जाएगा। फटे काग़ज़ों के पुलन्दे माँ को जलाने के लिए दे देगा।

सोने से पहले आइने में चेहरा देखेगा। सिर पर बालों को उलझे देखकर इसे दहशत होगी। आँखें बौखलाई देखकर बुख़ार-सा चढ़ने लगेगा।

दो दुर्घटनाएँ लगभग साथ-साथ हुईं—पहले विभाजन, फिर दिव्या की मृत्यु। पहली ने परिवेश से उखाड़कर परे फेंक दिया। दूसरी ने उखड़ने के अहसास को बहुत गहरा बना दिया।

बाईस साल की उम्र में लड़का बुज़ुर्ग हो गया।

पर तब तक रास्ता मिलने लगा था—उन काग़ज़ों में जिनके कई-कई ढेर बाद में भी जलाए और नष्ट किए जाते रहे।

देखो, बच्चू...!

मेरे पिता वकील थे। उनकी बैठक में अकसर बहुत भीड़ रहती थी, क्योंकि वहाँ जितने मुवक्किल आते थे, उनसे कहीं ज़्यादा दूसरे मिलनेवाले लोग आया करते थे। मुझे बैठक में जाते हमेशा डर लगता था क्योंकि कुछ पता नहीं होता था कि वहाँ जाने पर कब प्यार से गाल सहला दिए जाएँगे और कब एकाएक डाँट पड़ जाएगी। यह इस पर निर्भर करता था कि मैं किन लोगों के सामने और पिताजी के किस मूड में बैठक में जाता हूँ। मैं बहुत छोटा था और यह तय नहीं कर पाता था कि कब मुझे बैठक में जाना चाहिए और कब नहीं। मुझे सब लोग एक-से लगते थे—अपने से बहुत बड़े और हमारे लिए बिलकुल अजनबी। इसलिए मैं बैठक में जाने से बचता था और ऊपर छत पर जाकर पतंगों के पेंच देखता रहता था।

मगर जब-तब बैठक से बुलाहट हो जाती थी। जब भी बुलाहट होती, मुझे पता होता कि नीचे कोई ऐसे सज्जन आए हैं, जिन्हें जाकर 'जय श्री कृष्ण' कहना होगा। हमारा घर कट्टर सनातन-धर्मी था और 'नमस्ते' कहना हमारे घर में वर्जित था, क्योंकि नमस्ते आर्यसमाजी अभिवादन समझा जाता था। जब भी बुलाहट होती, मैं छत से नीचे जाता हुआ अपने हाथों को पहले से तैयार कर लेता कि जो भी आया हो, उसे जल्दी से 'जय श्री कृष्ण' कहूँ और वापस छत पर पहुँच जाऊँ।

इसी तरह एक दिन बुलाहट हुई तो बैठक में जाकर देखा कि एक काले कोटवाले सज्जन अपनी फ़ाइल खोले बैठे हैं और उसमें-से कोई चीज़ पढ़कर पिताजी को सुना रहे हैं। मैंने बिना पिताजी का आदेश पाए उन्हें 'जय श्री कृष्ण' कह दी और झट से वापस लौटने को हुआ। परन्तु तभी पिताजी की डाँट सुनाई दी, "सुन!"

मेरे पैर अपनी जगह पर जकड़ गए। पिताजी की हलकी-सी डाँट से भी मेरे पैरों को फ़ौरन ब्रेक लग जाती थी।

"तुझे पता है ये कौन हैं?" पिताजी ने पूछा।

मैंने एक बार काले कोटवाले सज्जन को फिर ग़ौर से देखा और सिर हिला दिया कि मुझे नहीं पता ये कौन हैं।

"ये अश्कजी हैं, उपेन्द्रनाथ अश्क" पिताजी ने कहा।

मेरा मुँह कानों तक लाल हो उठा क्योंकि अश्क शब्द से बेशर्मी की गन्ध आती थी। हमारी दादी कहा करती थी कि इस तरह के शब्द बोलना बेशर्मी की बात होती है और ऐसा ही एक शब्द बोलने पर हमारे चाचा को एक दिन उनसे मार खानी पड़ी थी। मैं सोचने लगा कि कहीं चाचा उस दिन इन्हीं सज्जन का नाम तो नहीं ले रहे थे। मन में डरा भी कि पिताजी की आवाज़ कहीं दादी के कानों में न पड़ गई हो, और ऐसा न हो कि दादी वहीं आकर उनके मुँह पर चपत लगा दें।

मुझे और कुछ नहीं सूझा, तो मैंने उन्हें दूसरी बार 'जय श्री कृष्ण' कर दी। वे सज्जन मेरी तरफ़ देखकर गम्भीर ढंग से मुस्कराए और एक बार अपनी बाईं आँख को ज़रा-सा दबाकर अपनी फ़ाइल में-से आगे पढ़ने लगे, 'जाओ जाओ प्राण, बसाओ एक नया संसार...।''

मैं डरा कि मामला किसी के प्राण जाने का है। सोचा कि मुझे ऊपर ही चलना चाहिए। मगर इससे पहले कि मैं चलने का निश्चय करता, पिताजी ने फिर पूछा, ''तुम्हें पता है यह क्या करते हैं?''

मैंने मासूम ढंग से सिर हिलाया कि मुझे नहीं पता ये क्या करते हैं।

''ये भी मेरी तरह वकील हैं'' पिताजी ने कहा। ''मतलब मेरी तरह इन्होंने भी वकालत का इम्तिहान पास किया है, मगर ये वकालत नहीं करते, कविता लिखते हैं।

मुझे यही नहीं पता था कि वकालत करना क्या होता है, मैं रोज़ देखता था कि लोग हमारे यहाँ आते हैं, पिताजी को कुछ नोट देते हैं और चले जाते हैं—कोई हमारे यहाँ से ले कुछ नहीं जाता। पिताजी की आलमारियों में जो किताबें थीं वे हमेशा ज्यों-की-त्यों रखी रहती थीं—पैसे देनेवाला कभी एक भी किताब ले नहीं जाता था। यह बात मुझे बहुत आश्चर्यजनक लगती थी। हमारे ताऊजी के पंसारी की दूकान थी। वहाँ आकर जो एक पैसा भी देता था, वह बदले में कम-से-कम नमक की पुड़िया ज़रूर ले जाता था। कविता लिखना क्या होता है, यह मेरे लिए और भी टेढ़ा सवाल था। मगर मैंने भी मन-ही-मन अटकल भिड़ाई कि कविता लिखना कोई बहुत बड़ा काम होगा। उन दिनों अकसर यह चर्चा कानों में पड़ती थी कि महात्मा गांधी आजकल अनशन कर रहे हैं और मैं सोचा करता था कि अनशन करना भी कोई बहुत बड़ा काम है। इस नतीजे पर मैं तब तक पहुँच चुका था कि जितने बड़े काम हैं, उनमें न हाथ से कुछ करना होता है और न ही किसी को कुछ देना-दिलाना होता है। जिस श्रेणी में मैंने वकालत और अनशन को रख रखा था, उसी में मैंने अब कविता को भी शामिल कर लिया।

''तू भी बड़ा होकर कविता लिखेगा?'' पिताजी ने पूछा।

मेरी समझ में नहीं आया कि हाँ कहूँ या ना कहूँ। मगर मैंने सोचा कि बड़ा काम है, इसे करने से इनकार नहीं करना चाहिए। इसलिए मैंने कहा, ''लिखूँगा।''

"तो जाकर इनके लिए चाय बनवा ला," उधर से आदेश मिला। मुझे पहले पता होता कि 'लिखूँगा' कहने का यह फल होगा, तो मैं ज़रूर कह देता कि नहीं लिखूँगा। मगर अब क्या था! बात मुँह से निकल चुकी थी! ऊपर मैं लाल और नीली पतंगों का पेंच लगा छोड़ आया था। छत से लड़कों की ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने की आवाज़ें आ रही थीं। जब मैं मन-ही-मन कुढ़ता हुआ अन्दर को चला, तो मैंने दिल में यह तय कर लिया था कि बड़ा होकर और चाहे जो करूँ, कविता कभी नहीं लिखूँगा। पिताजी कहें तो भी नहीं लिखूँगा।

हमारे घर में चाय अपनी ही तरह की बनती थी। सर्दी के दिनों में हमारे लिए डेढ़ पाव दूध में एक घूँट चाय का पानी मिला दिया जाता था जिससे उसकी तासीर गरम हो जाए। मगर चाय खुश्की न करे, इसलिए उसमें ख़ूब मलाई और बादाम की गिरियाँ डाल दी जाती थीं। माँ को जाकर मैंने बताया कि कोई बहुत बड़े मेहमान आए हैं, उनके लिए बहुत बढ़िया चाय बनाकर ले जानी है। यह मैंने इसलिए कहा कि कहीं चाय में कोई कसर न रह जाए जिससे बैठक में जाकर मुझे डाँट सुननी पड़े और फिर दूसरी बार चाय बनवाकर ले जाने का तरद्दुद करना पड़े। माँ ने 'बढ़िया' चाय बनाने के सिलसिले में उसमें और भी मलाई और गिरियाँ डाल दीं। मैं ऊपर तक भरा हुआ आधा सेरवाला बड़ा गिलास लिए इस तरह गुमान के साथ बैठक में दाख़िल हुआ जैसे मैंने कोई बहुत मार्के का काम कर दिया हो। मगर जब मैंने गिलास ले जाकर उन सज्जन के सामने किया, तो वे गिलास पर एक सरसरी नज़र डालकर बोले, "काका, मैंने दूध नहीं चाय लाने को कहा था।" और अपनी फ़ाइल में-से आगे पढ़ने लगे, "विस्मृति में जो दबी हुई थी, धधका दी फिर आग... ।"

मुझे बहुत गुस्सा आया कि मैं इतनी मेहनत से चाय बनवाकर लाया हूँ। और इस बीच जाने ऊपर कितनी पतंगें कट गई हैं, और इन्हें अपनी आग धधकाने की पड़ी है। पर मैंने पिताजी के डर से अपना गुस्सा पी लिया और कहा, "जी, यह चाय है।"

इस पर उन्होंने फ़ाइल बन्द कर दी, एक बार फिर गिलास की तरफ़ देखा और ज़ोर से ठहाका लगाकर हँस दिए। मैं एक क़दम पीछे हट गया। मुझे शक हुआ कि कहीं मैंने ग़लती से उन्हें गुदगुदा तो नहीं दिया। मेरे हाथ से दूध का गिलास थोड़ा छलक गया।

"यह चाय है?" उन्होंने हँसी रुकने पर कहा और फिर उसी तरह ठठाकर हँस दिए। मैं एक क़दम पीछे हट गया। यह जतलाने के लिए कि मैं बिलकुल निरपराध हूँ, मैंने चाय का गिलास पिताजी को दिखला दिया जिससे उन्हें पता चल जाए कि मेरे हाथ रुके हैं और मैंने उन सज्जन के साथ कोई शरारत नहीं की।

पिताजी ने गिलास की मलाई को देखा, तो वे भी ज़ोर से हँस दिए। यह सोचकर कि कोई हँसने की बात है जो मेरी समझ में नहीं आई, मैं भी समझदारों की तरह हँस दिया।

"तू क्यों हँस रहा है?" पिताजी ने कहा, तो मुझे लगा कि शायद वे लोग मेरी ही किसी बात पर हँसे हैं। इससे मुझे रुलाई आने को हो गई।

उन सज्जन को चाय देकर जब तक मैं ऊपर छत पर पहुँचा, तब तक सब की सब पतंगें कट चुकी थीं। मैंने दाँत भींचकर सोचा कि अब पिताजी मुझसे उस व्यक्ति के सामने फिर से पूछें कि क्या मैं बड़ा होकर कविता लिखूँगा, तो मैं पटाक् से उत्तर दूँ, "नहीं लिखूँगा, नहीं लिखूँगा, नहीं लिखूँगा...।"

तब से अब तक ज़िन्दगी का एक लम्बा फ़ासला तय हो चुका है। बीच के इन वर्षों में मैंने उन्हें बहुत पास से और बहुत अच्छी तरह देखा है और देखा है एक निकट स्वजन और मित्र के रूप में। इस बीच कई बार उनके मुँह से उनकी कविताएँ सुनी हैं। इलाहाबाद में, डलहौज़ी में, पहलगाम में, जालन्धर में और दिल्ली में। डलहौज़ी में रहते उनकी रचना-प्रक्रिया को भी जाना है। 'सड़कों पे ढले साये' की दो-एक कविताएँ उन्होंने वहीं लिखी थीं। 'संगतरी चाँद' और 'टेरता पाखी' उन्हीं दिनों की रचनाएँ हैं। उनके साथ मेरे बचपन के परिचय का रूप इस दृष्टि से आज भी नहीं बदला कि उनकी रचनाएँ पढ़ते-सुनते समय मैं उनमें विशुद्ध साहित्यिक दिलचस्पी न लेकर आज भी उन्हें एक वैयक्तिक कोण से ही लेता हूँ। आज सुनते हुए मन में अर्थ का अनर्थ नहीं होता, परन्तु उन कविताओं के भाव और अर्थ के आगे कुछ सोचूँ ही नहीं, ऐसा आज भी नहीं होता। मुझे याद है जिस समय डलहौज़ी में मुझे वे अपनी कविताएँ सुना रहे थे, तो मन में बनते संगतरी चाँद और केलू के वन के खाक़े से थोड़ा हटकर मैं एक और बात सोच रहा था। सोच रहा था कि पचास को पहुँचकर भी अश्क देखने में जितने युवा लगते हैं अपने साहित्यिक व्यक्तित्व में भी वे कैसे वही यौवन बहाल रखे हैं? उस पीढ़ी के और किस साहित्यकार में यह व्याकुलता है कि वह अपनी विशिष्टता के दायरे में सीमित न रहकर हर नई पीढ़ी के साथ उसी पीढ़ी का होकर चलने का प्रयत्न करे? बात कविता की हो या कहानी की, पचास को पहुँची पीढ़ी में अकेले अश्क ही ऐसे हैं जो बाद में आनेवाले लोगों के कृतित्व को उपेक्षा और सहिष्णुता की दृष्टि से न देखकर, एक नई चुनौती के सम्मान के साथ देखते हैं और अपनी मर्यादा के जड़ चबूतरे पर न खड़े रहकर उस चुनौती को स्वीकार करके अपने लिए उस मार्ग की सम्भावनाएँ खोजने में जुट जाते हैं। मुझे पहलगाम की याद है वे नवयुवकों की तरह वहाँ की सड़कों पर क़हक़हे लगाया करते थे और मेरे कन्धे पर हाथ मारकर कहा करते थे, "देखो बच्चू, यह मत समझो कि तुम नए लोग अब तीर मारने लगे हो, तो मैं मैदान छोड़कर हट जाऊँगा। जिस तरह डटकर

तुम लोग लिखोगे, उसी तरह डटकर मैं भी लिखूँगा। मैं ऐसे हारनेवाला नहीं हूँ।" और मैं जानता हूँ कि यह केवल कहने की ही बात नहीं, उन्हें इसमें पूरी आस्था भी है। मुझे विश्वास है कि आज जो लड़के छत पर पतंगों के पेंच देख रहे हैं, जब दस-पन्द्रह साल बाद वे साहित्य में अपनी नई-नई रचनाएँ लेकर आएँगे तो अश्क इसी आस्था के साथ उनके कन्धों से भी अपना कन्धा मिलाए होंगे।

अश्क जैसे तब लगते थे जब मैंने उन्हें बचपन में देखा था, लगभग वैसे ही वे आज भी लगते हैं (अपने सिर के सफ़ेद बालों के बावजूद) और मैं समझता हूँ कि आनेवाले कई साल वे उतने ही युवा और सजीव लगते रहेंगे और हर नई पीढ़ी के लोगों से इसी तरह कन्धे पर हाथ मारकर कहते रहेंगे, "देखो बच्चू, यह मत समझो कि...।"

साक्षात्कार

Mohan Rakesh : Early Life

(Conversation with Rajinder Paul)

[This is the first part of a series of ten or more tape-recorded conversations that Rakesh and I had planned a couple of months ago. He wanted them to be as 'leisurely' as possible, ironical as it now seems. Ambitiously, I had wanted to print these 'conversations' in book form—on such varied and general topics as Love, Friendship, Marriage, Literature, Theatre, Cinema, God, Death etc. I started like this, maybe because I dared not to start on a 'dialogue' topic before getting warmed up. So I chose the easier way of asking him questions about his life when I didn't know him.

Unfortunately, we could tape only one 'conversation'. He has left so many things unfinished. To cap the misfortune, I coupld'nt even locate the spill over of this tape to another tape that I used. In that he talked of his life after he left *Sarika.*]

R. P. : Your writings, especially your plays, show an extraordinary sensitivity to the emotions of people under stress. Would it be right to trace back this sensitivity to your childhood? In plain terms, was your childhood unhappy?

M. R. : So far as my childhood is concerned, I don't think I can call it unhappy. Till the age of sixteen, i.e. so long as my father was alive, we were quite well provided for. He had by the standards of those days a quite comfortable practice though he gave most of his time to other activities. I must say I was quite the introvert type and, in my introversion, may also have been quite sad. In our house, or due to the atmosphere of the house, the people—my grandmother, my mother, my uncle, aunt, my sister (my brother was born much later)—all of us lived in a sort of constant tension. I think the tension

was part of the class to which we belonged. In most of the families that I knew at that time—my other relations, my father's stepbrother, his family, other families that we knew—all of them lived in some state of conflict, and it seemed to me that very small things caused this tension. I mean, probably the reason for this tension could be traced to money. The sort of things my father was expected to do, and he thought he did, to support the family and also some other relations, gave rise to all sorts of misgivings that he had more money than he would let on. That was the way most of the lower middleclass families lived at that time, and still do. As a child I always felt he could not really flower out. You have to hide a few things. You are expected to be a hypocrite in certain things. Even if I possessed something which was nice and with which I could be happy as a child, I was supposed not to reveal it to others, treat it as a secret source of pleasure. It was that secrecy which marred all the pleasures for me. Then, since my father lived to a great extent beyond his means, which was not all because of his own spendthriftness, there was constant financial crisis in the house and of course hysterical situations that one witnessed between the two great ladies of the house, i.e. my grandmother and my mother. All this kept me on edge.

R. P. : You realized you had to live with this kind of tension and developed your own responses to them?

M. R.: I think the consciousness of these things came much later. At that time there was only a day-dream of being able to escape all that one day. A tendency was growing in me in which I wanted the present around me to change into something else. For example, I always dreamt of living in another house and in other surroundings. Even the slightest suggestion of our shifting made my very happy because probably subconsciously I felt that new surroundings would impart some freshness to life, bring about a change in the climate around me. I was all for shifting, changing and it was a constant source of irritation to me that till his last day my father stayed on in the same house. I was born in a house in a small street in Amritsar, but I was hardly two when we moved to another house. That was actually also the office of my father where he practised. I don't think the

capacity to analyse the situation was in me. I was merely introvert, dreaming and feeling sad, wanting to change the situation somehow.

R. P. : Maybe it was your introspection and not necessarily the forces around you which made you realize that something was lacking in the circumstances?

M. R. : I don't quite agree with you because I don't think it was really because of any privations that I felt I wanted a change. Probably the instinct for change was in me. It has been with me all these years. I somehow thought I needed a different type of adjustment from what I had. I have often taken very drastic steps to effect a change so that I could find an adjustment to my surroundings. As a child I could not do that. I could not take decisions and probably that was what made me feel suffocated.

R. P. : Your father unfortunately died when you were still a boy. Did you fend for yourself after that? Or were you helped by anyone?

M. R. : Actually, my conscious life starts after the death of my father, because it was a sudden change in the whole environment. As I said he was always over-spending and he left us not only penniless but under certain debts and there was no other adult male in the house. My younger brother was four and a half years old. So for some time it was my sister who took over. She was a year and a half older than me. She worked in a school and looked after the family till I finished my M.A. But partly I looked after my own affairs, that is I took tuitions to pay for my studies. Then, in the final year of my Master's degree, the family circumstances were such that my sister could not support me any longer and i had also lost the tuition job. I was almost going to pack up and look for a job when my Principal, the late Dr. Laxman Swaroop of Oriental College, Lahore, came to my rescue. During the whole of my final year in M.A. it was he who was paying my expenses.

R. P. : Did your father influence your life in any way?

M. R. : He was a person who took a lot of interest in his children, in their education and everything. When I was 12, he almost started treating me as a friend, but today I know he was all the time talking to a child and trying to make me feel that he

was talking to a friend. But he tried to impart whatever was in him to his children. He took a lot of interest in my sister going to debates and such things. he was also much interested to know that I had composed verses in Sanskrit at the age of about 13.

R. P. : Were other people around you responsible, then, for the tensions you mentioned, and not your father with whom, you say, you had a good understanding?

M. R.: I think I admired my father but for one failing, that he did not leave us a bank balance. I think in all other respects I have no grudge against him and even this one grudge I cannot carry because I have the same temperament myself. I cannot try to collect money. But I do feel sad about the pattern of relationship that I experienced at that time. I think it was quite inhuman, the way people tried to eat off, chew off whatever was good and soft in others. The small economic demands or some small superstitions or small jealousies take such a vital part out of what is good in human relations that I feel I cannot lead the sort of life my father led. I cannot live amongst such people. I am absolutely cut off from the relations of my father's days. They still give me a shudder and I am still a child who is oppressed by the feeling of being tortured by those people and I want to run way from that feeling. That is why my relationship with people, which normally is very intimate in any Indian family, is absolutely blacked out.

R. P. : What would you say about the formative influences in your boyhood?

M. R.: I can tell you of one particular formative influence which has determined my attitude to human relationships. My father, who led a very tense life inside the house because of the oppression of the demands of all the people around him, found real relaxation among a set of his friends who gathered in his 'baithak' (sitting-room) as we called it. Every evening, after his clients had gone, his friends would start arriving one by one and for about two to three hours the house would become a place of warmth. Lively discussions took place on literature. They listened to music. They laughed a lot. And, you know, it seemed that was the only part of life that was liveable. And not only my father, I think I also as a child looked forward to those evenings that I spent among adults.

In a way it was precociousness. I don't think I really liked the company of children. While that precociousness may have hampered me in many other ways, which I may not be able to analyse yet, it gave me a real sense of belonging with human beings which comes from communication with them. The real family of my father was the people with whom he had a personal communication and, I think, that attitude I have not only inherited from him but it has grown deeper in my life.

R. P. : You composed poems at the age of 13. Now could you talk a little about your literary activities after that particular age till your maturity?

M. R. : I must go back to the first efforts at putting words together. That's the only way of describing this. Those small efforts started much earlier. I am conscious of having tried my hand at composing a poem in Hindi at the age of eight or nine. That way a probable part of the precocious growth brought about as it were by the literary patronage of my father. So with my writing poems in Sanskrit. That language was in a way the first language I studied because the first thing my father did after teaching me the alphabet was to give me what is called a 'gariban'—I don't know what the English word is—an oral lesson. 'Devo; Deva; Devan.' This was my first real lesson. I had started learning the language quite early and since I had some sort of germ in me for putting words together for myself, the easiest thing to do was to try my hand at Sanskrit poetry. I sometimes wonder today that the poetry I wrote at that time was not grammatically incorrect. But till my father died I had not really attempted any serious writing. In a way whatever writing I did was also showing off! My sister used to write poems in Hindi and since she was to my mind more of a father's darling than I was I always envied her and I always wanted to beat her in any field that I could. So I was very happy when I secured more marks in my examinations than she. I think the first happiness I drew from writing was when I could draw my father's attention towards myself and proved to him that I could also compose something. Though I think till his death he found more of substance in what my sister wrote than what I did.

I did my Shastri, i.e. Honours examination in Sanskrit,

when I was sixteen, the same year my father died. I took the exam three months after his death and then I did B.A. in English. I went to the Oriental College in Lahore when I was seventeen and got my M.A. when I was Nineteen. It was during that period at Lahore that I for the first time came in contact with young adult minds because in my family I had either come in contact with people who were much older than myself or with my sister whom I always wanted to discount as there was no real communication between her and me. So it was at Lahore that I started seeing the life that I had lived earlier in some perspective and also started discovering my own failings. Therefore, it was a period in which I wrote a few things but usually did not get them published or make them known. I wouldn't even tell my friends that I had written something because I was not confident of what I was doing. I was always trying to better it within my own self and hoping that one day maybe I will be able to write something which I will be able to read out to my friends and impress them. But as it happened, I never got impressed and I never read them out. I wrote quite a few poems.

R. P. : What was your first published writing?

M. R.: That was a poem I composed at the age of eight and got published in the children's columns of a Hindi daily. Then those poems that I wrote in Sanskrit, to my great surprise, were also published in a few Sanskrit journals. And then I think, so far as the publication of a prose piece in Hindi is concerned, there was a short story about vegetarianism.

R. P. : What were the poems like or what about?

M. R.: Well, I think they were influenced by two schools of writing in Hindi and to which people like Sumitra Nandan Pant and Mahadevi Verma etc. belonged and the other was the influence of nationalist or progressive poetry. I mean, the sort of poetry of national sentiments written in loud metaphors. But what I discovered soon was that when I went into that sort of logical detail in my poetry it was not poetry.

R. P. : In your Sanskrit poems you couldn't have been influenced by any school?

M. R.: There also I was influenced by the classical Sanskrit literature that I had been reading. But I tried some departures in the

sense that I wrote a poem the first stanza of which was half borrowed from the *Meghdoot* of Kalidas. It was entitled *Yuddha Rakta Bhadrikaya Sapna* (the dream of a woman whose husband has gone to war). Those were the days when the Second World War was being fought. The Second World War started in '39 and I was fourteen at that time and I think it was immediately after the war started that I had written that poem which described how this woman sees, not a cloud as the Yaksha in the Kalidas poem, but an aeroplane which sets her mind thinking. She dreams she is in the war surrounded by gunfire, putting herself in the situation of her husband.

R. P. : What would you consider your first serious literary piece?

M. R. : I cannot call it a literary piece nor can I call it very serious but, at the same time, something that set the line for my writing later. The first piece was a one-act play. This one I wrote when I was about seventeen and it was entitled *Samajh ka Pher.* It was about my father's death and the supertitions from which my grandmother suffered and which were partly responsible for the lack of proper medical care for him. So, I think in writing the play I was somewhere influenced by the realistic plays that were being written in Hindi at that time, though the theme was my own and it was born of my own experience. It was not much of a play but I think it was something which at least showed me the way to relate my writing to my own experience. The death of my father had made a deep impression on my mind. I almost felt cut off from all the bonds that had tied me to the surroundings associated with him and it was that sort of wound which I nourished. That made me write the play. After that I think for a long time I did not write any play. I tried my hand at short stories. I do not know how and when I got derailed. Recently I was reading some of my short stories written around my twenty second year. The stories were published in a magazine—an illustrated magazine which had started coming out at that time. Even today the magazine is being published. It is called *Sarita,* now edited by Vishwanath of Delhi Press.

R. P. : That was from Delhi. You moved to Delhi?

M. R. : No, I had not moved. I wrote for *Sarita* from Lahore. My first short story I think was published in *Sarita* in 1947 when I

was twenty two. Well, reading these stories I find that it is quite a false bit of writing, false intellectualization, some sort of love for concocting pseudo-intellectual phrases and all that, and I think that was the influence of the company I was keeping at that time—my intellectual friends, whom I admired a lot, because it was through such friends that I was introduced to the glamour of modern life. A boy who was only a few years back a strict vegetarian and did not even take onions, did not know what tea tasted like, because the tea made in our house was all milk with two spoons of tea water in it, was all of a sudden exposed to the life of bars and restaurants and cabarets. It is that which derailed me for some time and I wrote some unreadable short stories.

R. P. : Do you regret the experience?

M. R. : No, I don't regret having been introduced to that sort of life now, but I do regret the attitude towards life which I had developed because, I think, living that life was not good for me. It opened new horizons which I wouldn't otherwise have known for a much longer time maybe. I had kept on suffering from those superstitions and inhibitions with which I had grown up. But I wish I had the company of people who did not glamorize modernity or make it a fetish. One friend I can particularly mention—his name is Gyanchand Sharma. He had been working in the Punjabi Excise for some months or, maybe, a few years. He was also I think the Chief Accountant in the Super Bazar, Delhi. He was quite a cynic—a cynic not in the sense in which one would like a cynic. I liked him a lot at that time. He was a person who would condemn anything and everything by finding some sort of likeable phrase by which he could impress his followers or friends, and what I admired in him most, and in my own writing, were those glamorous sentences. I wrote three short stories, in particular, in which there was a hero called Kesri. He is a person who moves about among girls and talks in cliches and those cliches are all glamorized, intellectualized versions of things that we used to talk in the Coffee House at that time.

R. P.. : When did you write your first book?

M. R. : That is a travelogue of the West Coast that I wrote in '53—*Akhri Chattan*—in which I found a release again. that is a piece of writing which, in spite of its limitations, I don't

mind owning. Amongst short stories, I think, the first short story I would like to own really is *Soda*, which was written in 1954. Much before I wrote *Akhri Chattan* I wrote a play when I was still at Lahore, during the days of partition, called *Curfew.*

Make a scanty living from writing and things would be managed that way. But even this scanty living I could not manage for myself from writing and I also found my wife was not quite adjusted to the idea of supporting my mother and brother though she was sending a certain amount to them at that time. But that was out of the deposit that I had made with her of my provident fund. As that money was getting exhausted, I found that she was becoming rather fidgety. So I decided to take up a job again and I applied here, there and everywhere. I went for interviews at a couple of places where I knew people who had qualified much later than myself were holding senior posts by now. But, unfortunately for me, or I should say ironically, the job that I got was that of the Head of the Hindi Department in the same D.A.V. College Jullundhur, where I was not confirmed a few years earlier. This was mainly because of Dr. Inder Nath Madan who was Head of the University Hindi Department. Since he knew me at Simla, and admired me a lot, and by that time I had also done M.A. in Hindi, getting a first class first, he persuaded Principal Suraj Bhan to take me. I think that is the longest job I have done in my life. I was there for four and a half years till the end of '57.

R. P. : Why did you leave that job?

M. R.: One reason was the basic restlessness which I felt all the time. I was planning out ways in which I could live by writing. The most important reason probably was my divorce in August, 1957. In that small city people were quite conservative. I found the pupils and my Principal still liked me for my work, but there was hostility in the minds of the people in the city as well as among the Staff. So I decided to resign. But when I resigned I had made up my mind that this time so far as possible I would not take up a job. I thought I could reduce my demands on life. My short stories had started bringing a little remuneration. I made all those calculations which every one of us makes in such a situation, that I will write, I will produce at least two or three short

stories every month and then I will be able to publish a book every six months and that way be able to earn about Rs two hundred per month and live within that amount.

R. P. : Did you take up any other job? If so what were the circumstances which made you decide against your earlier decision?

M. R.: The job that I took up after that was after almost four years. '58 to '61 I did not do any job. I somehow managed to make a small living on my writing. When I took the next job, it was because of the temptation of the job, not the need. I was offered the editorship of *Sarika.* I did not apply for the job. The proprietors of Bennet Coleman & Co. wired me to come to Calcutta and they straightaway offered the job to me. It seemed quite lucrative in the sense that for Hindi literature or anybody connected with the Hindi language a job which would bring in emoluments to the tune of about two thousand rupees was quite lucrative at that time. So it was, I think, the temptation of being editor of a literary magazine as well as being economically comfortable that made me take up this job. But within months of sitting in that office I again started feeling very uncomfortable. I was temperamentally unsuited to this life of sitting in an office room, say ten to five. One handicap with me is that I could not take a job casually. So after doing that job for six months I resigned, But I was relieved after another five months. So in total I spent about eleven months in that office and that was the last job I did.

R. P. : You say you continued working for five months after deciding to quit. Were you not confident enough of being able to live by writing?

M. P. : I was confident enough. As I told you, I was living off writing even before that, that is four years prior to taking up this job. It was a scanty living. Sometimes you felt there was a crisis, but still I could manage to pull on. It was this very calculation which made me resign the job. I really did not need, I thought to myself, all that I could buy with extra money. Whatever my needs were could be met by whatever I could earn by writing. I must say I have passed through financial crises many times after that. It is nine years now. But I have never regretted. Even if asked to I could never go back to doing a job.

R. P. : You didn't have a family to support at the time you took the plunge?

M. R. : I don't know what I would have done if I had a family to support. But I think I would have resigned all the same, though maybe a little later, because I could not reconcile myself to sitting in that cabin. I was trying to do the job well but I was doing it under strong protest from my inner self. I knew that there was some satisfaction in the job also, but still my mind was rebelling. I needed my mornings, for example, for writing. That is the sort of feeling I had. Not that all these years after leaving the job I have been sitting down to write every morning.

R. P. : Don't mind my asking one or two personal questions. You mentioned that you got a divorce from your first wife. it is not so very easy for a middleclass marital relationship to get severed even if you don't like it. Somehow you live with it. How did you handle the situation?

M. R. : Actually after marriage, i.e. in 1950, it was only for a year and a half that my wife and myself stayed together. That was in Simla. Then she did her B.T. and got a job in the Women's Training College in Agra. We had discovered, at least I had discovered (I can talk with confidence only about myself) that we were temperamentally so different that we had absolutely no meeting ground. It was a life which was a source of constant tension, if not for both at least for me. I think she had much stronger nerves than I had. It was a sort of living arrangement that was struck. We both worked at two different places. After Simla, I took up a job at Jullundhur. She continued working at Agra and we carried on like that from the middle of '52 to the middle of '57, that is five years. For about five years we were living away from each other, working at our respective places, and meeting off and on. To cover up the estrangement we used to pretend that it was a modern way of living, that we were two separate entites, that each of us was cultivating his personality. But the real reason was that right from the beginning we had been strangers to each other. She as a Hindu woman found marriage an unchallengeable reality; so it had to stay, it was to stay just because we were married. But I had quite a strong ego and she had both a strong ego and a stronger personality and

there was nothing on which we did not clash. So we carried on with this arrangement for five years. Then I came to know that she had conceived, that was inspite of my best efforts not to let it happen. After I got this news I suffered from another mental dilemma. Whether I will not have to accept this marriage as a life-time reality because of emotional reasons. So I thought I should take a decision before the child was born and I told her, 'You and I cannot live together. When the child is born one of us can take the entire responsibility for bringing it up.' She thought I was only talking in the air and that after the child was born everything would be all right. Well, the child was born. After that we met once or twice; we talked about things; she resisted the idea of divorce vehemently at this stage, particularly because of the child, and said she would fight upto the Supreme Court if I took any such step. I could persuade her ultimately that it was no use because we could not under any circumstances live as husband and wife.

R. P. : Continuing on that personal note you may or may not answer this. Did you have any other female company? Were you unfaithful to your wife?

M. R.: Very much, yes.

R. P. : Was it one of the reasons that took you to this drastic step?

M. R.: No. That wouldn's lead me to any drastic step. It was not for the sake of that I needed a divorce. Actually, much of that clandestine life was the result of this bitter married life in which we stayed away from each other. Well, I must confess, I needed female company very much in whatever arrangements I could make. I did make those arrangements.

R. P. : Did your wife know about this and what did she think of it?

M. R.: She might have suspected a little bit but not much.

R. P. : Could you describe your life after you left *Sarika* and were divorced to the time you got happily married?

M. R.: After I left *Sarika,* I roamed around for a couple of years. Then I met Anita, the girl 'Im living with now. I must mention here, as you may also be knowing, that in between I got married to one of my friends' sister. I couldn't even live for a day with her. I needed a home, a wife, a female companion; maybe for that very reason I plunged into the second marriage without much thought. But we weren't suited to each other at

all. I would have gone mad if I had continued. It was a nightmare—and I just decided to walk out on her and marry once again.

R. P. : Rakesh, I hope you don't mind my asking you these delicate, personal questions. You've been often accused, rightly and wrongly, of having been a home-breaker, and rather restless with your women and jobs. How is it that you have what to me seems a happy home now, shacked up with Anita for nearly eight to nine years?

M. R.: Whether I mind it or not, you've asked them. So I might as well answer. And as I answer them, I'm not afraid of their being made public. Yes, I know I've been accused of being a homebreaker. I've broken two homes. I've been called a person who shifts from inn to inn or from wife to wife. I can't stop other people from wagging. I only do what I think my conscience allows me to. And I should say I've always done that. At least consciously. I've broken homes, and that in middleclass Hindu society is unpardonable. I know that. But I'm not the type who goes on having a superficial or surface relationship with anyone. I cannot be a debauch and pretend to being a model husband at the same time.

Whatever you may call this present relationship with Anita, you know I'm not married to her. I admire her for her boldness and love her for her infinite love for me. I've never felt so settled in my life. She is really a noble girl—naive at times, but full of love and innocence. We've had hysterical situations in the house. But there's been nothing to make me walk out on her. Whatever I may do, I'll never leave her. When she came away with me I told her I was morally committed to her for the rest of my life. Contrary to what people have been thinking or might think of me, I feel very settled now. I love Anita very much and my kids Purva and Shelly. You were in Simla with me when I used to phone Purva every evening at 8. She misses me too much. You know...

(Incomplete)

In these plays I was dealing with themes that were not so universal. The conflict of Kalidas is the conflict of a writer. The conflict of Nand is that of a sensitive man who tries to think beyond

*himself. But Adhe-Adhure is an abstraction of a theme which covers a much larger area of common human experience. This ordinariness does not qualify the play, but the life depicted in it. After this, I might go into further abstractions based on my discovery of larger area of common human experience.**

* Mohan Rakesh from an interview with Rajinder Paul published in ENACT May, 1972

डायरी

मोहन राकेश की डायरी

(1950 से 20-12-1958 तक)

1950

शिमला...?

बहुत अचानक हुआ। बस देखा, चाहा और सब हो गया। ज़िन्दगी में पहली बार। उसे हैरानी हुई कि यह मेरी पहली बार है, शायद खुशी भी। उसने पता माँगा, तो सिगरेट की डब्बी फाड़कर उसे लिखकर दे दिया। पर असली पता नहीं। मार्फ़त...

उसने अपना पता भी दिया। अलीगढ़ का। कहा कि वहाँ आऊँ, तो किसी से भी वकील...का घर पूछ लूँ। दस से पाँच तक वह अक्सर घर में अकेली होती है। फिर उसने पहली बार डब्बी के कार्ड पर लिखा मेरा नाम पढ़ा। काम पूछा। उससे इतना ही कहा कि यहाँ नौकरी के इंटरव्यू के लिए आया हूँ। ''आप कल शाम ही आए हैं,'' वह बोली। ''हम लोग दो दिन से यहाँ थे।'' अफ़सोस मुझे भी हो रहा था कि मैं कल शाम को ही क्यों आया? उन्हें आज दोपहर को ही क्यों चले जाना है? ''कहीं चलकर चाय पीते हैं,'' उसने कहा। ''इन्हें अभी एक-आध घंटा और लगेगा हाई कोर्ट में। कह रहे थे बारह से पहले नहीं लौट पाएँगे।'' पर मना कर दिया कि चाय-वाय जैसी बेकार चीज़ें पहले के लिए ठीक हैं। अब सब हो चुकने के बाद क्या करना है चाय पीकर? और चाय पीने बैठेंगे, तो बात करनी होगी। क्या बात करेंगे? कहा, ''नहीं, मैं सीधे होटल के कमरे में जाऊँगा। वहाँ किसी को वक़्त दे रखा है।'' वक़्त दे भी रखा था वाकई। हरिमोहन को। इसलिए अपने सफ़ेद पुलोवर की बाँहों को देख रहा था, जो सुरंग की कालिख से स्याह हो गई थीं। सोच रहा था कि हरिमोहन देखकर पूछेगा, तो...? वह हरगिज नहीं मानेगा कि यह मेरी पहली बार थी।

'ड्राई-क्लीन कराना पड़ेगा,'' वह हँसी।

''इसी समय पहने-पहने तो ड्राई-क्लीन हो नहीं सकता,'' मैं खीझ के साथ बुदबुदाया। सोचा कि उसे तो पता होगा पहले से सुरंग की कालिख का। जब उसे

सुरंग का पता था कि दिन के दस बजे वहाँ आउट-डोर में यह हो सकता है, तो और सब भी पता होगा। तो क्या दो दिन में भी वह एक से ज़्यादा बार वहाँ आ चुकी थी? उसने कहा था कि वे लोग शिमला पहली बार आए हैं।

"आप चले जाइए शार्ट-कट से। हम बाद में सड़क से घूमकर आएँगे," वह बोली। शार्ट-कट के पास अलग होने के साथ ही हम पहले की तरह अजनबी हो गए। जैसे उस समय थे जब होटल से निकले थे। अलग-अलग और दस मिनट के फ़र्क़ से।

पगडंडी से हिन्दू लॉज की तरफ़ चढ़ते हुए सोच रहा था कि आसान शायद यही होता है—एक अजनबी का अजनबी के साथ। कल शाम को सिर्फ़ देखा भर। सुबह दो-चार मिनट बात हुई। बालकनी पर, मौसम के बारे में फिर कमरे के सामने से ग़ुजरते हुए एक मुस्कुराहट और सवाल, "घूमने चलिएगा? हमारे ये तो हाई कोर्ट गए हैं। हम सोच रहे हैं दो घंटे कहीं घूम आएँ। हम चल रहे हैं माल पर। आप आ जाइए दस मिनट में आना हो तो।" और बस।

पगडंडी पर चढ़ते हुए कुछ छोटी-छोटी टहनियाँ तोड़ लीं। टूट-टूटकर इतनी छोटी हो गईं कि और नहीं तोड़ी जा सकीं, तो फेंक दीं। इससे पहले कितनी बार चाहता था कि यह हो सके—कितनी-कितनी मंजिलें तय की थीं इसके लिए। योजनाएँ और भूमिकाएँ। नतीजा कुछ नहीं। क्योंकि परिचय से एक दीवार उठ आती थी। 'परवाह' हो जाती थी। 'जानने' की कुंठा।

माल पर आकर होटल में उतरने से पहले कुछ देर 'पुरुष' के अन्दर रुका रहा। अपने को देखता रहा, कि क्या कुछ फ़र्क़ पड़ा है? और क्या बस यही होता है—इतना ही?

होटल के लकड़ी के जीने पर आकर फिर एक बार रुक गया। हरिमोहन आ चुका था। अपने पुलोवर की बाँहों को एक नज़र देख लिया। लगा कि उसके अलावा भी शायद पता चलने को बहुत कुछ है। साँस में बसी सुरंग के रिसते पानी की गन्ध। आँखों में भरी गोलाइयाँ जिन्हें पहली बार इतना नंगा और भरपूर देखा था—और किसी भी क्षण गाड़ी के सुरंग में आ जाने का डर।

शिमला...?

माल। कॉफ़ी हाउस से स्कैंडल पाइंट। स्कैंडल पाइंट से छोटा शिमला। बातें, बहस-मुबाहिसे, कहकहे। पैरों के नीचे डेढ़-डेढ़ फुट की एड़ियाँ। इतने से भी काम न चलने पर ऊँचे-से-ऊँचे उछलने की कोशिश। "मेरे दृष्टिकोण से..." उस दृष्टिकोण के रास्ते में ही कट जाने पर दूसरा दृष्टिकोण। फिर तीसरा। उसमें भी मार खाकर पैर ज़मीन पर, एड़ियाँ ग़ायब। दृष्टि का केवल एक ही कोण—कोलतार की सड़क से नब्बे डिग्री का।

शिमला...?

मैं अपने किसी भी व्यवहार के लिए उत्तरदायी क्यों हूँ? जब जो हो जाता है, हो जाता है, और जैसे हो जाता है, वैसे ही होना स्वाभाविक है। मैं अपने गाल पर उस तरह थप्पड़ नहीं मार सकता जैसे दूसरे के गाल पर। दूसरा इससे रोने लगे या मेरे दाँत तोड़ दे, यह उस पर निर्भर करता है। यह फिर मुझ पर निर्भर करता है कि मैं उसकी पीठ सहला दूँ या उसके बाल नोंच लूँ। क्योंकि आवेश का हर क्षण—मेरा या दूसरे का—स्वयं अपने लिए उत्तरदायी है। ऐसा न हो, तो मर जाए आदमी—एक ही दिन में पचास-पचास तरह के उत्तरदायित्व ढोते। सब एक-दूसरे के विपरीत और एक-दूसरे को काटते हुए। अजब आवेशों पर वश नहीं अपना, तो उत्तरदायित्व भी अपना कोई नहीं। अगर कभी खाँसी उठती है, तो मैं उत्तरदायी होता हूँ? बुख़ार चढ़ता है, तो मैं उत्तरदायी होता हूँ? तो फिर अपने स्नायुओं की और सब प्रतिक्रियाओं के लिए क्यों मैं अपने को उंत्तरदायी मानूँ?...अब इस बात का डिप्रेशन है कि सुबह ग़ुस्सा क्यों किया। न किया होता, तो दूसरा डिप्रेशन होता कि क्यों नहीं किया। उत्तरदायी दोनों हालतों में मैं ही—क्यों?

शिमला...?

अभी बाहर से आया, तो इतना खुश था। पर खिड़की खोलकर कुर्सी पर बैठने तक मन उदास क्यों हो गया? समुद्र के ज्वार-भाटे का तो एक निश्चित गणित है, पर मन के ज्वार-भाटे का?

शायद है इसका भी एक गणित। अकेलेपन से भीड़ में जाने का ज्वार। भीड़ से अकेलेपन में लौट आने पर भाटा। कानों में कई-कई स्वर टकराते रहने पर ज्वार। स्वरों के ऊब जाने पर भाटा। आँखों के रंगों में भटकते रहने का ज्वार। रंगों से अँधेरे में लौट आने पर भाटा। पर नहीं। अभी ज़ीना चढ़ने-उतरने तक तो मन ज्वार में था। खिड़की खोलते ही अचानक इसे क्या हो गया?

शायद भाटा ही रहा दिन-भर। सतह पर ज्वार नहीं, झाग था—रोज़ की तरह आज भी अपने को दोहराने का। वही जगह, वही लोग, वही बातें। उसी तरह हँसना, लड़कियों को ताकना, फ़ब्तियाँ कसना। मन में आई बात कह सकने के लिए अपने से बाहर उबल-उबल पड़ना। इतना झाग उछालना कि हर दूसरे का झाग बैठ जाए। इस सबसे पैदा हुई ऊब और थकान को कहीं नीचे दबाए रखना। उत्साह के साथ हाथ हिलाकर साथियों से विदा लेना। डग-डग-डग-डग कच्ची पगडंडी से घर की तरफ़ उतरना। घुटनों में जबर्दस्ती चुस्ती लाकर ज़ीना चढ़ना। झटककर ताला खोलना और अँधेरे में ड्रेसिंग टेबल के आईने से गुज़रते अपने अक्स को देखना। स्टडी में आकर खिड़की की चटखनी खोलना, हवा से सिहरना, देवदारों की सरसराहट शरीर में महसूस

करना। लिखने का पैड सामने रखकर बाहर देखना, सोचना। सतह का फेन बैठ जाने से उदासी की तहों में उतरते जाना। फिर अपने को झटककर उठ जाना। खाना गर्म करने के लिए स्टोव का बटन दबा देना। टिफिन के डिब्बों की सूँ-सूँ, दाँतों की चपर-चपर। फिर खिड़की बन्द कर देना...सो जाना।

क्या यह भाटा इसी बात का नहीं कि वास्तविक ज्वार कभी नहीं आता? जो ज्वार की तरह महसूस होता है, वह केवल ज्वार का अभिनय होता है? मेरा दूसरों से, दूसरों का मुझसे—हममें से हर-एक का हर-एक से!

अब?

क्या?

उठो।

क्यों?

खाना खाओ।

क्यों?

भाड़ में जाओ।

क्यों?

शिमला...?

बहुत कोफ़्त होती है इस ज़िन्दगी से। सुबह उठते ही पहला ख़्याल कि गिरज़े की घंटियाँ बजने में कितना वक़्त है। कभी बीस मिनट मिलते हैं, कभी तीस मिनट। उतने में ही नहाना, खाना, तैयार होना होता है। प्रभु ईसा को कभी नौकरी नहीं करनी पड़ी। वरना सारा टेस्टामेंट ही बदल गया होता। ख़ासतौर से अगर नौकरी मिशनरी स्कूल की होती। मिस्टर फिशर जैसे हेडमास्टर से पाला पड़ा होता। 'दि ग्रोटो' इस कोठी का नाम है जो हमें स्कूल से मिली हुई है। ईसा मसीह के जन्म-स्थान के नाम पर। क्या ईसा मसीह को भी उस तबेले में वैसी ही उलझन होती रही होगी जैसी मुझे यहाँ होती है?

सुबह उठते ही बेड-टी का बटन ऑन। पानी ज़रा-सा गर्म होते ही शेव, टॉयलेट और सूट-बूट। काला चोगा। चलते-चलते चाय की प्याली। स्कूल के आधे रास्ते में डिंग-डांग, डिंग-डांग। वक़्त पर गिरज़े में पहुँचने के लिए दौड़। हाँफते हुए मास्टरों की लाइन में शामिल। दूसरी लाइन में तीसरी सीट। 'अवर फादर, हू आर्ट इन हैवन, हैलोड बी दाई नेम...'' एक-एक करके सात पीरियड। पढ़ा सकते थे ईसा मसीह इतने पीरियड? इससे कहीं आसान था क्रॉस कन्धे पर लेकर चलना।

वही रोज़ की ज़िन्दगी—अनचाही। अनमने ढंग से किया काम। फुसफुसी फुलझड़ियों जैसी बातें : ''हऊ फाइन!'', ''हऊ नाइस!'', ''डिड यू गो टु द माल येस्टरडे?'', ''हऊ इज़ द लिवर?'', ''हऊ मैनी पीरियड्स मोर?''

ऑक्स फॉर सेल—कैन ऊ सैवन पीरियड्स ए डे!

वही सब जो कल हुआ था, आज भी हुआ और कल भी होगा। एक लम्बे सिलसिले की एक-सी कड़ियाँ, एक-से ढंग से रोज़-रोज़ जोड़ते जाना। ऐसा कुछ नहीं, जो इस सिलसिले से बाहर या हटकर हो। सीधी-सीधी कड़ियाँ और ढीली-ढीली गाँठें। जैसे यह ज़िन्दगी नहीं, फ़क़त एक ज़िन्दगीनुमा खेला है। हम सब ईसा मसीह के बच्चे रोज़ यह खेल खेलते हैं। "अवर फादर, हू आर्ट इन हैवन..."

दिन बीतने तक एक थकान। होने की नहीं, न होने की। क्यों आज का दिन कल के दिन में ऐसा नहीं उलझ जाता कि सचमुच होने का एहसास हो? गाँठें कुछ इस तरह उलझ जाएँ कि उन्हें सुलझाने-सुलझाने में उँगलियों के पोर टूटने लगें? अपना आप उन गाँठों में इस तरह कसा लगे कि एक-एक दिन उन्हें खोलने या तोड़ने के हताश संघर्ष में बीते? लगे कि होने की वास्तविकता यह है। मैं यह हूँ जो सुबह से शाम के बीच इतना दुखता हूँ, इतना छटपटाता हूँ। यह नहीं जो दो स्लाइसों के साथ दो अंडों की जर्दी निगलकर चॉक से ब्लैक-बोर्ड पर लकीरें खींचता हूँ। "हऊ आर यू टुडे?", "क्वाइट वैल, थैंक यू" वाला मैं नहीं—"डैम यू, यू राटन स्वाइंज़! डैम यू, यू स्टिकिंग बिचिज" वाला मैं। पर वह मैं कहाँ हूँ?

शिमला...?

रात। खिड़की के बाहर सरसराते देखकर देवदार और अँधेरा। कुछ आवाज़ें। चिचियाते कीड़ों की। एक भौंकते कुत्ते की। हवा। दूर एक धुँधली-सी रेखा—सामने की पहाड़ी के 'वी' कट की।

हवा में कुछ सिहर रहा है। अँधेरे में भी। मेरे अन्दर में भी। जैसे अभी-अभी कुछ होने को है। हवा, अँधेरा और मैं—सब उसके होने की प्रतीक्षा में हैं। हर क्षण सोच रहे हैं कि बस अब अगले ही क्षण से वह होना शुरू होगा। इससे अगले क्षण से।

निचले रास्ते से कोई सीटी बजाता जा रहा है। हवा, अँधेरा और मैं—तीनों उस आवाज़ की पृष्ठभूमि हैं। वह भी, जो सीटी बजा रहा है। वास्तविकता है सिर्फ़ आवाज़। जैसे वह गुज़रकर जानेवाले की नहीं, रास्ते की अपनी आवाज़ है। जैसे दूर से पैरों की आवाज़ सुनकर रास्ता ही सीटी बजाता उस आवाज़ के पीछे हो लिया है। इस समय करना क्या है? यहीं बैठे रहना है, या बत्ती बुझाकर नीचे उतर चलना है? इस आवाज़ को सुनते रहना है या इसका पीछा करना है?

कुछ नहीं करना है। सिर्फ़ बैठकर सोचते रहना है। सिगरेट के दो-चार कश खींचकर सोने की सोचना है।

कितने-कितने रास्ते हैं, जिन पर चल पड़ने को मन करता है। उनसे आगे भी कितने रास्ते हैं, जिनके मोड़ तक भी कभी नहीं पहुँचेंगे। सड़कों, पटरियों और

पगडंडियों की शक्ल में कितना बड़ा गुंझल है रास्तों का। उस गुंझल में पहाड़ और समुद्र, उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव, सभी-सभी एक-दूसरे से मिले हुए हैं। यहाँ का स्कैंडल पाइंट न जाने कहाँ की अबरक की ख़ानों से, यह घर 'दि ग्रोटो', न जाने कहाँ के 'विला मैरीना' या 'विला पैरेडाइज़' से। सब एक-दूसरे से मिले होने पर भी उस गुंझल में खोए हुए—उसके इस सिरे से उस सिरे तक का तार निकाल लेने में असमर्थ।

कैसे हो सकता है कि, चाहे एक क्षण के लिए ही, आदमी सब रास्तों को एक साथ एक नज़र से देख सके? धुन्ध में लिपटे इस सारे भूलभुलैया का एक क्षणिक-सा ग्राफ़ हासिल कर सके? ज़िन्दगी भर 'दि ग्रोटो' के लॉन में ही चहलक़दमी न करता रहकर हर 'विला मैरीना' और हर 'विला पैरेडाइज़' को भी, चाहे आँख से ही, एक-एक बार छू सके?

सीटी की आवाज़ अब नहीं रही। चलो, एक रास्ते से तो छुट्टी मिली। ख़ामख़ाह सोने से पहले यह रास्तों का गुंझल दिमाग़ में भर लिया। इससे अच्छा था किताब पढ़ते या आग तापते हुए कोयलों से झड़ती राख को देखते। या चुपचाप दराज़ खोल लेते और जो चिट्ठी सबसे पहले हाथ लगती, उसका जवाब लिखने लगते। समस्या इतनी ही तो है कि अभी साढ़े दस बजे हैं और नींद बारह-साढ़े बारह से पहले नहीं आएगी। और कुछ न करते, तो आनेवाले महीने का खर्चा ही गिनते।

शिमला...?

परसों पूर्णिमा थी। घर लौटते हुए अचानक सड़क के एक मोड़ पर रुक गया था। घाटी में फैली चाँदनी हल्के पानी की नदी जैसी लग रही थी। जैसे सड़क की मुँडेर लाँघकर उसमें उतरा जा सकता हो।

आज लौटते हुए फिर उसी मोड़ पर रुका। उसी तरह घाटी की तरफ़ देखा। अपने पर हँसी आई कि परसों क्या बेवक़ूफ़ी की बात सोच रहा था।

आज टेंपरेचर फ्रीजिंग पाइंट से पाँच डिग्री कम है।

शिमला...?

आज म...को दो बार रुला दिया। बुरी तरह। उसने तीखे स्वर में एक बात कह दी—बस चोट खाए अहं से उसे डसने लगा। डस लेने के बाद जब उसका बुरा हाल देखा, तो उस ज़हर को चूसना शुरू किया। मगर इसके बाद उसे फिर स्वस्थ होते पाया, तो सारे चूसे ज़हर से फिर डस लिया। फिर इस तरह, जैसे ज़्यादती उसी की हो, उसके पास से उठकर चला आया। डेविकोज़ में अकेले बैठकर बियर पी—बर्फ़ानी सर्दी से ठंडी। फिर माल पर दोस्तों के बीच हँसने की कोशिश की। पर हँसते हुए

भी अपना-आप अन्दर के ज़हर से अपने को डसता रहा। एक बार सोचा कि जाकर उससे माफ़ी माँग लूँ। उस रास्ते की तरफ़ बढ़ा भी। मगर गया नहीं। अपने ज़हर में घुलता हुआ घर लौट आया।

शिमला...?

रिपोर्टें पूरी कर लीं आज। कल और परसों रात-रात तक कॉमनरूम में बैठकर यह काम पूरा करते रहे सब लोग। बीच-बीच में हल्के मज़ाक। छुट्टियों में कौन क्या करेगा। कहाँ जाएगा, इसकी चर्चा। अँधेरा होने से पहले घिरते सायों के साथ घिरती एक उदासी। अपने ही किए निर्णय को लेकर मन में एक संघर्ष। "छुट्टियों के बाद तो अब तुम्हें तुम्हारी मिसेज़ के साथ ही देखेंगे।" इस वाक्य का एक हल्का आतंक। हर बार इससे बचने की कोशिश। मुस्कुराकर या व्यस्त होकर इसे टाल जाने की कुशलता।

...मन में क्यों उत्साह नहीं है? उस दिन, सिर्फ़ एक दिन, उत्साह हुआ था, जिस दिन उसे स्वीकृति का पत्र लिखा था। उसके बाद मन जैसे उस स्वीकृति के शिकंजे में कसा रहा है। कितना चाहा है कि किसी तरह इससे निजात मिल जाए—कुछ ऐसा हो जाए, जिससे यह बात टूट जाए, या कम-से-कम टल तो जाए ही। उस दिन सोच रहा था कि दुर्घटना हो जाने का तार दे दूँ। या पत्र लिख दूँ कि डॉक्टर ने टी.बी. बता दी है। फिर एक ख़याल कि दूसरे को मानसिक रूप से इस बिन्दु तक लाकर पीछे हट जाना, यह बहुत ज़्यादती होगी। क्या कुछ ऐसा नहीं हो सकता, जिससे उसी तरफ़ से इस सम्बन्ध को तोड़ने का प्रस्ताव आ जाए?

कारणों में एक कारण क्या म...भी नहीं है? उससे परिचय हुआ, जब स्वीकृति भेज चुका था। म...ने उस दिन कहा था, "क्यों नहीं इनकार का पत्र लिख देते? इस विषय की चर्चा से तुम्हारा चेहरा ऐसे उतर जाता है कि मुझे नहीं लगता तुम शादी करके खुश हो सकोगे।" उसके सामने इस बात पर हँसा था। ज़िद करके कहा था कि मैं उसे प्यार करता हूँ। "तुम्हारी बातों से तो लगता है कि तुम प्यार उसे नहीं, उन पत्रों को करते हो, जो उसने तुम्हें लिखे हैं।" वह बोली थी। इस पर एम.पी. ने उसे डाँट दिया था, "यह क्या हिमाक़त है कि तुम शादी से पहले ही उसके मन में इस तरह के विचार बिठा रही हो?" वह इससे तल्ख़ होकर उठ गई थी। चाय पीने भी नहीं आई थी।

एम.पी. बिलकुल दूसरे ढंग से बात करता है। "अपनी पसन्द की लड़की से शादी करने से अच्छी कोई बात नहीं। तुम जिस तरह नौकरी छोड़कर सिर्फ़ लिखने में लगे रहना चाहते हो, उसमें वह तुम्हारी मदद करेगी। म...तो बेवकूफ़ लड़की है। ऐसे ही जो मुँह में आता है, बक जाती है।"

अगर एम.पी. उत्साह देता, तो शायद दूसरा निर्णय कर लेता। उसने कभी ऐसा आभास नहीं दिया कि उसकी इसमें दिलचस्पी हो सकती है। और दिलचस्पी किसी तरह की आज तक म...ने भी ज़ाहिर नहीं की। सिर्फ़ परिचय के दिन से ही इस सम्बन्ध को लेकर अपनी नापसन्दी ज़ाहिर की है, बस। रुकाव उसे भी एम.पी. की ही वज़ह से महसूस होता है शायद। मैंने उनके सामने अपनी ज़िद रखने के लिए हमेशा एक वाक्य की आड़ ली है। ''मेरे मन में स्त्री की जो कल्पना रही है, वह उससे इतनी अलग है कि मुझे विश्वास है, मैं उससे प्यार कर सकूँगा।'' म...इस पर मुँह बना देती है, पर एम.पी. को यह वाक्य बहुत अच्छा लगता है। ''यह वाक्य तुम्हें किसी कहानी में इस्तेमाल करना चाहिए,'' वह कहता है।

मैं शायद चाहता रहा हूँ कि वे लोग मुझे जबरदस्ती इस सम्बन्ध से रोकें, जिससे मैं उन पर एहसान करके उस सम्बन्ध को तोड़ दूँ। मगर वे जबरदस्ती क्यों रोकें? और म...के सिवा बाक़ी सब लोग तो इसके पक्ष में हैं ही। म...की भी इसमें क्या दिलचस्पी हो सकती है? वह अब भी जितना कहती है, एक परिचित का 'भला' चाहने के नाते ही तो कहती है? इससे ज़्यादा उसे क्या है?

कुल तीन दिन हैं यहाँ से चलने में। दस दिन शादी में। ऐसे में मुझे इस तरह की बातें हरगिज़ नहीं सोचनी चाहिए। शीला में अपना एक व्यक्तित्व है। उस समय उसके पक्ष की बात मैं नहीं सोच पाता—यह इसलिए न कि वह अपना पक्ष रखने के लिए सामने नहीं है?

यहाँ से चलने तक तीनों दिन कुछ करने को नहीं है। अच्छा होता अगर ये दिन इतने ख़ाली न होते। पिछले दस दिन से व्यस्तता के कारण ही एम.पी. के यहाँ नहीं गया। ये तीन दिन भी उसी तरह निकल जाते, तो सिर्फ़ जाते हुए एक बार मिल आता। मगर आज रात का खाना एम.पी. के यहाँ है। उसने फ़ोन पर कहा था, ''म...कह रही है, आज वह खुद तुम्हारे लिए गोश्त पकाएगी।'' अगर किसी तरह आज के खाने से बच सकता...

फ़ोन से हटा, तो ए.डी. ने अपनी अंग्रेज़ी शिष्टाचार की मुस्कुराहट के साथ पूछ लिया, ''समथिंग रांग समव्हेअर? व्हाइ आर यू लुकिंग सो पेल?''

''ऐम आई?'' उसी मुस्कुराहट के साथ मैंने भी उससे कहा, ''जस्ट ए क्वेश्चन ऑफ़ लाइट एंड शेड आई थिंक।''

''आई बिलीव सो,'' उसने जिस अन्दाज़ में कहा, उसका मतलब था, ''आई डोंट बिलीव इट।'' मैं एक बार और उसी तरह मुस्कुराकर ऑफिस से बाहर चला आया।

शिमला...?

???

1951

...

शिमला...?

वापस घर...घर?

ब्लैंक, ब्लैंक, ब्लैंक।

इसका क्या करना होगा—इस डायरी का?

अच्छा है, अकेला ही लौटकर आया। वह नोटिस पीरियड पूरा करके आएगी। माँ और वरीन कल अमृतसर से आ जाएँगे।

स्कूल खुलने के दिन बर्फ़ पड़ गई। अकेले घर में बिना बुख़ारी के हाथ-पैर सुन्न हो रहे हैं। कमरों में जो कुछ बिखरा है, उसे समेटने की हिम्मत नहीं है। बिखराव उस दिन का है जिस दिन हम दोनों यहाँ आए थे। कुछ घंटों के लिए। सुबह कालका से स्टेशन-वैगन में यहाँ, शाम को यहाँ से टैक्सी में वापस। ख़ास किसी से मिले नहीं, सिवाय डॉ. मदान और शरर के। शरर ने कॉफ़ी पिलाई। डॉ. मदान ने क्वालिटी में खाना खिलाया। जाने से पहले उन्होंने कहा था, "मुबारकबाद देखने के बाद दूँगा।" मगर मुबारकबाद उन्होंने नहीं दी। शरर ने बल्कि एक बहुत क्रूड बात उससे कह दी। "किसी नाज़ुक-सी लड़की का इस गोल-मटोल आदमी के साथ गुज़ारा भी न हो पाता।" वह इससे काफ़ी बुरा मान गई थी।

उससे पहले मुम्बई गए थे—हनीमून के लिए। बम्बई से लौटकर अमृतसर। अमृतसर से जालन्धर। जालन्धर में दुर्गा ने कुछ तसवीरें ली थीं। अपने बोहीमियन अन्दाज़ में सिगरेट फूँकते हुए हँसकर कहा था, "देखिए, इस आदमी को आपको काफ़ी कसकर रखना होगा। हम लोगों के काबू में तो यह आया नहीं। मैं इससे कहता रहा हूँ कि एक ही बार तेरी ऐसी लगाम खिंचेगी बच्चू कि..."

दुर्गा ने प्रिंट इलाहाबाद भेजे थे। हर तसवीर दोनों की थी। वह देखकर परेशान हो गई थी। "ये कैसी खींची हैं तसवीरें उसने? आपकी तो हर तसवीर अच्छी है, और हमारी..."

तसवीरें दोपहर की डाक से मिली थीं। रात को फाड़ दी थीं। "यहाँ पटेल के स्टूडियो में तसवीर खिंचवाएँगे।" उसने बिस्तर में साथ लिपटे हुए कहा था।

इलाहाबाद। होटल फिनारो। बम्बई। सी-व्यू। पहली रात जब रेखा, चमन और शील भी वहाँ रहे थे। लारेंस होटल। वापस इलाहाबाद। उनका घर। अश्क परिवार। सिविल लाइंस। ईवनिंग इन पेरिस। ऊपर के स्टोर में बिस्तर। नीला बल्ब। उसके माँ-बाप, भाई। मटर, गुझिया। हनी-ड्यू।

अमृतसर। कीचड़। ननिहाल का घर। म्यानी की रात। दिन। खुले बालों ऊपर से उतरी वह।

इलाहाबाद। एक अदृश्य व्यक्ति, राजा भैया। बिस्तर में लेटे हुए उसका एक वाक्य "पत्र हमने लिखा था।" बादल। मुक्ति? नहीं।

अमृतसर से वरीन का पत्र। चल देने का बहाना। दिल्ली। शील और सतिन्दर।

शिमला...इसके बाद?

कई दिनों से आँखें दर्द कर रही हैं। कल आया सिंह को दिखाया था। पता चला, चश्मे का नम्बर बदल गया है। नया चश्मा लगेगा।

1952

...

शिमला...?

विवाहित जीवन के उन्नीस महीनों के बाद...

उसे गाड़ी में बैठाने के बाद काफ़ी देर डेविकोज़ और कॉफ़ी हाउस में बैठा रहा। हँसने की कोशिश की। उसे विमेंज़ ट्रेनिंग कॉलेज, दयालबाग़ कॉलेज में लेक्चरर-इन-इकनॉमिक्स की जगह मिल गई है। सात तारीख़ से ज्वाइन करेगी।

उसे छोड़कर स्टेशन से लौटते हुए मन बहुत बेचैन हो गया था। डेविकोज़ में जाने से पहले डाकख़ाने में रुककर उसे एक पत्र लिखा। उसे वहाँ पहुँचने के अगले रोज़ मिल जाएगा।

डेविकोज़ में बियर और तली हुई मछली। फिश फिंगर्स। कॉफ़ी-हाउस में डोसा। शाम का खाना हो गया। घर जल्दी लौटने की कोई वज़ह नहीं थी, फिर भी ज़्यादा देर बाहर नहीं रुका गया।

सिंह की कोठी के पास रुककर नीचे अपने घर को देखा। बत्तियाँ बुझी होने से अच्छा नहीं लगा। ज़ीने से ऊपर आते हुए अपने पैरों की आवाज़ अजीब-सी लगी। जैसे ज़ीने की लकड़ी आज वह न रही हो जो कल तक थी। ठंडक भी कुछ ज़्यादा महसूस हुई।

कमरे में आकर साथ-साथ सटे पलंगों को देखो। स्कूल से मिले हुए अलग-अलग आकारों के दो पलंग, जो कभी ठीक से एक दूसरे से नहीं सट पाते—एक कमान-सी दरार हमेशा उनके बीच बनी रहती है। उसके जाने से पहले तय किया था कि लौटकर अपना पलंग मैं स्टडी में कर लूँगा। आज तक घर का सिर्फ़ यही हिस्सा—यह ग्लेज़्ड बरामदा, जिसमें मैंने अपनी पढ़ने की मेज़ लगा रखी है, मुझे अपना लगता रहा है। ख़ासतौर से माँ और वरीन को अमृतसर भेजने के बाद से। निचले हिस्से में तो उसके

बाद कभी ख़ास बैठा ही नहीं। जिस दिन माँ और वरीन को स्टोर में शिफ़्ट करके नीचे बाहर के कमरे को उसने 'प्रॉपर' ड्राइंग-रूम बनाया था, उस दिन से उस कमरे में सिर्फ़ मिलने आनेवालों के साथ ही बैठा हूँ, अकेला शायद कभी नहीं। मगर आज जब कि नीचे-ऊपर कहीं कोई नहीं है, यह स्टडी भी अपनी नहीं लग रही। बेड-रूम से पलंग यहाँ ले आने को मन नहीं कर रहा। मन में एक धुकधुकी-सी महसूस हो रही है कि क्यों न मैं भी अब इस घर को ख़ाली कर दूँ? माँ और वरीन चले गए हैं, शीला चली गई है—कारण चाहे जो भी रहे हैं—तो मैं ही क्यों अब यहाँ रहूँ? मगर सोचना शायद यह है कि मुझे सिर्फ़ क्वार्टर बदलना है या इस शहर को ही छोड़ देना है?

कभी-कभी लगता है कि दिमाग़ बूढ़ा हो गया है। कुछ भी सोचने या तय करने की शक्ति इसमें नहीं रह गई। शीला के जाने का निश्चय भी तो कितने-कितने अनिश्चयों के बीच से हुआ है। क्यों यह सब ऐसे हुआ है और वैसे नहीं जैसे कि इसे होना चाहिए था?

उसका पत्र शायद सात-आठ तक मिलेगा। पता नहीं वहाँ जाकर उसे कैसा लगता है। और मुझे कैसा लग रहा है? कल शाम तक कनविंस तो अपने को यही कर रहे थे कि दूर रहकर शायद हम ज़्यादा अच्छे मित्र बने रह सकते हैं। मगर यह सब कहना-सोचना क्या सिर्फ़ लॉजिक के स्तर पर ही नहीं था? या अपने को झुठलानेवाले एक विश्वास के स्तर पर? कहीं हम दोनों, इस कार्यक्रम को लेकर, एक-दूसरे से अभिनय नहीं करते रहे हैं? स्टेशन पर भी, जब वह मैगज़ीन के पन्ने पलट रही थी, यह अभिनय ही नहीं चल रहा था? उसे कब कितनी छुट्टियाँ होंगी और मुझे कब कितनी, इसका हिसाब क्या अपने बीच की वास्तविकता को ढाँपने का एक बहाना ही नहीं था?

सच कितनी तोड़-फोड़ हुई है इस बीच। उसके अन्दर, मेरे अन्दर। शायद माँ और वरीन के अन्दर भी। कहीं हम सब एक-दूसरे के प्रति शिष्ट होने के प्रयत्न में अपने-अपने को कितना छीलते रहे हैं! जहाँ अन्दर की एकात्मकता न हो, वहाँ एक का दूसरे को बर्दाश्त करना कितना बड़ा संकट होता है! यह संकट हममें से हर एक ने सहा है और सहते-सहते घर ख़ाली होता गया है। शायद अन्तिम परिणाम इसका यही होना है कि मैं भी इस घर को ख़ाली कर जाऊँ।

परीक्षा का परिणाम अभी नहीं आया। शायद उससे निर्णय लेने में सहायता मिले।

मन हो रहा है कि फिर बाहर निकल जाऊँ, कुछ देर अकेला घूम लूँ। मगर... लौटकर फिर उसी तरह ज़ीना चढ़ना होगा, उसी तरह अकेले कमरे में दाख़िल...यूँ भी डेढ़ बज गया है और...

शिमला : 15-9

क्यों ये अस्थिरता और तनाव हर वक़्त बने रहते हैं? क्यों नहीं किसी भी वक़्त अपने को सहज और सुस्थित महसूस कर पाता? कभी लगता है कि यह अस्थिरता अपनी व्यक्तिगत परिस्थितियों के कारण है। कभी लगता है कि यह निश्चिन्त होकर लिखना चाहने और न लिख पाने के कारण है।

अन्दर जो लावा उफनता रहता है, वह शारीरिक है या मानसिक? इतना तो लगता है कि वह लावा अपने लिए रास्ता चाहता है—यह उसे रास्ता न मिलने की ही खलबली है, जो इतना बेचैन बनाए रखती है। मगर लिखने बैठने पर सिर पथरा जाता है और जो थोड़ा-बहुत लिखा जाता है, वह सब बेकार और अवास्तविक लगता है। इस बीच कई बार कोशिश की है एक उपन्यास लिखने की, पर हर बार बीस-तीस पन्ने लिखने के बाद फाड़ दिए हैं! घटनाएँ, व्यक्ति, अपना जाना-समझा सब कुछ—वह किसी तरह ढलता ही नहीं एक ढाँचे में। इससे लगता है कि वह कुछ मेरे अन्दर नहीं है जिससे व्यक्ति सचमुच लिख सकता है। वरना लिखने के लिए क्या पहाड़ खोदने की ज़रूरत है?

कभी-कभी लगता है कि शब्दों का माध्यम ही बहुत अधूरा है। अपनी बात कह सकने के लिए कोई और माध्यम चाहिए—सम्पूर्ण माध्यम। पर सम्पूर्ण माध्यम क्या कोई भी है? कहीं आदमी रंगों से जकड़ा रहता है, कहीं मुद्राओं से। फिर?

परन्तु अभिव्यक्ति का कोई माध्यम हो, यही क्यों आवश्यक है? क्यों नहीं मैं केवल जीकर—देख-सुन-चखकर—सन्तुष्ट रह सकता?

क्यों नहीं—अब इसका क्या उत्तर है? कोई तर्क-संगत उत्तर हो भी, तो क्या उससे इस लावे से छुटकारा पाया जा सकता है?

उस दिन म...से भेंट हुई थी। उसकी शादी के बाद पहली बार। शादी में हम दोनों गए थे, मगर बीच से ही उठ आए थे। मुश्किल से पाँच मिनट बैठे थे। एम.पी. के पिता ने तब कहा था, "फीलिंग आउट ऑफ़ सॉर्ट्स?" इसलिए कि जमघट सरकारी अफ़सरों का था?

म...से भेंट हुई गेंडामल में। वह कुछ ख़रीद रही थी। "आजकल क्या लिख रहे हो?" उसने पूछा। उसे एक लम्बा-सा जवाब दिया। पर बोलते हुए अपने को ही लगा था कि उसमें कुछ कह सकने से ज़्यादा कोशिश सिर्फ़ बोलते जाने की है। बीच में वह दुकानदार से बात करने लगी, तो विश करके जल्दी से बाहर निकल आया।

कुछ किताबें पढ़ी हैं। बहुत दिनों के बाद। प्राण नागपाल ने 'नदी के द्वीप' की प्रशंसा की थी। पढ़ते हुए लगता रहा जैसे कोई लगातार मुझसे झूठ बोल रहा हो, अपना एक अधूरा-सा अनुभव पूरे अनुभव के रूप में मेरे ऊपर लादने की स्मार्ट कोशिश कर रहा हो।

दिमाग़ में या जंग लग गया है या किसी मकड़ी ने जाला बुन दिया है। कोई ऐसा पाउडर या स्प्रे होना चाहिए जिससे किसी इतवार को इसकी सफ़ाई की जा सके।

शिमला : 3-10

स्कूल। ड्यूटी का दिन। प्रेप टाइम।

लड़के क्लासों में हैं। अब घंटा-सवा घंटा सिवाय बरामदों में घूमकर 'ड्यूटी' देने के कोई काम नहीं। सिक्स्थ फार्म से इस तरफ़ को आते हुए हँसी आई अपने पर। अपने काले चोगे की वज़ह से। क्लासें पढ़ाने के लिए ही नहीं, शाम की ड्यूटी देने के लिए भी चोगा पहना। क्यों? क्योंकि तुम मास्टर हो। मतलब जो ड्यूटी दे रहा है, वह मास्टर है। तुम जाओ भाड़ में।

इस समय मन में आ रहा है कि अगर मैं अभी अपना चोगा उतारकर यहीं रख दूँ और अलग खड़ा हो जाऊँ? तव न चोगा मास्टर होगा, न मैं। तो फिर मास्टर हम दोनों में से कौन है? हम दोनों एक मास्टर-यूनिट के दो स्पेयर-पार्ट हैं, जिन्हें जोड़ने से मास्टर नाम का यन्त्र तैयार होता है? या एक कैमिकल मैं हूँ जिसमें यह दूसरा कैमिकल चोगा मिलाने से मास्टर नाम का सॉल्यूशन हासिल होता है।

बरामदे के इस हिस्से में आकर हर बार क़दमों की रफ़्तार सुस्त पड़ जाती है। सामने स्कूल की घंटी का पीतल ऊबते सूरज की लाली में बहुत अकेला और उदास नज़र आता है। उसे देखकर लगता है कि वह भी एक स्पेयर-पार्ट है जो अपने अन्दर से गूँज पैदा करने के लिए गांग की चोट की प्रतीक्षा करता है—मगर क्या सचमुच इसकी हस्ती एक स्पेयर-पार्ट के रूप में ही है—वरना पीतल के चमकते डिस्क के रूप में यह कुछ भी नहीं?

मन होता है कि चोगा उतार दूँ और इस पीतल के डिस्क को लेकर स्कूल से नीचे जानेवाली किसी कच्ची पगडंडी पर उतर जाऊँ। वह चाहे जहाँ ले जाए। उसके बाद कम-से-कम हम दो तो ड्यूटी देने से बच जाएँ—यह पीतल और मैं।

सामने वी कट की पहाड़ी है। पहाड़ियाँ तो सभी वी कट की होती हैं। यह भी है। इसे देखते हुए हर बार लगता है कि किसी दिन इसके वी कट को पार करके उस तरफ़ जाना है, जो यहाँ से ओट में है, उसे उधर जाकर देखना है।

जाने क्यों हर वक़्त यह बेचैनी मन में बनी रहती है कि यहाँ नहीं रहना है—बल्कि जहाँ कहीं भी होऊँ, वहाँ नहीं रहना है, रहना कहीं और जाकर है। आनेवाले कल की शाम यहाँ इस तरह यह करते हुए नहीं काटनी, कहीं और जाकर काटनी है, किसी और तरह, कुछ और करते हुए।

ड्यूटी के दो राउंड और पूरे कर लिए हैं। अँधेरा हो गया है। पीतल अब नहीं चमक रहा। अब वह एक काला डिस्क है, जिसके नीचे तीन पैरों का स्टैंड है। मेरे

दिमाग़ से भी कच्ची पगडंडी ग़ायब हो गई है। चपरासी घंटी बजाने जा रहा है। मुझे भूख लग गई है। घंटी बजते ही घर की तरफ़ भागना है—अर्थात् एक ख़ाली ज़ीने और तीन ख़ाली कमरों की तरफ़ जहाँ एक बन्द टिफ़िन-कैरियर और तीन घंटे की छटपटाहट इन्तज़ार कर रही होगी।

शिमला...?

दिन-भर काफ़ी शोर मचाया। मदन, पुरुषोत्तम तथा दो-एक और लोगों के साथ। तस्नीम की बहुत लेग-पुलिंग की। उस बेचारे को एक तरह से रुला ही दिया। जहाँ जो अंट-संट मिला, खा लिया। ज़िन्दगी में पहली बार ठर्रा चढ़ाया। वापसी में डेढ़ घंटा गिरजे में बिताने के बाद बहुत बेचैनी महसूस की। घर लौटकर काफ़ी देर चहलक़दमी की—एक चक्कर सड़क का भी लगा लिया। फिर भी नींद नहीं आई, तो बैठकर त्यागपत्र लिख दिया।

शिमला...?

हरामज़ादे। मेरी नोटबुक चुरा ली। रोज़ की तरह अपने पिजनहोल में छोड़ आया था। दावा करते हैं अपने कल्चर्ड होने का। डेढ़ महीने की मेहनत चली गई। पूरा-पूरा ख़ाली पीरियड बैठकर लिखता रहा था। फुलस्केप साइज़ की कॉपी के कुछ नहीं तो साठ-सत्तर पन्ने तो लिखे ही थे। पता था सिर्फ़ त...ब...और ज...को। कसूर अपना ही है जो शेखी में इन्हें बता दिया था। इन्हीं में से किसी ने पहुँचा दी होगी रिपोर्ट अपने अब्बा के पास। पर क्या मेरा दिमाग़ भी चुरा लेगा कोई?

शिमला...?

आज म...से काफ़ी बातें हुईं। एम.पी. के यहाँ गया, तो वह पहले से वहाँ थी, जिस तरह सादी पोशाक में थी, उससे लगा कि शायद दो-तीन दिन से वहाँ आई हुई है। चेहरे पर एक प्रौढ़ता-सी भी लगी, दस महीने के विवाहित जीवन की। शरीर शाल से ढँका होने पर भी स्पष्ट था कि उसे चौथा या पाँचवाँ महीना चल रहा है। चाय बनाने में उसने तत्परता पहले से ज़्यादा दिखाई। फिर भी लगा कि उसमें पहले की-सी सहजता न होकर कहीं एक प्रयत्न है। यह बात अच्छी लगी कि उसके चेहरे पर वैसा मेक-अप नहीं था, जैसा उस दिन गेंडामल में था।

पहले कुछ देर सिर्फ़ औपचारिक बातें हुईं। दोनों अनुपस्थित व्यक्तियों (उसके पति, मेरी पत्नी) के बारे में थोड़ी-बहुत जानकारी का आदान-प्रदान। मैंने शीला का ज़िक्र होने पर काफ़ी कुछ झूठ कहा। इससे मन को यह राहत मिली कि शायद वह भी उसी तरह झूठ बोल रही हो। फिर बातचीत आबोहवा को छूती हुई आदमी की 'सुख' की

खोज पर आ गई। इस मुक़ाम पर भी दोनों तरफ़ से साफ़ कुछ नहीं कहा गया। 'फ़र्ज़ करो' के आश्रय से अपने जीवन के हल्के संकेत। 'जो मैं उनके लिए नहीं कर पाती', 'जो मैं उससे नहीं कह पाता' जैसी परोक्ष बातें। फिर धीरे-धीरे पहले के धरातल पर पहुँचकर एक हल्की झड़प। "जो आदमी व्यक्ति रूप में अपने को बहुत अलग या विशिष्ट मानता है, वह ज़रूर अपने अन्दर एक हीनभावना का शिकार होता है," उसने कहा। हालाँकि ज़िक्र किसी और का हो रहा था, फिर भी लगा कि यह बात उसने मुझे सुनाकर कही है। इससे ख़ामख़ाह साधारण और असाधारण की बहस छेड़ बैठा। "असाधारण दुनिया में कोई नहीं होता। हो ही नहीं सकता।" उसकी इस ज़िद से काफ़ी देर माथा फोड़ता रहा। पर जो कुछ कहा, उस पर स्वयं अपने को विश्वास नहीं था। 'किताबों में जो कुछ मिलता है, जिया जा रहा जीवन उससे बिलकुल मेल नहीं खाता।" उसका यह आक्षेप भी अपने ही ऊपर ले लिया। इससे उन किताबों की वकालत पर उतर आया जो ख़ुद को भी बेकार लगती हैं। चेखव का हवाला देते हुए कहा, "साहित्य वास्तव में एक जेहाद है—झूठ, धोखा, दुराव-छिपाव, बेईमानी, अन्धविश्वास, दकियानूसी और क्रूरता आदि के ख़िलाफ़।" "मलतब लेखक का अपने ख़िलाफ़ जेहाद?" उसने जिस इतमीनान के साथ कहा, उससे अपना आप काफ़ी छोटा महसूस हुआ। आख़िर जब उठकर वहाँ से चला, तो यह बात लगातार मन को कोंच रही थी कि उसने जान-बूझकर बार-बार मुझे छोटा करने की कोशिश की है। यह क्या सिर्फ़ इसलिए नहीं था कि...?

शिमला...?

दिन-भर हँसने, बकवास करने और बेलगाम होकर जीने के बाद अब अपने से चिढ़ क्यों हो रही है? 'वह भी मैं ही था', यह स्वीकार करते नहीं बनता क्या?

लेकिन उसमें बुराई क्या थी? खुलकर जीना गुनाह है क्या? ज़ोर-ज़ोर से हँसना, गालियाँ बकना और अपने को पूरी तरह वातावरण में खो देना, इसमें कुछ ऐसा नहीं था जो कोशिश से किया गया। फिर यह कुढ़न क्यों?

शिमला : 11-11

विशाल समुद्र में एक लम्बी और अनिश्चित यात्रा...कुछ ऐसा ही अपना भविष्य मुझे लगता है। जो अनिश्चित है, वह है यात्रा का आरम्भ। आगे इठलाता समुद्र है, जिसमें साहिल कभी भी, कहीं भी, कोई भी मिल सकता है। मगर लक्ष्य किसी भी साहिल को पा लेना नहीं, उस पानी में लगातार चलते चलना है, जो इस साहिल से उस साहिल तक, और उस साहिल से अगले साहिल तक अनेकानेक चुनौतियाँ लिए फैला है, और जो अपनी सारी बदलती मुद्राओं के बावज़ूद सब जगह एक-सा गहरा, खारा और तूफ़ानी है।

बस, अब तीन ही हफ़्ते हैं यहाँ से चलने में। क्या सचमुच उसके बाद में एक नई ज़िन्दगी की शुरुआत होगी?

मैं उन सब पत्थरों और पत्तों को छूना चाहता हूँ जो मुझसे बहुत दूर हैं, जो जितने दूर हैं, उन्हें उतनी ही चाहना के साथ। क्या मेरी इस चाहना की उन-उन पत्थरों और पत्तों पर भी कुछ प्रतिक्रिया होती है?

ओह! आनेवाली ज़िन्दगी में मैं कितनी अप्रत्याशित स्थितियों की कामना करता हूँ! कितना चाहता हूँ कि हर आनेवाला दिन बीते दिन से बिलकुल अलग और नया हो—उस कल के बीच से उगकर भी 'एक और वैसा ही दिन' नहीं।

शिमला : 17-11

पादरी ने भाषण दिया। ईश्वर और शैतान के संघर्ष को लेकर। मतलब हुआ कि ईश्वर और शैतान दो समकक्ष इकाइयाँ हैं। ईश्वर की तरह शैतान भी अपने में एक पूर्ण शक्ति है जिसके होने में उसके अपने सिवा और किसी का दख़ल नहीं। कि सृष्टि या तो दोनों की मिली-जुली चेष्टा से बनी है, या दोनों से अलग वह तीसरी स्वतन्त्र इकाई है, जिसे लेकर दोनों में संघर्ष चलता है।

फिर उसने बात की आध्यात्मिक सुख और शारीरिक सुख की—मनुष्य जीवन में ईश्वर और शैतान की देन के रूप में। कहा कि पहला सुख जहाँ वास्तविक है, सम्पूर्ण और चितरंजन, वहाँ, दूसरा एक आभास मात्र है, छद्म और अस्थायी, जैसे काई पर से फिसलते पाँव का रोमांच। न जाने क्यों सब अध्यात्मवादियों को शरीर का निषेध करने की बात ही सबसे पहले सूझती है। जहाँ 'आत्म' की चेतना जागती है, अपने शरीर के उस स्पन्दन की क्या इन्हें अनुभूति ही नहीं होती? या कि उस स्पन्दन को ये विराट जीवन की संगति के अन्तर्गत देख ही नहीं पाते? या ये बात केवल बात के लिए ही करते हैं, क्योंकि जीते ये भी तो आख़िर उन्हीं स्पन्दनों की व्याप्ति में हैं।

मैं चुपचाप बैठा सुनता रहा। फिर प्रार्थनाएँ शुरू हुईं, तो झुकी खोपड़ियों की क़तारों को हिलते देखता रहा। दुनिया भर के मन्दिरों, मस्जिदों और गिरजाघरों में ये क़तारें इसी तरह हिलती हैं, जैसेकि अनेकानेक शरीरों को एक जगह पथरा दिया गया हो और किसी यन्त्र से उनके पेंच कसकर उन्हें उस यन्त्र की इच्छा से ही हिलाया जा रहा हो। ऐसे में हर जगह मुझे लगता है जैसे वर्तमान से धकेलकर मुझे अतीत के किसी बन्द तहख़ाने में डाल दिया गया हो, जबकि वर्तमान समय पाकर पेड़ की डालों में उचक-उचककर अन्दर झाँकने की चेष्टा कर रहा हो।

प्रार्थनाएँ इतनी देर चलती रहीं कि बैठे-बैठे पैर सुन्न हो गए। मैं सारा समय चुपचाप सामने के क्रॉस को देखता रहा। सोचता रहा कि यदि सचमुच ईश्वर और

शैतान के नाम की दो अलग-अलग इकाइयों की सत्ता है, तो शैतान नाम की इकाई को ईश्वर नाम की इकाई से कहीं अधिक शक्तिशाली होना चाहिए क्योंकि उसे ईश्वर की तरह अपना बेटा दुनिया में भेजने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसका काम बिना सलीब और पादरियों के ही चल जाता है। साथ यह कि अगर शैतान को भी ये सब करतब करने की आवश्यकता महसूस होती, तो उसका मन्दिर या गिरजाघर कैसा होता? उसमें शायद दो बड़े-बड़े सींग और दो बड़े-बड़े कान होते, जिनके बीच एक लम्बी-सी पूँछ लटका करती। शैतान के पुजारी या पादरी तब लोगों को पूँछ का महत्त्व समझाते हुए भाषण देते और लोग इसी तरह झुक-झुककर उसके सामने भी ऐसी ही प्रार्थनाएँ किया करते...?

शिमला : 23-11

जो महसूस कर रहा हूँ, उसे शब्दों में नहीं रख पाऊँगा। इसलिए नहीं कि साहस नहीं है, बल्कि इसलिए कि उसके लिए ठीक शब्द मिल नहीं पाएँगे।

मन पर एक कोहरा-सा छाया है। मगर यह अन्धा-घना कोहरा नहीं है। इस कोहरे में कहीं एक पारदर्शी-सी अनुभूति भी है—आरपार देख सकने का हल्का-सा आभास। यह पारदर्शिता कोहरे को चीरकर नहीं, उसके अन्दर ही है। इससे एक ओर तो लगता है कि मेरी सोच पर इस समय एक गहरी धुन्ध छाई है और दूसरी ओर, कि जिस गहराई तक इस धुन्ध में सोचा जा सकता है, उस तक बिना इसके नहीं। जैसे कि कुछ अदृश्य परतें, जो सदा से मस्तिष्क को घेरे रही हैं, अब कोहरीली होकर ही पारदर्शी हो पाई हैं। यह इस कोहरे का ही प्रकाश है जिसमें कि परतों का होना महसूस किया जा सकता है। इन परतों में घिरा-ढका मैं अपने को पहले से कुछ अधिक सूक्ष्म रूप से देख पा रहा हूँ—कुछ ऐसा-सा लगता है।

मगर जो महसूस कर रहा हूँ, उसे व्यक्त करने के लिए शब्द? साथ त...के कमरे से आती रेडियो की ऊँची आवाज़ मुझे उन शब्दों तक पहुँचने नहीं दे रही है। परन्तु कहीं यह भी लगता है कि जब तक वह आवाज़ चल रही है, तभी तक यह अनुभूति भी है। उस आवाज़ के बन्द होते ही यह भी स्विच-ऑफ़ हो जाएग़ी और इस वेव-लेंग्थ को मैं फिर कभी नहीं छू पाऊँगा।

शिमला : 25-11

आज फिर हिमाक़त की है—डायरी साथ स्कूल में ले आने की। एक उद्‌देश्य त...ब...और ज...को यह जतलाना था कि नोटबुक चुराकर वे लोग मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सके। त...से यह कहा भी कि जो कुछ मैं दिन में अपनी नोटबुक में लिखता था, वह घर जाकर रात को डायरी में भी लिख लेता था। हालाँकि बात बिलकुल झूठ

थी, फिर भी कहते हुए अपने को काफ़ी उत्साहित पाया। पर बाद में मन उदास हो गया क्योंकि त...के चेहरे पर इसकी कोई प्रतिक्रिया नज़र नहीं आई।

कुछ अजीब-सा भाव हो गया है सब लोगों का। शायद इसलिए कि उन्हें लगता है अब मुझे यहाँ से चले जाना है। हर आदमी एक दूरी के साथ बात करता है—वह दूरी जो कि अतिरिक्त आदर का रूप ले लेती है। मैं खुद भी अपने को सबसे अलग-थलग एक मेहमान की तरह महसूस करता हूँ। इसलिए अक्सर टी और लंच ब्रेक में बिलकुल अकेला पड़ जाता हूँ। लोग पास आकर बात भी करते हैं, तो बहुत रस्मी तौर पर। स्कूल की पॉलिटिक्स की बात अब मुझसे कोई नहीं करता; बल्कि मुझे आते देखकर चल रही बात का रुख भी पलट दिया जाता है। हर ख़ाली दिन, आज के दिन की तरह, बहुत ही ख़ाली लगता है। परीक्षाओं से पहले जब तक क्लासें चल रही थीं, तब तक तीन बजे तक बँधकर स्कूल में रहना उतना भारी नहीं लगता था जितना इन दिनों लगता है।

कॉमन-रूम में धूप नहीं थी, इसलिए यहाँ पैविलियन में चला आया हूँ। रात को देर तक नींद नहीं आई थी। इसलिए आँखें नींद से भरी हो रही हैं। नींद के अलावा ऊब से भी। तीन बजे तक यहाँ कुछ करने को नहीं है, फिर भी तब तक इमारत को छोड़कर जाने की इजाज़त नहीं है।

अभी दो साल पहले की तो बात है, जब इस पैविलियन में बैठकर सबकुछ नया-नया-सा लगा करता था। महसूस होता था कि आनेवाली ज़िन्दगी का सबकुछ अपने हाथ में है—अपनी मुट्ठी में बन्द। मैं एक-एक उँगली खोलकर उसे मुट्ठी से अपने सामने खुलते देखता रह सकता हूँ। मगर अब लगता है कि हाथ में जो कुछ था, वह हाथ में ही गल-सड़ गया है—जो कुछ जीने को है, वह सब अपने हाथ से बाहर का है। लोगों के बीच हँसता आज भी उसी तरह से हूँ, मगर कहीं अपनी हँसी बहुत झूठी और खोखली जान पड़ती है। और अगर वह खोखली नहीं होती, तो भी हँसने के क्षणों तक ही सीमित होती है। बाद में मन पर उसका कोई प्रभाव नहीं रह जाता। नहीं, प्रभाव तो रह जाता है, पर वह पानी में डूबे काग़ज़ पर हवा से पड़ी लकीरों जैसा होता है। ऐसे, भीगकर सूखे काग़ज़ की फड़फड़ाहट बल्कि खड़खड़ाहट कितनी बेचैन कर देनेवाली होती है।

पैविलियन की नीचे की एक बेंच पर बैठे सिक्स्थ फार्म के कुछ लड़के आपस में बात कर रहे हैं। बातचीत का विषय एक न होते हुए भी एक ही है। परीक्षा, अंक, रिपोर्टें, भूगोल, इतिहास, हिन्दी, अंग्रेज़ी, रुपए-पैसे, ड्राई-क्लीनिंग, बर्थ डे पार्टी और अगला साल। वास्तविक विषय यह अगला साल ही है जिसके विषय में हर एक की अपनी-अपनी योजना है। "मैं तुम्हें बताऊँ मेरा क्या प्लान है? मेरे डैडी कहते हैं कि..." उनमें से किसी ने सुझाया है कि उन्हें नीचे ग्राउंड में चलकर सॉकर खेलना

चाहिए। किसी बात पर उनमें झगड़ा हो रहा है, पर वे अब उठकर चल देने की तैयारी में हैं।

पैविलियन के नीचे क्रिकेट और सॉकर का ग्राउंड है, जिसके तीन तरफ़ ऊँची जाली लगी है। उससे नीचे एक और ग्राउंड है। दाएँ, बाएँ खुली घाटी है। दाईं तरफ़ घाटी से आगे पहाड़ियों की शृंखलाएँ हैं। आगे की शृंखला बीच से मालाकार हो गई है, जिससे पीछे की शृंखलाओं के डाइमेनशंस अधिक उभर आए हैं। बाईं तरफ़ भी तीन-चार शृंखलाएँ हैं, परन्तु उधर चोटियों के कोण इस तरह एक-दूसरे को काटते गए हैं कि पहली नज़र में वे एक साथ उठी कितनी ही पहाड़ियों जैसी लगती हैं। देखकर एकाएक कब्रिस्तान का भ्रम होता है। धूप और छाया में उनके डोम्ज कुछ इसी रूप में उभरे हैं। जहाँ दाईं तरफ़ देखने पर आज से परे भविष्य का एक मार्ग-सा खुला प्रतीत होता है, वहाँ बाईं तरफ़ नज़र जाते ही सबकुछ रुँधा-रुँधा और रुका-रुका-सा महसूस होने लगता है। दाईं तरफ़ एक सम्भावना है और बाईं तरफ़ एक नकार-सूना, रहस्यमय और चिरकालिक। दाईं तरफ़ तैरती चीलें भी खुले आकाश में उड़ती हुई लगती हैं जबकि बाईं तरफ़ वे एक अभिशाप से घिरी, चुपचाप एक उदास परिधि में मँडराती नज़र आती हैं।

लड़कों की आवाज़ें नीचे ग्राउंड में चली गई हैं। अभी थोड़ी देर में फुटबाल पर पड़ती पैरों की चोट भी उन आवाज़ों में शामिल हो जाएगी।

मुझे समझ में नहीं आता कि मैं क्यों यह सब लिखता रहता हूँ। लिखने से मन हल्का न होकर भारी हो जाता है। क्या कोई ऐसा खेल है, जिसे खेलने से मन सचमुच हल्का हो सके? मैं सॉकर क्यों नहीं खेलता?

शिमला : 26-11

जीना चाहते हो, तो तुम्हें जीना चाहिए। सिर्फ़ जीने की बात सोचते रहने का कोई अर्थ नहीं। यह जीने के नाम पर एक तरह की आत्मरति है। तुम बाहर की वर्जनाओं से इतना छटपटाते हो। पर अपने अन्दर की वर्जनाओं को क्यों चुपचाप स्वीकार किए रहते हो? वास्तव में जिस हेडमास्टर के नियन्त्रण से तुम्हें छुट्टी पानी है, वह स्वयं तुम ही हो।

शिमला : 28-11

यहाँ से जाना तो है, मगर कहाँ?

सिवाय आगरा के कौन-सी जगह है जाने को? अमृतसर जाकर दो दिन से ज़्यादा नहीं रह सकता। उस शहर से उसी दिन जड़ें उखड़ गई थीं जिस दिन पिता का शवदाह किया था। उसके बाद वहाँ रहने पर भी वह शहर कभी अपना नहीं लगा।

लाहौर में सैटल होना चाहता था, पर विभाजन ने वहाँ से भी उखाड़ दिया। बम्बई में, दिल्ली में, जालन्धर में और यहाँ—आज तक सब जगह अपने को बेगाना महसूस किया है। हर जगह लगता रहा है कि यह 'बीच का समय' है जिसे किसी तरह काटकर कहीं और जाकर सैटल होना है। पर बारह साल निकल गए गर्दिश में, और यह बीच का समय समाप्त होने में नहीं आया।

आगरा और अमृतसर, दोनों जगह पत्र लिखते मन उखड़ता है। दिन-ब-दिन एहसास गहरा होता जाता है कि न मैं यहाँ से जुड़ा हूँ, न वहाँ से। विभाजन से जो लोग विस्थापित हुए, उन्हें पीछे के एक घर का मोह तो था। पर मुझे न पीछे के किसी घर का मोह है, न आगे के। अगर कुछ है, तो सिर्फ़ एक ज़िम्मेदारी का एहसास। वह न हो, तो कभी एक दिन के लिए भी अमृतसर न जाऊँ। माँ को हर महीने जो रुपए भेजने होते हैं, वे भेजकर ही निश्चिन्त हो रहूँ। दूसरी तरफ़ आगरा स्टेशन पर भी कभी न उतरूँ। गाड़ी के एक बार वहाँ से आगे निकल आने पर विश्वास कर लूँ कि वह स्टेशन हमेशा के लिए पीछे छूट गया है।

एक बात मन में आती है कि क्यों न सामान आगरा डालकर तीन-चार महीने के लम्बे सफ़र पर निकल जाऊँ। रात-दिन थर्ड क्लास के डब्बों में धक्के खाता फिरूँ। जहाँ जो गाड़ी तैयार मिले, उसी का टिकट लेकर आगे को रवाना हो लूँ। रहने के नाम पर कहीं एक दिन के लिए भी न रहूँ। हो सकता है इससे मन को कुछ राहत मिले और बाद में कहीं टिककर रहने की बात सोची जा सके।

चलते समय कुल चौदह सौ रुपए होंगे अपने पास—प्रॉविडेंट फंड और छुट्टियों की तनख़्वाह के। इतने से सफ़र का ख़र्च तो निकल ही सकता है। बाद के लिए हो सकता है कि प्रगति प्रकाशनवालों से बात करके कुछ व्यवस्था हो जाए। प्राण नागपाल पहले उपन्यास चाहता है। उससे बात करूँगा, अगर वह थर्ड क्लास की एक लम्बी यात्रा का विवरण पहले छापने को तैयार हो जाए।

स्कूल से और इस घर से मन का रिश्ता इस तरह टूट गया है कि आज अपने को यहाँ एक प्रेतात्मा की तरह महसूस करता हूँ। अपने इस स्वभाव से दहशत होती है! एक बार मन जिससे टूट जाता है वह व्यक्ति, घर हो, या परिस्थिति—लौटकर उसकी तरफ़ देखने की भी बात नहीं सोचता। संकल्प का एक क्षण आता है जिसके बाद वह 'कुछ' हमेशा के लिए अतीत हो जाता है। अपना मन, जो कछुए के पेट जैसा है, एकाएक कछुए की पीठ में बदल जाता है। उसके बाद कुछ भी हो, संकल्प नहीं बदलता। वितृष्णा इतनी गहरी होती है कि किसी भी परिणाम की चिन्ता नहीं रह जाती। जैसे एक 'क़ैंची' सीधे से उस 'कुछ' को काटकर दिमाग़ से अलग कर देती है। उसके बाद और कुछ भी हो, वह 'कुछ' नहीं रह जाता। परन्तु जब तक संकल्प का क्षण नहीं आता, तब तक लगता रहता है कि मैं निर्णय ले ही नहीं सकता।

'एक बार फिर वैसा होगा', यह तब तक सन्दिग्ध रहता है जब तक कि 'लो, फिर एक बार वैसा हो गया' का क्षण नहीं आ जाता।

एक बात मन में आती है कि और सब कुछ भूलकर कुछ दिनों के लिए कन्याकुमारी चला जाऊँ। यह आकर्षण एक अनदेखे स्थान का है या केवल नाम का? या कि ऐसे सीमान्त का जिससे आगे स्थल नहीं है?

शिमला : 29-11

तेज़-तेज़ सोचना चाहता हूँ...

मैंने विवाह क्यों किया?

इसलिए कि शरीर की भूख मिटाने का कोई उपाय नहीं था?

पर उसका तो उपाय किया जा सकता था।

इसलिए कि अपनी बेघर होने की अनुभूति से बचना चाहता था?

पर उसके साथ हुए पत्र-व्यवहार में घर की खोज कहाँ थी?

इसलिए कि कमानेवाली पत्नी लाकर अपने आर्थिक दायित्वों से मुक्ति चाहता था?

ऐसा था तो उसे पहली नौकरी छोड़कर यहाँ आने के लिए मजबूर क्यों किया था?

इसलिए कि विवाह करना ही था, और जिस पहली लड़की से इस सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार हुआ, उसी को स्वीकृति भेज दी।

शायद यही कारण वास्तविकता के अधिक निकट है। बाद में उसे जो पत्र लिखे, उनमें अपने मन में आग्रह न होने के कई संकेत थे। पर उसने या तो उन्हें समझा नहीं, या समझना चाहा नहीं। और एक बार 'हाँ' कह देने के बाद अपने में इतना साहस नहीं बटोर सका कि अपनी तरफ़ से इनकार लिख दूँ। इस तरह एक तकल्लुफ़ में ही भाँवरें ले लीं और तकल्लुफ़-तकल्लुफ़ में ही...

आज हम दो व्यक्ति हैं जो पति-पत्नी के रूप में जाने जाते हैं। दोनों की जीने की अपनी-अपनी कामना है। उस कामना की पूर्ति के लिए दोनों एक-दूसरे से कुछ चाहते हैं, जो एक-दूसरे को दे सकने के लिए दोनों के पास नहीं है।

क्या हम इस स्थिति को स्वीकार करके इसे बदल नहीं सकते?

लेकिन कैसे?

मैं वहाँ जाने से पहले उसे एक पत्र लिख सकता हूँ।

परन्तु पत्र वह ठीक मनःस्थिति में पढ़ेगी, इसका क्या भरोसा है? बात जो भी करनी हो, सामने बैठकर की जानी चाहिए।

लेकिन सामने बैठकर की गई बात पर किसे विश्वास आता है? और जो बात सामने बैठकर की जानी है, वह बात क्या है?

साथ-साथ जीने के लिए दो व्यक्तियों में परस्पर किसी तरह का तो आकर्षण होना चाहिए। बिना किसी आकर्षण के ढो-ढोकर रात-दिन निकालते जाने का अर्थ ही क्या है?

देखो, विवाह एक संस्था है—एक सामाजिक नियम। उस नियम को तोड़ने की बात सोचना उच्छृंखलता है।

नियम, नियम, नियम। क्या हर सामाजिक नियम किसी-न-किसी प्राकृतिक नियम का उल्लंघन और उसके प्रति उच्छृंखलता नहीं? और हर नियम के, वह सामाजिक हो या प्राकृतिक, टूटने से ही एक नए नियम की ओर नहीं बढ़ा जाता?

सामाजिक दृष्टि से यह सच हो सकता है, प्राकृतिक दृष्टि से नहीं। प्रकृति में निश्चित तत्त्वों की सदैव निश्चित प्रतिक्रियाएँ होती हैं। जहाँ अपवाद मिलता है, वहाँ तत्त्वों का कुछ-न-कुछ विपर्यय अवश्य रहता है। प्रकृति में जो कुछ है, नियमित है। अपनी सारी विषमता में नियमित। इसलिए जो भी प्राकृतिक है, वह नियम से हटकर न होने के कारण उच्छृंखल नहीं है। सामाजिक नियम केवल सुविधा के हैं। उनमें से किसी नियम को तोड़ने की बात सामाजिक दृष्टि से चाहे उच्छृंखलता है, प्राकृतिक दृष्टि से वही नियम की विवशता हो सकती है। स्त्री और पुरुष का पारस्परिक आकर्षण या अपकर्षण, जो कि एक प्राकृतिक नियम का पालन है, सामाजिक दृष्टि से यदि नियम का उल्लंघन हो, तो क्यों जीवन-भर अपने-आपका निषेध करके उस नियम की दासता को निबाहा जाए?

निवृत्ति का कोई भी दर्शन मन को नहीं बाँधता। परमाणु से अनेकानेक सौर-परिवारों तक की निरन्तर गतिशीलता का आधार किसी तरह की निवृत्ति नहीं, एक आन्तरिक प्रवृत्ति है—एक ऐसी वासना जिसकी सृष्टि के विकास-क्रम में चाहे जो भी देन हो, पर जो अपने में ही एक पूर्ति है। विकास के चरम से—यदि उसका कोई चरम है, तो—हटकर इस प्रवृत्ति या वासना का अपना स्पन्दन ही क्या उसका पूर्ण और सार्वकालिक उद्देश्य नहीं? प्रवृत्ति के तिरस्कार का अर्थ है मृत्यु। इसलिए निवृत्ति का हर दर्शन अन्ततः मृत्यु को स्वीकृति की ओर ले जाता है।

परन्तु नहीं। जिसे मैं नियम मानकर स्वीकार कर रहा हूँ, वह तत्त्वों के लावे का प्राकृतिक उफान मात्र ही तो है। वह उफान अपनी प्रवृत्ति में एक बीच की स्थिति है। जीवन की अन्तिम परिणति नहीं। विकास के कुछ अपने नियम हैं जो इस परिणति

को शासित करते हैं। उन नियमों के शासन में परस्पर आकृष्ट होते अणुओं की कई-कई अभिव्यक्तियों—जीवों और पदार्थों के रूप में—लाखों वर्ष वर्तमान रहकर लुप्त हो जाती है। नक्षत्रों की धुराएँ बदल जाती हैं। सबकुछ जैसा आज है, वैसा न रहकर कुछ और हो जाता है। विकास का वह रूप जो प्राकृतिक न होकर मनुष्यकृत अर्थात् सामाजिक है, क्या उसमें भी कहीं उसी शासन का विस्तार नहीं? मनुष्य की चेतना, उस विराट विकास-चेतना की प्रतिनिधि के रूप में, या उसके एक अंश के रूप में, जीवन को आनेवाले कल की उस परिणति की ओर ले जाने में उपादान नहीं बनती? इसका अर्थ है कि निवृत्ति का एक रूप जीवन को प्रवृत्ति के किसी नए मार्ग की ओर ले जाने का पूर्व-चरण भी हो सकता है। इसे स्वीकार न करने का अर्थ होगा मनुष्य के आदिम रूप को ही आदर्श और वास्तविक मानकर चलना। बल्कि उससे भी पीछे जाकर स्पंज को आदमी से अधिक आदर्श मानना—कि समुद्र के गुनगुने पानी में बिना हाथ-पैर हिलाए पड़े हैं और उस पानी के नमक अपने-आप हमारा भरण-पोषण कर रहे हैं!

प्रकृति के पूरे स्पन्दन में यदि विकास की बात को स्वीकार किया जाए, तो सामाजिक रूप में मनुष्य के विकास को अस्वीकार करके नहीं चला जा सकता। इस स्वीकार के साथ मनुष्य की सामाजिक व्यवस्था और उस द्वारा लादी गई निवृत्तियों के स्वीकार की शुरुआत हो जाती है। परन्तु अपने समय-सन्दर्भों में, कौन-सी निवृत्ति कल की प्रवृत्ति का पूर्व-चरण है और कौन-सी केवल अन्धा निषेध, इसका निर्णय बिना परिणाम तक पहुँचे कैसे किया जा सकता है?

दिमाग़ जड़ हो गया। नहीं जानता कि जो अपने-आप सोचा जा रहा है, वही सोच रहा हूँ, या जो सोचना चाहता हूँ, वही सोचने की कोशिश कर रहा हूँ। या शायद इन दोनों के बीच में वास्तविक स्थिति यह है कि सोचने के बहाने मैं सिर्फ़ सोचने से बचना चाह रहा हूँ।

सुनो। माथे पर हाथ फेरो और कुर्सी से उठ जाओ। पहले कब तुम्हारे सोचने का कुछ नतीजा निकला है जो अब निकलेगा?

शिमला : 1-12

कुछ ऐसा-सा लग रहा है जैसे एक ऊँचे पुल पर खड़े होकर नीचे नदी में कूदने वाले व्यक्ति को लग सकता है जबकि उसे पता ही न हो कि नदी का पानी कितना गहरा है, कि सतह से नीचे चिकनी मिट्टी है या खुरदरी चट्टानें...और कि उसे खुद को तैरना आता भी है या नहीं।

आगरा : 7-12

नए वातावरण का एक नया-सा असर महसूस हो रहा है अपने पर।

रात देर तक बात करते रहे। सचमुच दो मित्रों की तरह। सोने से पहले उसने जो कुछ कहा—यहाँ अपने अकेलेपन को लेकर—उससे मन को काफ़ी तकलीफ़ हुई। अगर उसने शिमला में भी कभी इस तरह बात की होती, तो शायद स्थिति बिलकुल दूसरी होती। पर एक तरह से अच्छा भी है। शिमला के घर के साथ इतनी कड़वाहटें जुड़ गई थीं कि उनके प्रभाव से छुटकारा पाना आसान नहीं था। यह छोटा-सा क्वार्टर उस बँगले से कहीं घर-नुमा है। वहाँ शायद इसलिए भी तनाव रहता था कि दोनों में से किसी का भी संस्कार साहिबाना ज़िन्दगी के अनुकूल नहीं था।

सोचता हूँ बाहर के कमरे को अपना पढ़ने का कमरा बना लूँ। वह दिन-भर कॉलेज में रहेगी। मैं यहाँ अपना काम करता रहूँगा। अगर कल और आज का-सा वातावरण हमेशा बना रहे तो दो या तीन महीनों में एक उपन्यास पूरा किया जा सकता है। जो उपन्यास शिमला में शुरू किया था, उसे छोड़कर सोचता हूँ, पहले 'कुत्तेवाली गली' शीर्षक उपन्यास पूरा कर लूँ। अमृतसर की वह गली इतने दिन गुजर जाने पर भी दिमाग़ से नहीं निकली। विभाजन के दिनों में उस शहर में रहते जो कुछ देखा है, वह सब इस उपन्यास में उँड़ेल दिया जा सकता है। उपन्यास के अधिकांश चरित्र तो मन में स्पष्ट हैं ही। उसका ढाँचा थोड़ा और स्पष्ट कर लेना है। एक तरीक़ा यह हो सकता है कि जो कुछ मन में है, उसे बिना किसी क्रम की चिन्ता किए एक बार काग़ज़ों पर उतार लिया जाए। उसके बाद उपन्यास लिखने की शुरुआत की जाए। पर इतना सब करने के लिए जिस तरह जमकर बैठने की ज़रूरत है, वह क्या सचमुच यहाँ रहकर सम्भव होगा?

कम-से-कम आज तो लग रहा है कि सम्भव हो सकता है। कितना भरा-भरा लग रहा है आज अपना आप! किसी का डुबा लेनेवाला स्नेह पा चुकने के बाद रोम-रोम को कितनी सान्त्वना मिलती है! क्षण बीत जाते हैं। पर जो हल्का आभास अपने अन्दर बना रहता है—सिंचाई के बाद मिट्टी में उठते स्पन्दन जैसा—उससे जीने और काम करने की कामना को कितनी उकसाहट मिलती है!

केवल होंठ ही नहीं, शरीर का एक-एक अणु मुस्कुराता है। लेकिन उस मुस्कुराहट को आँख देख नहीं पाती। मुझे लगता है मेरी उँगलियों के पोर इस समय मुस्कुरा रहे हैं।

आगरा : 9-12

'ले मिजराब' पढ़ते-पढ़ते बिस्तर में आ गया हूँ। कल से मन फिर रुँधा हुआ है, बात ख़ास कुछ नहीं हुई। फिर भी दोनों को ही एक हल्का तनाव महसूस होने

लगा है। कारण शायद उस दिन की बातचीत से पैदा हुई अपेक्षा है, जिसकी पूर्ति दोनों एक-दूसरे से चाह रहे हैं। मुझसे उसकी अपेक्षा क्या है और मैं किस तरह उसे पूरा कर सकता हूँ, समझ में नहीं आ रहा।

मेरी अलग रहकर काम करने की अपेक्षा का उसने जो अर्थ लिया है, वह मन को और उलझा रहा है। उससे अपनी स्थिति उस पत्नी की-सी लग रही है जिसे दिन-भर का काम सौंपकर उसका पति सुबह से शाम तक के लिए घर से बाहर चला जाता हो। उस दिन उसने अपने अकेलेपन की बात की थी। पर उसकी व्यस्तताओं को देखकर वैसा बिलकुल नहीं लगता। क्लासों के बाद मीटिंगें, पार्टियाँ और मिलने-जुलनेवाले लोग। उस सबके बीच से समय निकालकर वह दस मिनट के लिए घर में झाँक जाती है। सबसे अजीब कल शाम को लगा जब उसके कॉलेज की कुछ प्राध्यापिकाएँ उससे मिलने आईं। और उसने उनसे परिचय भी नहीं कराया। डेढ़ घंटा बाहर के कमरे में बैठकर उनसे बातें करती रही, 'आ गए हैं आपके वे?' के रूप में मेरा ज़िक्र भी हुआ। मैं उतनी देर अन्दर बिस्तर पर लेटकर अनिवार्य कारावास भोगता रहा। उन्हें विदा देते समय उसने किसी दिन लेकर आने की स्वीकृति भी दी। उसके बाद खाना खाकर किसी बीमार की मिज़ाज़-पुरसी करने चली गई। इस सबके साथ कल और आज के बीच दो बार उसने पूछ लिया है, "अभी उपन्यास का काम शुरू नहीं किया?" चेहरे पर उसके शिकायत भी थी कि देखो, हम तुम्हें इतना वक़्त दे रहे हैं, फिर भी तुम कुछ न कर पाओ, तो कोई क्या कर सकता है?

कल से फिर मन हो रहा है कि पहले दो-तीन महीने बाहर घूमने का कार्यक्रम ही ठीक है। अगर काम करना है, तो कहीं पर भी बिलकुल अकेले रहने की योजना बनानी होगी। जितनी जगह अब तक रहा हूँ, उनमें से दिल्ली ही ऐसी जगह है जहाँ कुछ दिन टिका जा सकता है। पर बग़ैर आमदनी का कोई जरिया निकले वहाँ जाकर रहने की बात सोचना बेकार है। बहरहाल यहाँ से तो निकलना चाहिए। आगे जो होगा, देखा जाएगा।

आगरा : 10-12

शादी की दूसरी सालगिरह। दिन में पिकनिक। लंच साथ लेकर सिकन्दरा चले गए थे अकबर का मकबरा देखने। घर से चलते समय फिर भी कुछ उत्साह था मन में। पर सिकन्दरा पहुँचने तक वह बिलकुल समाप्त हो गया। इसमें रास्ते की जहमत का हाथ नहीं था। लौटते हुए काफ़ी रास्ता पैदल गाह कर आना पड़ा।

एक झड़प सुबह चलने से पहले ही हो गई थी। सामने के क्वार्टर से मिस... मिलने चली आई थी। पहली बार उसे देखा था, तो सोचा था, पंजाब के किसी देहात की होगी। पर नाम से पता चला था, बंगालिन है। उन्हीं के कॉलेज में एक विभाग

की इंचार्ज है। उसने आकर ख़ास कहा भी, "आपके वे कहाँ हैं? उनसे मिलवाइए तो सही।" पर उसने उसे बाहर से ही टाल दिया। दहलीज़ लाँघकर अन्दर क़दम नहीं रखने दिया। उसके जाने के बाद खुद अन्दर आई, तो भन्नाई हुई थी, "भई, तुम्हें बुरा लगा हो या कैसा, मैं इस औरत को अपने घर में नहीं आने देना चाहती।" अपनी पवित्रतावादी नज़र से मेरे कसे हुए चेहरे को देखती हुई बोली, "सारे कॉलेज में इस औरत की इतनी बदनामी है, फिर भी इसे कोई बात छूती ही नहीं। आज इसके साथ घूमती नज़र आती है, तो कल उसके साथ। एक आदमी आता है इसके पास जो रात को भी इसके क्वार्टर में रह जाता है। कहती है उसके साथ इसकी सगाई हो चुकी है, शादी होनेवाली है। पर कोई नहीं मानता कि इसकी सगाई-अगाई हुई है। अगर सचमुच सगाई हुई है, तो दूसरों के साथ क्यों सिर मुँड़ाती घूमती है? सूँघती रहती है किस घर में कौन आदमी आया है, कौन वहाँ से गया है। मैं तो प्रिंसिपल से कहनेवाली हूँ कि मुझे कहीं और क्वार्टर एलॉट कर दें। मैं इसके पड़ोस में नहीं रहना चाहती।"

कहा मैंने कुछ नहीं। पर लगा यही कि ज्यां बेल्ज्यां की तरह अपनी भी ज़िन्दगी एक पुलिस चीफ़ की निगरानी में बीत रही है। स्थिति उस स्त्री की-सी भी है, जिसके चरित्र की रक्षा करना उसका पति अपना कर्तव्य समझता है।

कुछ देर मूड ऑफ़ रहे। पर चलने तक दोनों ने अपने को काफ़ी सँभाल लिया था। एक-दूसरे की आँखों में इस शिकायत के कारण कि देखो, सालगिरह के दिन तो मूड ऐसा नहीं रखना चाहिए। रास्ते में मैंने दो-एक मज़ाक की कोशिश की। पर उसके हर शब्द को गम्भीरतापूर्वक लेने से सिलसिला जमा नहीं। बातचीत 'यह इतना बड़ा टूरिस्ट सेंटर है, फिर भी यहाँ का ट्रांसपोर्ट कितना ख़राब है', 'इस तरह से घर से बाहर आकर खाना कितना अच्छा लगता है', और 'क्यों न वैसे भी कभी-कभार इस तरह घर से निकल आया करें?' के घेरे में ही घूमती रही।

मकबरे में घूमते हुए अपना अकेले न होना काफ़ी अखरा—कुछ भी बात करते रहने की मजबूरी मन को सालती रही। एक वक़्त था जब अपने मन की हर बात बाहर कह सकने पर गर्व किया करता था। पर इधर अपनी लगातार बढ़ती ख़ामोशी अपने को बहुत भयावनी लगती है। जैसे अन्दर की कोई चीज़ मर गई है और मैं उसके ज़िन्दा स्मारक की तरह चलता-फिरता हूँ। हालाँकि बाहर से कोई मुझे उस रूप में देख नहीं पाता। पर सचमुच क्या अन्दर की वह चीज़ मर चुकी है, या मर नहीं रही, इसलिए मैं जबरदस्ती उसे कब्र में दफ़ना देने की कोशिश करता रहता हूँ? जिस दिन वह चीज़ मर जाएगी, उस दिन यह स्मारक भी क्या पत्थर का नहीं हो जाएगा?

अकबर की कब्र के अलावा वहाँ और भी कब्रें थीं। अकबर की दो बेटियों की, जहाँगीर के एक बेटे की, औरंगज़ेब की बेटी बदरुन्निसा की और कुछ और लोगों

की। जेबुन्निसा की बहन बदरुन्निसा भरी जवानी में मौत के मुँह में चली गई थी। उसकी कब्र के पास खड़ा सोचता रहा कि क्या हड्डियों के ढाँचों में भी बूढ़े और जवान का फ़र्क़ होता है। तो जवानी में मरनेवाले को एक तो विशेषता मिल ही जाती है कि उसका ढाँचा मौत के बाद भी उसकी जवानी को बरकरार रखता है। एक बूढ़े ढाँचे पर कितना भी बढ़िया स्मारक बना दो, जवान ढाँचे के सामने वह हमेशा बूढ़ा ही रहेगा। ऊपर से ईंट-पत्थर कितने भी आकर्षक क्यों न हों, नीचे के बुढ़ापे को वे नहीं देख सकते। फिर क्यों ईंट-पत्थरों के स्मारक खड़े करके मृत्यु की वास्तविकता को नकारने का प्रयत्न किया जाता है? यह प्रयत्न क्या मृत्यु की संजीदगी पर एक अश्लील आरोप नहीं? मृत्यु को, जो व्यक्ति का सम्बन्ध उसके वातावरण से बिलकुल काट देती है, एक नया वातावरण दे सकने की कोशिश यूँ भी कितनी व्यंग्यपूर्ण और उपहासास्पद है!

मुख्य कब्र के तहख़ाने में एक बार दोनों साथ गए। एक बार अकेला हो आया। उस बार बाहर आते हुए सीढ़ियों के पत्थरों को देखता रहा। लगा कि वे पत्थर चाहे एक ऐतिहासिक स्मारक की सीढ़ियाँ बने रहने के लिए मजबूर हैं, पर वास्तव में वे अपने-अपने अन्दर की किसी मरी हुई चीज़ के ही स्मारक हैं। अगर उनके अन्दर की वह चीज़ कुछ भी ज़िन्दा होती, तो क्या वे चुपचाप ज़िन्दगीभर एक मकबरे की सीढ़ियाँ बने रहना पसन्द करते? हर उतरते-चढ़ते पैर को एक झटका देकर गिरा देने की कोशिश न करते?

खाना खाने के बाद और रुकने को मन नहीं था, पर उसने रुकने का प्रस्ताव किया, तो हामी भर दी। अपना उत्साह जतलाने के लिए घास पर लेट भी गया। बातें वही होती रहीं—एक दूसरे का चेहरा देखकर कही गई। वह सुझाव देती रही कि मुझे काम न भी करना हो, तो मैं अपना वक़्त किस तरह काट सकता हूँ—पर कि इससे अच्छा काम करने का वातावरण मुझे नहीं मिल सकता। मैं किसी के बाल नोंचने की तरह मुट्ठी-मुट्ठी भर तिगलियाँ तोड़ता हुआ आँखें झपकाता रहा। सोचता रहा कि एक ख़ामोश व्यक्ति के अन्दर जो कुछ अनकहा रह जाता है, उसकी भी कुछ छाप क्या उसके ढाँचे पर अंकित होती है? कोई ऐसा आविष्कार हो सकता है जिससे ढाँचे की परीक्षा करके यह जाना जा सके कि बाहर के इतिहास से हटकर उस व्यक्ति के अन्दर घटित होनेवाले इतिहास का रूप क्या था? सचमुच जाना जा सके, तो वह इतिहास पुस्तकों के इतिहास से कितना भिन्न होगा!

लौटकर आए, तो थकान के मारे बुरा हाल था। उसे थकान इतनी थी कि खाना खाते ही सो गई है। मुझे इतनी कि लगता है नींद आएगी ही नहीं।

आगरा : 11-12

सुबह-सुबह बारिश हो गई। एक आदमी को देखकर हँसी आई जो नन्हा-सा बच्चों वाला छाता लिए अपने को बारिश से बचाने की कोशिश कर रहा था। फिर भी उसका शरीर पूरा भीग गया था। "कुछ तो बचाव होता ही है," अपनी सकपकाहट छिपाने के लिए उसने पास से निकलते हुए कहा।

मैं सोचता रहा कि भीगने की मजबूरी आ ही पड़े, तो क्यों नहीं आदमी अपने को खुलकर भीग लेने देता? हिचकिचाहट उस क्षण तक ही तो होती है जब तक वह छाता सिर से हटा नहीं देता। उसके बाद पहली सिहरन, जब बूँदें सिर से टकराती हैं—फिर कोई दुविधा-बाधा नहीं रह जाती। मगर आदमी इसे आसानी से स्वीकार कहाँ कर पाता है? 'कुछ तो बचाव' की कोशिश चाहे उसे ज़िन्दगीभर विदूषक बनाए रखे, वह कोशिश कहाँ छोड़ता है?

आगरा : 12-12

दो ख़ाली कमरे, पूरा दिन और अपना आप।

एक तरफ़ तो मैं बिलकुल अकेला रहना चाहता हूँ, और दूसरी तरफ़ अकेलेपन के कुछ घंटे भी मुझे दुश्वार लगते हैं। सोचता हूँ, कहीं मैं एक विभक्त व्यक्तित्व तो नहीं लिए हूँ? अपने स्वभाव के कई-कई अन्तर्विरोधों को देखकर कई बार ऐसा सन्देह होता है। अकेलेपन की चाह शायद मुझे माँ से मिली है और भीड़ की ललक पिता से। उन दोनों के विरोधी स्वभाव एक-दूसरे के लिए शायद पूरक रहे हों, पर मेरे अन्दर एक ही व्यक्ति में ढलकर वे मेरे मन को हर समय एक युद्धभूमि बनाए रहते हैं! इसीलिए जो भी कहता, सोचता या करता हूँ, उसके प्रति मन में सन्देह बना रहता है। पर बाहर का हठ (वह दादी माँ का स्वभाव) किसी के सामने अपनी कमज़ोरी को स्वीकार नहीं करने देता।

हर गुज़रते दिन के साथ महसूस होता है कि एक दिन का समय और हाथ से निकल गया है—कि मुझे कोई निश्चय करना था जिसे न कर पाने के कारण ही रोज़-रोज़ ऐसा होता जा रहा है। जब मैं अपने को आश्वासन देना चाहता हूँ तो अपनी उम्र के साल बढ़वा लेता हूँ। सोचता हँ कि मुझे छिहत्तर साल जीना है (वह इसलिए कि इक्कीसवीं शताब्दी को छू सकूँ) जिनमें से अभी कुल अट्ठाईस साल ही बीते हैं, अड़तालीस साल का पूरा समय मेरे पास है। पर जब दुखी होना चाहता हूँ तो छिहत्तर में से पूरे चालीस साल निकाल देता हूँ और मान लेता हूँ कि छत्तीस के बाद तो मैं किसी तरह जी ही नहीं सकता, कुल मिलाकर मुश्किल से आठ साल हैं मेरे पास। अगर इनमें से भी एक-एक दिन इसी तरह निकलता गया तो निश्चय करने-करने में ही करने का दिन आ पहुँचेगा और एक निरर्थक ज़िन्दगी ढोने की कुढ़न मन में लिए

मैं यहाँ से रुख़्सत हो जाऊँगा। सोचूँ चाहे किसी भी तरह से, दिन बीत जाने पर उसके बीतने का एहसास मन को सालता ज़रूर है। एक छटपटाहट-सी बनी रहती है अन्दर कि जितने दिन बाक़ी हैं, उन्हें इस तरह जाया नहीं होने देना चाहिए। रात को सोता हूँ तो इस एहसास के साथ कि कल सुबह के साथ एक नई शुरुआत हो सकेगी। पर वह सुबह भी जब दोपहर में बदलकर शाम में ढलने लगती है तो अन्दर की छटपटाहट नई शुरुआत का सम्बन्ध आनेवाली सुबह से जोड़ देती है।

बहुत बार अपनी यह छटपटाहट बेमानी लगती है। जीवन का निश्चित अन्त मृत्यु है—वह छिहत्तर साल की उम्र में हो या बत्तीस साल की। तो फिर कुछ भी करने का अर्थ ही क्या है?

व्यक्ति की दृष्टि से शायद कुछ भी अर्थ नहीं है, फिर भी अन्दर से एक विवशता-सी महसूस होती रहती है। वह विवशता भूख और सेक्स की-सी ही एक अनिवार्यता है। अपने आपके प्रक्षेपण की। जीवन की समग्रता में उसका प्रभाव आईने में देखी गई एक छाया से अधिक न हो तो भी उस विवशता से बचा कैसे जा सकता है?

परन्तु अपने आपका प्रक्षेपण—इस विवशता को यह नाम देना भी एक खोखली-सी बात नहीं? क्योंकि अपने आपका प्रक्षेपण व्यक्ति कुछ करने की प्रक्रिया में ही नहीं, कुछ न करने की प्रक्रिया में भी करता है। यदि मैं रात-दिन अपने अन्दर एक अस्थिरता या हताशा महसूस करता हूँ तो वह भी क्या मेरे अपने आपका प्रक्षेपण ही नहीं?

शायद कुछ भी करने का अर्थ अस्तित्व और मृत्यु के बीच के अन्तराल को स्वीकार्य रूप से भरना ही है। रूप इसका कुछ भी हो सकता है—पढ़ना-लिखना, डाका डालना, आविष्कार करना, इमारतें खड़ी करना, किसी चीज़ की बुनियाद डालना, किसी चीज़ को ध्वस्त करना...

सिर्फ़ पड़े रहना और सोचते रहना नहीं?

वह भी हो सकता है—यदि अपने आपको स्वीकार्य हो तो। दिक़्क़त यही तो है कि वर्तमान रूप में अपने समय को बिताना मुझे स्वीकार्य नहीं लगता। ऐसी कोई ग़लतफ़हमी नहीं है कि इस रूप से हटकर जिस रूप में मैं अपना प्रक्षेपण चाहता हूँ, उसका कोई विशेष अर्थ होगा। जीवन की समग्रता को किसी भी व्यक्ति के लिए न किए से कुछ अन्तर नहीं पड़ता। और पड़ता भी है तो व्यक्ति की दृष्टि से वह इतना नगण्य है कि उसे अपनी महत्त्वाकांक्षा मानना अपने को धोखा देना है। व्यक्ति की यदि कोई आकांक्षा हो सकती है, तो इतनी ही कि वह अपने स्वाभाविक अनुपात में जी सके, अपने क़द की ऊँचाई में खड़ा रह सके। कोई बोझ उसके घुटनों को पस्त किए रहे, इसका विरोध उसे करना ही चाहिए। यों अपने में उसकी ऊँचाई कितनी

बड़ी है और कइयों की तुलना में कितनी छोटी–इससे उसकी आकांक्षा का कोई सम्बन्ध नहीं।

तो मेरी भी आकांक्षा है अपने क़द में खड़े रह सकने की। मेरे जीवन की इतनी ही सम्भावना है। अपने से बाहर हर व्यक्ति से मेरा सम्बन्ध इतने से ही निर्धारित होता है कि वह कहाँ तक इस सम्भावना की पूर्ति में सहायक होता है या बाधक।

पर सचमुच क्या ऐसा होता है? अपने हर सम्बन्ध को व्यक्ति अकेला निर्धारित कर सकता है? और फिर हर दूसरे की भी तो अपनी एक सम्भावना है...

आगरा : 15-12

यहाँ से चल देने की छटपटाहट बढ़ती जा रही है। पर और कहीं भी जाने से पहले एक बार दिल्ली हो आना आवश्यक है–अपने प्रकाशकों से बात करने के लिए।

कुछ समय राजेन्द्र यादव के साथ यहाँ के साहित्यिक समुदाय के बीच बिताया है। पर दो-तीन घंटे उन लोगों के साथ रह चुकने के बाद घर लौटने पर कुछ भी काम न करने की परेशानी और बढ़ जाती है। अपना ख़ालीपन एक अपराध की तरह लगता है, जिसके लिए अपने को ही उत्तरदायी नहीं मान पाता। जिन लोगों से यहाँ परिचय हुआ है, वे सब अपने-अपने काम में जुटे हुए लगते हैं–विशेष रूप से राजेन्द्र यादव। अपने शारीरिक हैंडीकैप के बावज़ूद उसमें कितना आत्मविश्वास है! कह नहीं सकता कि यह उसमें जन्मजात ही है या जमकर काम करने से पैदा हुआ है।

हालाँकि परिचय बहुत थोड़े दिनों का है, फिर भी यह आदमी किसी तरह की दूरी महसूस नहीं होने देता। जब भी मिलता है, लगता है जैसे हम बरसों से एक-दूसरे को जानते हों। उस दिन उसने अपने उपन्यास का जो अंश सुनाया, वह बहुत अच्छा लगा। यह आदमी जिस तरह अपनी मेज़ से बँधकर काम करता है, उससे सचमुच स्पर्धा होती है। चिट्ठियाँ, काग़ज़, रोज़ का काम, सबकुछ व्यवस्थित। कह रहा था, "उपन्यास का एक-एक शब्द पहले मेरे दिमाग़ में लिखा जाता है, फिर मैं काग़ज़ पर लिखना शुरू करता हूँ।" ऐसा क्या सचमुच सम्भव है? यदि सम्भव है, तब तो अपने पास लिखनेवाला दिमाग़ है ही नहीं। "मैं अपने उपन्यास का कोई भी अध्याय पहले लिख सकता हूँ।" उसकी यह बात कोरी गप लगी थी। पर जिस गम्भीरता से उसने बात कही थी, उससे अपना अविश्वास ही ओछा लगता है।

और जितने लोग मिले हैं, उनके साथ औपचारिकता की एक लकीर बनी रही है। हँसना, बहस करना, चाय पीना, सब उस लकीर के इस-उस तरफ़ से ही होता है। सिर्फ़ यही आदमी है जो जैसे लँगोट कसकर चुनौती देता लकीर लाँघ आता है, "आओ, लड़ो मुझसे कुश्ती। लड़ोगे?"

और लोग जब किसी रचना या रचनाकार की आलोचना करते हैं, तो वह पान चबाने जैसा अचिन्तित काम करने लगता है। पर यह आदमी जैसे रात-दिन की मालिश और कसरत से अपने को इसके लिए तैयार किए रहता है। आजकल यह उपेन्द्रनाथ अश्क और भगवतीचरण वर्मा पर गरमी खाए है। कहता है, ज़िन्दगी भर नौकरी नहीं करेगा। अपना प्रकाशन चलाएगा और लिखेगा।

इसकी कई बातें बचकाना लगती हैं, पर उनमें समसामयिक साहित्य को लेकर एक आन्तरिक जिज्ञासा और आवेश झलकता है। उन लोगों की तरह नहीं जो केवल साहित्यकार होने के नाते साहित्य-चर्चा करते हैं—जैसे कि बात करके साहित्य नाम के जीवन का कुछ उपकार कर रहे हों। उस दिन दोस्तोएव्स्की के सम्बन्ध में लोगों की बातचीत सुनकर कुछ ऐसा ही लगा था। पर आदमी जैसे अपनी कसौटी ज़ेब में लिए घूमता हो। बात चलने पर वह कसौटी इतमीनान से ज़ेब से निकाली और रचना या लेखक को उस पर घिसकर बता दिया कि वह डकेडेंट है या क्या है। उस समय दोस्तोएव्स्की की वकालत में बहुत कुछ कहना चाहता था, पर चुप रह गया था, क्योंकि अपनी ज़ेब में उस तरह की कोई कसौटी थी ही नहीं!

फिर भी उस तरह की साहित्यिक मारधाड़ के बीच जितना समय बीतता है, वह मन को जमकर काम करने के लिए काफ़ी उकसाता है। राजा की मंडी से दयालबाग़ की तरफ़ लौटते हुए मन में एक ऐसी अस्थिरता भरी रहती है, जैसे कि घर पहुँचते ही किसी चीज़ में जुट जाना हो। पर घर की चौखट लाँघने के साथ ही एक डिप्रेशन घिर आता है। पता नहीं यह डिप्रेशन अपनी असमर्थता का होता है या इस वातावरण के दबाव का?

जंगपुरा एक्सटेंशन, नई दिल्ली : 17-12

यहाँ आकर हर बार यह बात मन को कुरेदती है कि मैं लगातार इस शहर में ही क्यों नहीं रहता, हालाँकि इस शहर के साथ अपना रिश्ता क्वीन्स वे के उस सेमी-स्क्वेयर तक सीमित है, जिसमें कॉफ़ी हाउस, एल्प्स और ए.एन. जॉन की दुकान है। कभी 'सरिता' कार्यालय में बहुत आना-जाना था। वह भी उसी सेमी-स्क्वेयर में है।

सबसे ज़्यादा आत्मीयता महसूस होती है कॉफ़ी हाउस से। वहाँ भी पिछले कोने की उस सीट से जिस पर सबसे ज़्यादा बैठता रहा हूँ। अन्दर दाख़िल होने पर वह सीट ख़ाली नहीं मिलती, तो अपनी एक चीज़ अपने से छिन जाने का एहसास होता है। ख़ाली मिल जाती है, तो वहाँ अकेले बैठकर भी लगता है कि मैं उस पूरे हुजूम के बीच उसका एक हिस्सा हूँ, कि कॉफ़ी हाउस या उस शहर में ही नहीं, पूरी दुनिया

में वही एक जगह है जो मेरी अपनी है और जहाँ पर बैठकर मैं सचमुच रिलैक्स कर सकता हूँ।

इस शहर की जो चीज़ सबसे ज़्यादा मन को खींचती है, वह है यहाँ की उत्तेजना। हर आदमी इस वक़्त किसी-न-किसी वज़ह से उत्तेजित नज़र आता है—किसी हो चुकी, हो रही या होनेवाली बात से उत्तेजित—हालाँकि उस उत्तेजना में तनाव नहीं होता। हर आदमी किसी तेज़ चलती गाड़ी के स्टियरिंग पर एक 'रिलैक्सड एक्साइटमेंट' में बैठा नज़र आता है। इसीलिए हर एक बहुत व्यस्त भी लगता है और काफ़ी फुरसत से भी। पर घंटों कॉफ़ी हाउस में बैठे रहने की यह फुरसत निष्क्रियता या निठल्लेपन की नहीं होती। कुछ ऐसा लगता है जैसे बाहर की दुनिया से अपनी-अपनी उत्तेजनाएँ यहाँ लाकर लोग आपस में उनका बँटवारा कर लेते हों, या एक-दूसरे की सहायता से उनकी जमा-बाक़ी निकाल लेते हों। कॉफ़ी हाउस उनके कारोबारी जीवन में सटा हुआ एक पैविलियन है, जहाँ आकर वे कुछ देर आराम भी करते हैं और अगले राउंड पर निकलने की तैयारी भी।

इस शहर के प्रति मेरा आकर्षण शायद मुख्य रूप से कॉफ़ी हाउस के ही कारण है। लाहौर छोड़ने के बाद इस तरह का वातावरण और कहीं नहीं मिला। इसलिए जहाँ कहीं भी रहते अपनी ज़िन्दगी में एक रुकाव-सा महसूस होता रहा है। लाहौर कॉफ़ी हाउस के कई एक चेहरे भी यहाँ नज़र आ जाते हैं जिससे कुछ हद तक फिर से उस कांटीन्युइटी में जी लेने का एहसास होता है। मगर महीनों के व्यवधान के बाद यहाँ आने के कारण अपने कटे होने की अनुभूति भी कम नहीं होती। एक-एक करके जब सब लोगों से मुलाक़ात हो चुकती है और वे 'कहो कब आए' से शुरू करके 'अच्छा, फिर मिलेंगे' तक की पटरियाँ लाँघकर पास से उठ जाते हैं, तो यह अनुभूति और गहरी होने लगती है। लगता है कि बाहर रहने पर अपना बाहर होना केवल मुझी को महसूस होता है—उनमें से किसी के लिए मेरे यहाँ होने या बाहर रहने में कोई फ़र्क़ नहीं है। इसका कारण भी शायद यहाँ का रिलैक्स्ड एक्साइटमेंट ही है। फ़र्क़ उसी को पड़ सकता है जिसे अपनी ज़िन्दगी में न रिलैक्सेशन महसूस होता हो, न एक्साइटमेंट।

सुबह साहनी से कहा था कि यहाँ जगह का इन्तज़ाम हो जाए तो मैं कुछ महीने यहाँ रह जाना चाहूँगा। वह 'तुम अभी दो-चार दिन रहकर देखो तो सही' कहकर चला गया था। उसे शायद इसलिए विश्वास नहीं हुआ कि तीन साल पहले भी मैंने बहुत ज़ोर देकर यह बात कहनी शुरू की थी। उन दिनों विश्वनाथ (सरिता-सम्पादक) की ओर से दो सौ रुपए महीने का आश्वासन भी था—रचनाओं के पारिश्रमिक तथा सम्पादन-कार्य में सहायता के सिलसिले में। पर उससे बात होने के दूसरे-तीसरे दिन ही मन उस व्यवस्था से उखड़ गया था। एक कारण डी.ए.वी. कॉलेज, जालन्धर से

आया नियुक्ति-पत्र भी था। 'इस बार तुम्हें कोई और बहाना मिल जाएगा' कहने में साहनी के अविश्वास के अतिरिक्त और भी कुछ था—शायद इस बात का डर कि कहीं मैं उसी पर बोझ बनकर न रह जाऊँ।

"इस शहर में सब सड़कें पार्लियामेंट हाउस की तरफ़ जाती हैं," कॉफ़ी हाउस में कँवर कह रहा था। "पर उनमें से ज़्यादातर सेंट्रल सेक्रेटेरियट के अन्दर जाकर खो जाती हैं।"

उसने इस शहर के जिन दो चेहरों का ज़िक्र किया, उनमें से एक सेंट्रल सेक्रेटेरियट मार्का चेहरा, साहनी का है। पिछले तीन सालों में तीन सौ से एकाएक साढ़े आठ सौ पहुँचकर यह आदमी आज सीधे सेक्रेटेरियट के ऊपरी बरामदे की सीढ़ियाँ गिनता नज़र आता है। "वे लोग बेवक़ूफ़ हैं जो सत्ताइस-अट्ठाइस की उम्र तक पहुँचकर भी अपने लिए अगले तीस सालों का रास्ता निश्चित नहीं कर पाते," वह कहता है। "परमात्मा का शुक्र है कि मुझे अपने रास्तों का पता है।"

उसे सचमुच पता है। तभी न उसने अभी से अपने लिए गाड़ी बुक करा ली है। ड्राइंग रूम का सामान ख़रीद लिया है और अलमारी में वाट सिक्स्टी नाइन की बोतल रखने लगा है। गाड़ी तो ख़ैर जब आएगी, आएगी, पर गलीचा मैला न हो जाए, बेड-कवर में सलवटें न पड़ जाएँ, इसके लिए जिस तरह वह अपने हाथ-पैरों पर नियन्त्रण रखकर चलता है, सोफे के पीछे जाने के लिए बिना उस पर पाँव रखे जिम्नास्टिक का प्रयोग करता है, उससे सचमुच लगता है कि ये सब चीज़ें तीस साल तक इतनी ही नई बनी रहने को हैं। यहाँ तक कि रात को वाट सिक्स्टी नाइन की बोतल से जिस तरह वह कुछ गिनी हुई बूँदें गिलासों में डालता है, उससे यह भी विश्वास करने को मन होता है कि वह बोतल भी उतने ही साल उसका साथ देने के लिए है। अगर डर लगता है तो सिर्फ़ उसके शरीर से जो कि सोफे और गलीचे जितना पुख़्ता नहीं है।

दूसरा पार्लियामेंट हाउस मार्का चेहरा, उसी समय कॉफ़ी हाउस में दिख गया था। डॉक्टर एस. कान्त को, जब हम उनसे पढ़ते थे, तब से साल भर पहले तक रैंकन के सिले बढ़िया सूटों में ही देखा था। अचानक वह खादी का पाजामा, खादी की अचकन और कांग्रेसी टोपी पहने सामने आ खड़े हुए तो पलभर आश्चर्य से उन्हें देखता रह गया। पता चला कि इस बीच पंजाब विधान परिषद् के सदस्य नामजद हो गए हैं और उसके साथ ही उन्होंने कांग्रेस पार्टी की सदस्यता स्वीकार कर ली है।

डॉक्टर साहब प्रदेश से केन्द्र में आ सकने के प्रयत्न में दिल्ली आए हुए थे। लौटने से पहले कुछ ख़रीदारी करने कनॉट प्लेस चले आए थे। कॉफ़ी हाउस में उनकी

आमद का कारण इतना ही था वह जिस उद्देश्य से आए थे, वह पूरा नहीं हो सका था और वह कुछ समय 'जनता' के बीच बैठकर अपने मन का गुबार निकाल लेना चाहते थे।

बैठते ही डॉक्टर साहब ने रूस, चीन और उनके साथ-साथ भारत सरकार को कोसना शुरू कर दिया। "साम्यवादी देशों में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का एक तरह से हनन हो रहा है, यहाँ दूसरी तरह से," उन्होंने कहा, "बल्कि वहाँ तो स्वतन्त्रता का हनन हो रहा है, यहाँ ये लोग स्वतन्त्रता का अर्थ जानते ही नहीं। ये समझते हैं कि ब्रिटेन की प्रभुता से छुटकारा पाकर इन्होंने स्वतन्त्रता पा ली है, पर इन्हें नहीं पता कि यह तो स्वतन्त्रता का क ख ग भी नहीं है। जिस देश में यहाँ जितनी अनैतिकता और भ्रष्टाचार हो, वह किस मुँह से अपने को स्वतन्त्र कह सकता है? संसार का कोई देश यदि वास्तव में स्वतन्त्रता का अर्थ जानता है तो वह है ब्रिटेन। बस, वह एक ही देश है जिसे इस दृष्टि से आदर्श कहा जा सकता है। लड़ाई से पहले के ब्रिटेन की तो ख़ैर बात ही क्या थी, पर आज भी जो देश सबसे ऊँचे नैतिक मानदंड रखता है, वह ब्रिटेन है। बीच में समाजवादी सरकार के आ जाने से वहाँ की हालत भी कॉफ़ी ख़राब हो गई है—जीवन के जो मानदंड टोरियों ने बना रखे थे, वे बिलकुल वैसे नहीं रहे—फिर भी उस देश का नैतिक ढाँचा ऐसे फ़ौलाद का बना है कि कोई भी चीज़ उसे नहीं तोड़ सकती। हाँ, वह देश भी कभी पन्द्रह-बीस साल लगातार समाजवादी सरकार के नीचे रह जाए, तो कहा नहीं जा सकता कि वहाँ की भी क्या हालत हो जाए। मैं तुम्हें उन दिनों का एक क़िस्सा सुनाता हूँ जब मैं ऑक्सफोर्ड में पढ़ता था। वहाँ उन दिनों एक अफ्रीकन लड़का स्कॉलरशिप पर आया हुआ था। सेक्स के लिहाज़ से अफ्रीकन बिलकुल दैत्य होते हैं, यह तुम लोगों ने सुना ही होगा। तो यह अफ्रीकन लड़का एक दिन वहाँ एक वेश्या के यहाँ चला गया। उसने उससे दो ट्रिप्स की बात की और पैसे तय कर लिए। पर पहले ट्रिप के बाद ही उस वेश्या का इतना बुरा हाल हो गया कि उसने दूसरे ट्रिप से इनकार कर दिया। कहने लगी कि वह उसे आधे पैसे दे दे। पर अफ्रीकन इसके लिए राज़ी नहीं हुआ। उसका कहना था कि जो बात तय हुई है, वह पूरी होनी चाहिए—और तब वह पूरे पैसे ही देगा। इस पर काफ़ी चख-चख हुई। पुलिस बुला ली गई। पुलिस इंस्पेक्टर ने पूरी बात जानी तो उसने अपना फ़ैसला अफ्रीकन के हक़ में दिया। वेश्या से कहा कि या तो उसे दोनों ट्रिप पूरे करने देने होंगे, वरना उसे पैसे लेने का कोई अधिकार नहीं। अब बताओ...एक तरफ़ काला अफ्रीकन, दूसरी तरफ़ गोरी वेश्या। पर पुलिस इंस्पेक्टर रंग के इस भेदभाव में नहीं पड़ा। उसकी नज़र में वेश्या को पैसे लेने का नैतिक अधिकार तभी था, जब वह तय की गई बात का पालन करे। अफ्रीकन की माँग उसके लिए अनैतिक नहीं थी, वेश्या का इनकार अनैतिक था। पर ब्रिटेन की जगह

यह बात होती न इस देश में—पुलिस तो दूर, लोग-बाग ही उस आदमी की हड्डी-पसली एक करके उसे कहीं दफ़ना देते और किसी को पता भी न चलता। अब वहाँ की समाजवादी सरकार के ज़माने का हाल सुन लो! मुझे एक ऐसे आदमी ने बताया है जो उन दिनों वहाँ था। गाड़ियों में बल्ब ही नहीं थे। आधी गाड़ी में रोशनी होती थी, आधी में नहीं। बताओ...क्या देश था, क्या हो गया!''

डॉक्टर साहब काफ़ी देर इस देश की अनैतिकता पर भाषण दे चुके, तो मैंने हल्के-से उनसे पूछ लिया कि उन्होंने रैंकन से सिले सूट पहनना क्यों छोड़ दिया है। वह इस पर खुलकर मुस्कुराए और बोले, ''भाई, अब उन चीज़ों को देखनेवाला यहाँ कौन रह गया है? पहले वे कपड़े पहनकर सर मनोहरलाल के यहाँ जाते थे, बख़्शी टेकचन्द के यहाँ जाते थे। वे लोग देखकर पूछते थे, यह जूता कहाँ से लिया? यह सूट कहाँ से सिलाया? तब अपने को भी पहनने का कुछ मतलब लगता था। पर अब क्या है? जालन्धर-चंडीगढ़ की धूल में बढ़िया-से-बढ़िया कपड़े पहनकर मैले करते रहो, किसी के पास आँख भी नहीं जो देखे और पूछे। सो हमने भी सिला ली है पाँच रुपए गज़ की अचकन और इसे पहनकर घूमते रहते हैं यहाँ से वहाँ।''

चलते-चलते डॉक्टर साहब ने अपने अनुभव का निष्कर्ष भी दे दिया। ''कुल पच्चीस सौ आदमी होते हैं जो हर देश को अपने ढंग से चलाते हैं। वही पच्चीस सौ अमरीका में होंगे, वही पच्चीस सौ रूस में होंगे, और वही पच्चीस सौ यहाँ भी हैं। बस यही पच्चीस सौ आदमी देश की नाक में नकेल डालकर उसे जिधर को चाहें, उधर को ले चलते हैं। तुम चाहो कि उनमें से पच्चीस सौ एकवें तुम हो जाओ तो नहीं हो सकते। ऐसी सख़्त गुटबन्दी होती है उन पच्चीस सौ आदमियों की—जिनमें सरकारी दल और विरोधी दल दोनों के लोग शामिल होते हैं—कि किसी और को वे बाहर से दाख़िल होने ही नहीं देते। मतलब कि जब तक किसी एक के मरने से उसकी जगह ख़ाली नहीं हो जाती। पर ख़ाली जगहों को भरने के लिए भी लम्बी सूचियाँ पहले से ही तैयार रहती हैं। अब यहाँ कांग्रेस और विरोधी पार्टियों की जो मिली-जुली फ़ेहरिस्त है, उसमें से पच्चीस सौ आदमी अन्दर हैं और उतने ही बाहर हैं। इसलिए अगले पचास साल तक किसी नए आदमी के लिए किसी तरह से भी कोई गुंजाइश नहीं है!''

डॉक्टर साहब के जाने के बाद कँवर ने कहा, ''लगता है इन्होंने भी अपने जाने ज़िन्दगी से दो ट्रिप्स की बात तय कर रखी है। पर दूसरे ट्रिप का मौक़ा नहीं मिल रहा है, इसलिए...''

''पुलिस की मदद से ही कुछ हो सकता है,'' किसी दूसरे ने जड़ दिया।

''उसके लिए भी ब्रिटेन में होते, तब बात थी।''

''हाँ, सन् सैंतीस के ब्रिटेन में।''

और काफ़ी देर तक हम लोग हँसते रहे।

"दिल्ली में रहना है तो इन दो तरह के चेहरों में से एक चेहरा चुन लो," कँवर ने कहा, "इनसे हटकर किसी और तरह का चेहरा चुनना चाहते हो तो यह शहर तुम्हारे लिए नहीं है।"

कँवर सिनिसिज़्म की बात हमेशा ही करता रहा है, पर इधर कुछ ज़्यादा ही सिनिक हो गया है। उसके ढंग से लगा कि वह मेरे यहाँ आकर रहने की बात का भी कुछ दूसरा ही अर्थ ले रहा है। उससे ज़्यादा माथापच्ची नहीं की क्योंकि उसे यह समझा सकना मुश्किल था कि पार्लियामेंट हाउस और सेक्रेटेरियट की तरफ़ जानेवाली सड़कों पर एक तमाशबीन की तरह खड़े रहना और सामने से गुज़रनेवालों पर फब्तियाँ कसना भी ज़िन्दगी की एक दिलचस्पी हो सकती है। "तुम्हारे बहुत-से लेखकों को देखा है," वह कहता रहा। "उनके लिए यही बड़ी बात है कि कभी-कभार उन लोगों के सहभोज में शामिल होने का निमन्त्रण-पत्र उन्हें मिल जाता है।"

लेखकों के बारे में वह जिस अन्दाज़ से बात करने लगा, उससे थोड़ी बदमज़गी भी हो गई। कॉफ़ी हाउस से बाहर आए तो दोनों के चेहरे कसे हुए थे। वह खुद इस शहर को छोड़कर चला जाना चाहता है, शायद इसलिए...

जंगपुरा एक्सटेंशन, नई दिल्ली : 18-12, सुबह तीन बजे (1952)

अचानक नींद खुल गई है। अभी-अभी एक सपना देख रहा था। एक बहुत पुराना टूटा-फूटा-सा घर था। या शायद कोई लॉज था। उसके निचली मंजिल के एक कमरे में मैं मरा हुआ पड़ा था। लाश के आसपास जितने लोग जमा थे, उनमें से कोई मुझे नहीं जानता है। वे सब परेशान थे कि कहाँ और किसे इस मृत्यु की सूचना भेजी जाए। तभी एक आदमी को मेरी डायरी मिल गई और वह उसमें से कुछ अंश पढ़कर लोगों को सुनाने लगा। फिर मेरे सामान की तलाशी ली जाने लगी। पहले वहीं, फिर शिमला के घर में, फिर आगरा के घर में। पर पता कहीं से भी नहीं मिला। एक आदमी कह रहा था कि अगर पता मिल जाए तो यह फिर से जी सकता है। कुछ लोगों ने मुझे हिलाकर मुझसे जानने की कोशिश की। मुझे हैरानी हुई कि ये लोग कैसे सोच रहे हैं कि मरा हुआ आदमी उन्हें अपना पता बता सकता है। जब लोग बिलकुल निराश हो गए तो उन्होंने तय किया कि इसे फिलहाल कपड़े में लपेटकर रख देना चाहिए—क्या पता, बाद में कभी पता मिल जाए और इसे ज़िन्दा किया जा सके...

आँख खुली, तो बिस्तर में उलटा पड़ा था। उठकर दो गिलास पानी पी लिया है। बरामदे में निकलकर साहनी के कमरे तक हो आया हूँ, पर उसे जगाया नहीं।

अब नींद तो आने की नहीं। कोई किताब पढ़ी जा सकती है। पर पढ़ने को बिलकुल मन नहीं है। लगता है कि रोशनदान के शीशों को ताक़ते हुए ही सुबह कर देनी होगी।

कन्नानोर : 8-1-1953

आगरा से चलने के बाद आज मानसिक स्थिति ऐसी हुई है कि यहाँ कुछ लिख सकूँ। भोपाल में, बम्बई में, गोवा में, मंगलौर में—सब जगह मन में विचार आता था कि अपनी किन्हीं प्रतिक्रियाओं को बैठकर लिखूँ, परन्तु या तो व्यस्तता रहती थी या थकान या दूसरे लोग उपस्थित रहते थे।

घर से इस तरह आकर मैं कह सकता हूँ कि मुझे मानसिक स्वस्थता मिली है। यद्यपि ऐसे क्षण आते हैं, जब घर के सुखों का आकर्षण अपनी ओर खींचता है, और मन में हल्की-हल्की अशान्ति भर जाती है, फिर भी अहर्निश नूतन के सान्निध्य की अनुभूति, केवल निजत्व का साहचर्य, और चारों ओर के जीवन को जानने की रागात्मक प्रवृत्ति, इन सबसे सुस्थिति बनी रहती है...

मैंने अपनी यात्रा के नोट्स में कहीं लिखा है कि किसी भी अपरिचित व्यक्ति से, चाहे उसकी भाषा, उसका मज़हब, उसका राजनीतिक विश्वास तुमसे कितना ही भिन्न हो, यदि मुस्कुराकर मिला जाए तो जो तुम्हारी ओर हाथ बढ़ाता है, वह कोरा मनुष्य होता है : कुछ ऐसी ही मुस्कुराहट की प्रतिक्रिया नाना व्यक्तियों पर मैंने लक्षित की है। यह ठीक है कि बाद में भाषा, मज़हब और विश्वास के दाग उभर आते हैं, परन्तु वे सब फिर उस वास्तविक रूप को छिपा नहीं पाते, और मनुष्य की मनुष्य से पहचान बनी रहती है। मुझे याद आता है कि डेल कार्नेगी की पुस्तक 'हाउ टु विन फ्रेंड्स एंड इन्फ्लुएंस पीपल' में एक जगह उसने लिखा है कि ''जब अपरिचित व्यक्तियों से मिलो, तो उनकी ओर मुस्कुराओ।'' यद्यपि लेखक एक मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन करने में सफल हुआ है, फिर भी मनुष्यता के इस गुण का व्यापारिकता, और परोक्ष लाभ की कूटनीति से सम्बन्ध जोड़कर उसने एक अबोध सत्कौमार्य को कटे-फटे हाथों से ग्रहण करने की चेष्टा की है। वह मुस्कुराहट जो तहों में छिपे हुए मनुष्यत्व को निखारकर बाहर ले आती है, यदि सोद्देश्य हो तो, वह उसके सौन्दर्य की वेश्यावृत्ति है।

गाड़ी के सफर में मेरी कापरकर से जान-पहचान हो गई, जहाज़ पर मोतीवाला से, कन्नानोर आकर कपूर से, और कल शाम को समुद्र तट पर धनंजय से—बस उसी मुस्कुराहट के बीज से। साधारण चलते जीवन में ये सबके सब 'साधारण व्यक्ति' हैं—इनमें से किसी में भी कोई ऐसी विशेषता नहीं, जो इन्हें 'जानने योग्य' व्यक्ति बनाती हो। फिर इनसे मिलना भी किसी चयन का परिणाम नहीं, केवल आकस्मिक

योग ही था। परन्तु इन सबमें ही एक तत्त्व निखरकर सामने आया—वह तत्त्व जो प्रत्येक मनुष्य में रहता है, परन्तु बहुत कम ही कभी व्यक्त हो पाता है, शायद सभ्यता के संस्कार के कारण—यहाँ तक कि बहुत से 'जानने योग्य' व्यक्तियों में भी उसके दर्शन नहीं होते—और वह था मनुष्य का मनुष्य में सहज विश्वास, बिना किसी आरोप के, बिना किसी बाधा के, बिना किसी कुंठा के।

भोपाल में बिताई गई शाम का वातावरण अपनी हल्की-सी छाप छोड़ गया है। मुगलकालीन जीवन की जो कल्पना मस्तिष्क में थी, उसको कुछ अंशों तक मूर्त्त रूप में देखकर एक ओर तो यह पुलक हुआ कि मैं एक कल्पना को साकार रूप में देख रहा हूँ और दूसरे शायद यह रोमांच हुआ कि मैं वर्तमान से कुछ पीछे हट आया हूँ। अतीत की एक शाम में, अतीत के एक नगर में, अतीत के वातावरण में, मुझे कुछ क्षण जीने का अवसर मिल गया है। वह चौक और वहाँ की दुकानें, वे तश्तरियों में दस-दस, बीस-बीस पान लेकर खाते और खिलाते हुए शायर, वे बिकते हुए मोतिया और चमेली के हार, वे मस्जिदों-जैसे घर और शुद्ध उर्दू में बात करते हुए ताँगे वाले—मुझे महसूस हो रहा था कि अभी किसी शहज़ादे या शहज़ादी की सवारी भी उधर से आ निकलेगी, और लोग झुक-झुककर उसे सलाम करेंगे।

परन्तु सोफिया मस्जिद की आधुनिकता देखकर अतीत का यह सपना टूट गया। फिर वोल्गा होटल के कीमे की गन्ध भी मुगलिया नहीं, डालडा के आविष्कार के बाद की थी...

बम्बई विक्टोरिया टर्मिनल स्टेशन पर उतरकर यह नहीं लगा कि मैं दो वर्ष बाद वहाँ आया हूँ। ऐसा लगा जैसे मैं दादर से वहाँ आ रहा हूँ। रोज़ ही आता हूँ, और वहाँ के जीवन से उसी तरह ऊबा हुआ हूँ। वही मछलियों की गन्ध, वही जल्दबाज़ी, वही सूखे मुरझाए हुए शरीर, वही कुछ खोकर उसे ढूँढ़ने की हताश चेष्टा का-सा जीवन—कहीं जाने का मन नहीं हुआ, किसी से मिलकर हृदय उत्साहित नहीं हुआ। जिस यात्रा में वहाँ के प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में पुनरावृत्ति है, वह दो वर्ष बाद एक दिन के लिए भी उकता देनेवाली थी, जो वह पुनरावृत्ति जीवन भर के लिए जिए जा रहे हैं, उनके स्नायुओं में कितनी जड़ता भर गई होगी?

शाम को इक्वेरियम में मछलियाँ देखकर हृदय और आँखों में विस्फार आ गया। शीशे के पीछे पानी था, जहाँ उपयुक्त पृष्ठभूमि देकर उसे नाना रंगों की रोशनी से आलोकित किया गया था। अपने-अपने केस में तरह-तरह की मछलियाँ, केंकड़े और इन्हीं श्रेणियों के कुछ दूसरे जीव इठला रहे थे। वह उनके लिए साधारण रूप से जीना होगा, जो हमारी आँखों को 'इठलाना' नज़र आता है। मैं मछलियों के नाम भूल गया।

केवल रंगों की और उनकी गति की कुछ स्मृति रह गई है। चौड़े शरीर और छोटे आकार की वे मछलियाँ, जिनके नीचे, रेशमी डोरे-से पीछे की ओर फैले रहते थे–एक नर्तकी के लचकते हुए शरीर से कई गुना अधिक लचकती हुई नाना चितकबरे रंगों की डेढ़-दो फुट की मछलियाँ–सामूहिक रूप से एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर जाती हुई नाना आकारों की मछलियाँ–नाख़ून भर के आकार तक की मुँह के रास्ते साँस लेती हुई भगत मछलियाँ, जिन्हें यह नाम शायद इसलिए दिया गया है कि उनके मुँह के खुलने और बन्द होने में वही गति रहती है जो 'राम' नाम के उच्चारण में–और अन्यान्य कई तरह की मछलियाँ। मैं फूलों और तितलियों को देखकर ही सोचा करता था कि रंगों के और आकारों के इस वैविध्य की सृष्टि करनेवाली शक्ति के पास कितनी सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि होगी–परन्तु नाख़ून-नाख़ून भर की मछलियों के कलेवर में रंगों की योजना देखकर तो जैसे उस विषय में सोचने से ही रुक जाना पड़ा...

पूना में थर्ड क्लास के वेटिंग हाल में कुछ समय बिताना पड़ा था। वहाँ बहुत से ऐसे स्त्रियाँ-पुरुष थे, जो या तो विकलांग थे, या आकृति के रूखेपन के कारण मनुष्येतर-से मालूम पड़ते थे। किसी के सिर पर रूखे बाल उलझे हुए खड़े थे, किसी की दाढ़ी महीने भर की उगी हुई थी। स्त्रियों में किसी की आँखें रूखी और लाल हो रही थीं और किसी का भाव-शैथिल्य मन में एक जुगुप्सात्मक भाव भर रहा था। ऐसे व्यक्तियों की एक श्रेणी ही है जो देश के किसी भी भाग में पाई जा सकती है। काले पड़े हुए शरीर, सूखी हुई त्वचा, जीवन के प्रति नितान्त निरुत्साह भाव, चेष्टाओं में शैथिल्य और बुद्धि के नियन्त्रण का अभाव। जिस समाज में मनुष्य की एक श्रेणी बन सकती है, उसके गलित होने में सन्देह ही क्या है?

जब मैं अपने-आपको मानसिक दुर्बलता के किसी क्षण में पकड़ पाता हूँ, तो अपना-आप बहुत भिन्न–साधारण से कहीं स्तरहीन प्रतीत होता है। ऐसे समय एक ओर तो मैं अपने चेहरे के शिथिल-प्रतिभ भाव को देखता हूँ, और फिर द्रष्टा के रूप में उस भाव पर मुस्कुराता हूँ...सचमुच वह अपना शिथिल-प्रतिभ रूप दर्शनीय होता है। देखा नहीं जाता।

मार्मुगाँव से मंगलोर तक जहाज़ पर की गई उन्नीस घंटे की यात्रा में वह पुलक प्राप्त नहीं हुआ, जिसकी मुझे आशा थी। समुद्र का अपना आकर्षण था, जहाज़ के डोलने में भी थोड़ा आनन्द था, खोजने में दृष्टि को कहीं-न-कहीं कुछ सौन्दर्य मिल ही जाता था, पर थर्ड क्लास के डेक पर मनुष्य से जिस रूप में सफ़र करने की अपेक्षा की

जाती है वह किसी भी तरह सह्य नहीं। जो जहाज़ पशुओं को ले जाते हैं, उनमें पशुओं के लिए शायद इससे कहीं अच्छी व्यवस्था होती होगी।

कन्नानोर के सागर पुलिन पर टहलते हुए मैं बच्चों के रेत पर बने हुए घरौंदे देखने लगा था। बच्चों के पिता साथ थे—श्री धनंजय—जिनसे बाद में परिचय हो गया। उन्होंने जब मेरा विशद परिचय जानना चाहा तो मैंने बताया कि मैं एक लेखक हूँ, घूमने के लिए निकला हूँ, पश्चिमी घाट का पूरा प्रदेश घूमने का विचार रखता हूँ। इस तरह अपना परिचय देकर मुझे एक रोमांच हो आया। मुझे लगा जैसे मैं कोई बहुत बड़ी बात कह रहा हूँ। यह होना, और ऐसे होना, जैसे जीवन में बहुत-कुछ पा लेना है। मैंने एक बार लहरों की ओर देखा जो शार्क मछलियों की तरह सिर उठाती हुई तट की ओर आ रही थीं। फिर बच्चों के घरौंदों को देखा। फिर दूर क्षितिज के साथ सटकर चलते हुए जहाज़ को देखा जो कोचीन की ओर जा रहा था। डूबते सूर्य का लगभग एक इंच भाग पानी की सतह से ऊपर था, जो सहसा डूब गया। कुछ पक्षी उड़ते हुए पानी की ओर से मेरी ओर आए। बाएँ हाथ कगार के नीचे काली चट्टानों के साथ एक लहर ज़ोर से टकराई। कुछ बच्चों की किलकारियाँ सुनाई दीं। पीछे पुल के पास से कोई कार चल दी।

आज मेरा जन्मदिन है। आज मैं पूरे अट्ठाईस वर्ष का हो गया। मुझे प्रसन्नता है कि मैं यहाँ हूँ। होटल सेवाय दिन-भर शान्त रहता है। रात को रेडियो का शोर होता है, पर ख़ैर! मैं यहाँ रहकर कुछ दिन काम कर सकूँगा।

कन्नानोर : रात्रि—16-1-1953

अभी सोने के लिए लेटा था। पर हवा के दो-एक झोंके खिड़की से ऐसे आए कि मुझे सहसा महसूस होने लगा जैसे बाहर बादल छा गए हैं और बरसात होने वाली है, इससे कुछ ऐसा लगा कि मैं उठकर बैठ गया हूँ, और लिखने लगा हूँ।

बरसात होने से पहले, जबकि किसी भी समय बूँदों के गिरने की सम्भावना रहती है। बीच-बीच में आकाश और अन्धकार के एकान्त को तोड़ता हुआ बादल गरज उठता है, तो कभी-कभी लगता है कि कुछ अपना ही अंश, अपने से विमुक्त था जो पा लिया है। वह वातावरण, जिसमें हल्की-हल्की ठिठुरन शरीर में भरती है, जैसे अपने ही अन्तर का परिचित कुछ बाहर विस्तीर्ण हो रहा होता है।

मेरा बिस्तर खिड़की से सटा हुआ है। होटल सेवाय समुद्र से कोई एक फर्लांग हटकर है, पर उमड़ते हुए समुद्र की ध्वनियाँ यहाँ सुनाई देती रहती हैं...रात्रि की निःस्तब्धता में तो ये ध्वनियाँ ऐसे लगती हैं, जैसे खिड़की से पचास गज़ हटकर ही हों...और इन

ध्वनियों को सुनते हुए मैं कल्पना कर रहा हूँ कि यदि इस समय बादल भी घिर आएँ, कुछ बूँदें बरस जाएँ, और मैं एक क्षण बादल का गर्जन सुनूँ, फिर बिजली की चमक में सामने क्लब का कमरा और बाहर की गीली मिट्‌टी देखूँ, फिर अन्धकार में कमरे और मिट्‌टी की स्थिति की कल्पना करूँ, जब समुद्र की ऊँची-ऊँची लहरों की निरन्तर गड़गड़ाहट सुनाई देती रहे, तो कितना सुखप्रद अनुभव हो!

टिररि...टिररि...टिररि–लहरों की ध्वनि के अतिरिक्त यह सब ध्वनि मैं सुन पा रहा हूँ...और इनके अतिरिक्त टिड्डियों का चिट-चिट स्वर भी है और एक लम्बी 'त्रि र र र र' ध्वनि...एक लहर किनारे से ज़ोर से टकराई है जैसे कगार को तोड़ गई हो और वह पानी में जा गिरा हो।

दूर स्टेशन पर गाड़ी सीटी दे रही है।

कल रात को बाज़ार से आते हुए सहसा रुककर तारों को देखा था। बड़ी साधारण बात थी कि ऊपर इतनी दुनियाएँ हैं–असंख्य। पर उस इतने बड़े खगोल में अपनी स्थिति रखते हुए मुझे बड़ा असाधारण-सा अनुभव हुआ था। क्या कोई ऐसा भी है जिसे मैं परिचय दे सकूँ कि मैं इस खगोल का निवासी हूँ।

कन्नानोर : रात्रि–21-1-53

कल सहसा चल देने का निश्चय कर लेने के अनन्तर मुझसे कुछ भी काम नहीं हो पाया। यह व्याकुलता जो सहसा जाग उठी, बिल्कुल आकस्मिक नहीं कही जा सकती। मैं जानता हूँ...चाहे यह विरोधोक्ति ही लगती है–कि मुझे अर्ध-चेतन रूप से सदा अपने से इसकी आशंका रही है। जहाँ तक चलते जाने का प्रश्न है, चलते जाया जा सकता है। परन्तु जहाँ ठहरने का प्रश्न आता है, वहाँ बहुत-सी अपेक्षाएँ जाग्रत हो उठती हैं और उन सबकी पूर्ति असम्भव होने से, फिर चल देने की धुन समा जाती है।

यहाँ रहकर एक बात हुई है, जिसे मैं सन्तोषजनक कह सकता हूँ। उपन्यास की आरम्भिक रूपरेखा के विषय में मैं इतने दिनों से संशययुक्त था...वह रूपरेखा अब बन गई है। परन्तु मेरे इस सन्तोष को इतना मूल्य क्या कोई देगा, जितना इसके लिए मैंने व्यय किया है?

एक बात और। घूमने और लिखने की दो प्रवृत्तियाँ हैं, जिन्हें शायद मैं आपस में मिला रहा था। अन्योन्याश्रित होते हुए भी ये अलग-अलग प्रवृत्तियाँ हैं, ऐसा मुझे अब प्रतीत हो रहा है। मैं कैसा भी जीवन व्यतीत करता हुआ घूमता रह सकता हूँ, परन्तु बैठकर लिखने के लिए मुझे सुविधाएँ चाहिए ही।

कन्याकुमारी : 31-1-53

कन्याकुमारी आकर जैसे मेरा एक स्वप्न पूरा हो गया है। यह एक विडम्बना ही थी कि मैं सीधा यहाँ आने का कार्यक्रम बनाकर भी सीधा यहाँ नहीं आया। पर उससे आज यहाँ आकर पहुँचने का महत्त्व मेरे लिए और भी बढ़ गया है। साधारणतया देखने पर यह एक समुद्रतट ही है, परन्तु यह केवल समुद्रतट ही नहीं है। यह एक कुँवारी भूमि है, जहाँ निर्माता की तूलिका का स्पर्श अभी गीला ही लगता है। यहाँ आकर आत्मा में एक सात्विक आवेश जाग उठता है। यहाँ आकर रहना अपने में ही जीवन की एक आकांक्षा हो सकती है! शायद टेलिपैथी की तरह का कोई और भी विनिमय होता है जो दो मनुष्यों के बीच नहीं, एक मनुष्य और एक स्थान के बीच सम्भव है। उसे अणुओं का अणुओं के प्रति आकर्षण कह सकते हैं। इसे एक स्थान का आवाहन कहना शायद कवित्वमय या शिशुत्वपूर्ण लगे। परन्तु व्यक्ति अपने भावोद्रेक के अनुसार ही जीवन की व्याख्या करने से नहीं रह सकता। मैं इस समय जिस भावोद्रेक में हूँ, उसे समझने के लिए बंगाल की खाड़ी, हिन्द महासागर और अरब सागर के इस संगम-स्थल को एक बार देख लेना आवश्यक है। कितना भी भटककर एक बार यहाँ आ जाया जाए, तो उस भटकने में सार्थकता है।

कन्याकुमारी : रात्रि–1-2-53

क्या मैं यहाँ एक घर बनाकर रह सकता हूँ?

यह स्थान और यहाँ का वातावरण दोनों मुझे इस तरह प्रभावित कर रहे हैं कि बार-बार इच्छा होती है कि यहाँ एक छोटा-सा घर बना लूँ...कुछ वैसा ही जैसा कि मैं कल्पना करता रहा हूँ, और उसमें रहने लगूँ। साल में छह-आठ महीने घूमा करूँ, या अन्यत्र कहीं रहा करूँ,...जीवन के प्रवाह के बीच, और शेष समय यहाँ आ जाया करूँ...जीवन से जो कुछ ग्रहण किया हो, उसे अपने में समाकर देखने के लिए, मनन और चिन्तन के लिए। परन्तु इसे सम्भव बनाने के लिए आर्थिक सुविधाएँ मुझे प्राप्त नहीं!...

आगरा : 21-2-53

एक वस्तु का अपना प्राकृतिक गुण होता है। व्यक्ति का भी अपना प्राकृतिक गुण होता है। मूल्य व्यक्ति और वस्तु के प्राकृतिक गुण का न लगाया जाकर प्रायः दूसरों की उस गुण को बेचने की शक्ति का लगाया जाता है। संसार में जितने धनी व्यक्ति हैं, उनमें से अधिकांश दलाली करके–वस्तु या व्यक्ति के गुण को बेचने में माध्यम बनकर धन कमाते हैं। यह दलाली वस्तु और व्यक्ति के वास्तविक मूल्यांकन और मूल्य ग्रहण में बाधा है।

जिस हवा में फूल अपने पूरे सौन्दर्य के साथ नहीं खिल सकता, वह हवा अवश्य दूषित हवा है। जिस समाज में मनुष्य अपने व्यक्तित्व का पूरा विकास नहीं कर सकता, वह समाज भी अवश्य दूषित समाज है।

डलहौज़ी : 13-6-53

वह व्यक्ति जो शाश्वत जीवन की चर्चा करता है, यह नहीं जानता कि शाश्वत जीवन का अर्थ है नई कलियों का न खिलना, नए अंकुरों का न निकलना, नए शिशुओं का न जन्म लेना। जो व्यक्ति ऐसा जीवन चाहता है, वह मृत्युपूजक है। जीवन की शक्ति और आकर्षण नए की उत्पत्ति में है और उस उत्पत्ति की अनिवार्य पूर्वापेक्षा पुरातन का विनाश है। विनाश देखकर हमें आशामय होना चाहिए या निराशामय? मरते हुए व्यक्ति को हम सन्तोष दें या कहना चाहिए कि उसके पीछे दो कुलबुलाते हुए नन्हें हाथ उसकी जगह लेते जा रहे हैं...क्योंकि विनाश का एक महान् उद्देश्य है और वह है नए विकास के लिए भूमि छोड़ देना और छोड़ देना ही नहीं, स्वयं नए विकास की खाद बन जाना।

डलहौज़ी : 17-6-53

मनुष्य के विकास का ज़िक्र करते हुए यह तो माना गया कि जीवों को परिस्थितियों के अनुकूल अपने शरीर, त्वचा आदि का विकास करना पड़ा...सर्वाइवल के लिए यह अपेक्षित था कि वे बदलती हुई अवस्थाओं में या तो बदलें या नष्ट हो जाएँ। परिस्थितियों के अनुकूल विकास करते-करते धीरे-धीरे मनुष्य ने जन्म लिया। यह सब तो ठीक है। परन्तु रंगों के विकास के विषय में क्या कहा जा सकता है? कुछ जीवों में तो हम देखते हैं कि परिस्थिति के अनुकूल ही आत्मरक्षा के लिए रंग का भी विकास हुआ है, जैसे कुछ तरह के घासों के कीड़ों आदि में। परन्तु रंगों के क्षेत्र में हम ऐसा भी वैविध्य पाते हैं जिसका सम्बन्ध जीवों की आत्मरक्षा के लिए विकास करने की प्रवृत्ति के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। जहाँ तक योनिज प्राणियों का सम्बन्ध है, हम रंगों की विशेष विविधता नहीं देखते और जो विविधता है, उसे उनके वायुमंडल द्वारा प्रभावित भी कह सकते हैं, यद्यपि बिल्कुल काले और बिल्कुल गोरे का अन्तर पृथ्वी के वर्तमान वायुमंडल में बहुत बड़ा अन्तर है। योनिज प्राणियों को छोड़कर जब हम इन्द्रियों और अंडजों के क्षेत्र में आते हैं तो रंगों के नाना विभेद, नाना संयोजन, जो सब मानवीय दृष्टि को अत्यन्त कलापूर्ण प्रतीत होते हैं, देखकर सहसा उसके पीछे किसी चेतन प्रवृत्ति का आभास होता है। उन संयोजनों में जो ज्यामिति न्याय या जाति सादृश्य और व्यक्ति विभेद दिखाई देते हैं, उन्हें केवल घटनावश या बस 'यूँ ही' कहकर हट जाने को हृदय स्वीकार नहीं करता। रंगों के

विकास के मूल में 'सर्वाइवल' के अतिरिक्त और क्या रहा है, यह सोचने का विषय है।

डलहौज़ी : रात्रि–17-6-53

मनुष्य के पूर्वजों की जिन दो-एक खोपड़ियों के आधार पर उसके विकास की स्थितियाँ निर्धारित की जाती हैं, कुछ वैसी ही खोपड़ियाँ आज की कुछ आदिवासी तथा हमारी जातियों के किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों की भी...या मय मनुष्य जाति के ही किन्हीं विशेष अपवादस्वरूप व्यक्तियों की भी तो हो सकती हैं। एक-एक खोपड़ी के आधार पर लगाए गए अनुमान क्या बहुत अधूरे और अनिश्चित अनुमान नहीं हैं?

डलहौज़ी : 18-6-53

बादल बरस रहे हैं। मेरे कमरे के बाहर घाटी में हल्के-हल्के सफ़ेद बादल भरे हुए हैं। अपनी वासना के उन्माद में बादल गरजता है–बरसती बूँदों से धरती में वही वासना नर्तन करती है। धरती उन बूँदों को पीकर तृप्ति को स्वीकार करती है...नए अंकुर, नए जीवन के रूप में सारी हरियाली धरती के अन्दर से फूट पड़ने के लिए करवटें लेने लगती है। मेरे पौराणिक दोस्तो, माँ धरती तुम्हारे सामने अभिसार करती है और तुम्हारी नैतिकता की भावना, तुम्हारी पहरेदारी, तुम्हारी जीवन के विकास को रोकने की प्रवृत्ति जाग्रत नहीं होती? यदि यह विश्वमय अभिसार तुम्हारी व्याघातक प्रवृत्तियों को जाग्रत नहीं करता तो मेरे पौराणिक दोस्तो, तुम यह क्यों नहीं सोचते कि हम भी माँ धरती की सन्तान हैं, और हमारे निर्माण का सबसे बड़ा भाग वही धरती है, जो इतनी आतुरता से बरसते हुए बादलों की बूँदों को पी रही है।

डलहौज़ी : रात्रि–21-6-53

एक व्यक्ति को इसलिए फाँसी की सज़ा दे दी जाती है कि वह व्यक्ति न्याय-रक्षा के लिए ख़तरा है। वह व्यक्ति जो न्याय-रक्षा के लिए ख़तरा हो सकता है, वह निःसन्देह उस न्याय से अधिक शक्तिवान होना चाहिए।

न्याय, जो सदियों से नस्लों और परम्पराओं का सामूहिक कृत्य है, यदि एक व्यक्ति के वर्तमान में रहने से अपने लिए आशंका देखता है, तो वह न्याय जर्जर और गलित आधार का न्याय है।

वास्तव में ऐसे न्याय के लिए ख़तरा कोई एक व्यक्ति नहीं होता–व्यक्ति तो उसके लिए ख़तरे का संकेत ही हो सकता है। उसके लिए वास्तविक ख़तरा भविष्य है, जिसे किसी भी तरह फाँसी नहीं दी जा सकती।

अतीत कभी भविष्य के गर्भ से बचकर वर्तमान नहीं रह सका।

समय सदा दिन के साथ और अगले कल का साथ देता है।

मनुष्य को फाँसी देकर नष्ट करना वहशत ही नहीं, पागलपन भी है। यह पागलपन और वहशत डरे हुए हृदय के परिणाम होते हैं जो अपने पर विश्वास और नियन्त्रण खो देता है।

समय ऐसे हृदयों का साथ नहीं देता।

वे झड़कर नष्ट हो जाने वाले पत्ते हैं, जो झड़ने से पहले अपनी कोमलता खो बैठते हैं।

जालन्धर : रात्रि—30-11-53

और आज फिर डायरी। दिनों नहीं, महीनों के बाद। इन महीनों में कितनी ही घटनाएँ हो गई हैं। मैं फिर से नौकरी का तौक गले में बाँध बैठा हूँ। नए सिरे से ज़िन्दगी घंटियों की आवाज़ के साथ बावस्ता हो गई है...मगर कुछ अन्तर है। मगर अन्तर! हः हः! कितना लाचार 'मगर' है!

हाँ, कल की बात है। सिनेमा हाल में बैठकर मैं गालों की लाली के विषय में सोच रहा था। एक सौन्दर्य प्रसाधन से प्राप्त होता है, एक सौन्दर्य जिगर के ठीक काम करने से प्राप्त होता है। वस्तुतः पहला सौन्दर्य नहीं...मगर बात बहुत साधारण-सी है। शायद मैं वहाँ कुछ और सोच रहा था, जो गुम हो गया है। जो गुम हो गया है उसे खोजने की चेष्टा व्यर्थ है।

और भी कुछ था जो गुम हो गया है।

जालन्धर : तिथि याद नहीं

अब यह डायरी कुछ दूसरा रूप ले रही है शायद। ऐसा लग रहा है कि अब जो कुछ मैं इसमें लिखूँगा वह अधिक वैयक्तिक होगा। परन्तु, जो जिस रूप में बाहर आना चाहता है, उस पर बन्धन नहीं होना चाहिए।

जालन्धरः तिथि याद नहीं

मैं अभी तक 28 फ़रवरी की शाम को हुई घटना के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाया। न मुक्त हो पाना शायद अपनी ही कमज़ोरी है। कमज़ोरी है, या sensitiveness—मैं उस विषय में खामख्वाह सोचने लगा हूँ, इस समय भी। हाँ तो...वे दो थीं। वे रिक्शा में मुझसे आगे चलीं, और फिर जान-बूझकर उन्होंने रिक्शाओं की होड़ भी शुरू कर दी। होड़ क्यों? वे ही अपनी रिक्शा कभी पीछे रह जाने देतीं, कभी आगे निकलवा लेतीं हर बार क...किस बदमज़ाकी से हँसती थी?

"देखिए, हम अब आपको आगे निकलने दे रही हैं।" "देखिए, हम आपसे आगे जा रही हैं...आप हमसे हर बार पीछे रह जाते हैं।" "हम आपके बराबर चलें तो आपको कोई आपत्ति तो नहीं?" "किसी दिन हमें अपने घर बुलाएँ।" "सुना है, आपका नौकर चला गया है...उसे शिकायत थी कि आपके घर मेहमान बहुत आते हैं।" "तो हम किस दिन आपके घर आएँ?" "चाय तो पिलाइएगा न?" "आप कंजूस हैं, आपने एक दिन पहले भी और लोगों को चाय पिलाई थी पर मुझे नहीं पूछा था।" "किसी रेस्तराँ में चलिए न?" "किस रेस्तराँ में चलिएगा–रॉक्सी हमें पसन्द नहीं।"

यह कह रही थी...क...! वह बदसूरत लड़की, जिसके पास शायद वासना के अतिरिक्त नारीत्व का और कुछ नहीं है। और उसकी पहले की चेष्टाएँ भी अब अर्थयुक्त बनकर मेरे सामने आ रही थीं–जब उसने दीवाली और नए वर्ष के कार्ड भेजे थे–मुझसे मेरी पुस्तकें माँगने आई थी और एक दिन कॉलेज में मेरे कमरे में आकर बोली थी, "एक प्रश्न पूछना चाहती हूँ। पाठ्य विषय में दिलचस्पी नहीं है। क्या यह बताएँगे कि मनुष्य रोता क्यों है?" और फिर बाद में व्याख्या करती हुई बोली थी, "देखिए, मैं यूँ ही जानना चाहती हूँ। मेरी एक सहेली मुझसे पूछती थी। मैं तो जानती नहीं, क्योंकि मैं कभी रोई नहीं।"

और जब मैंने रिक्शा वाले से कहा कि वह रिक्शा बहुत आहिस्ता चलाए और दूसरे रिक्शावाले को आगे निकल जाने दे, तो उनका रिक्शा भी बहुत आहिस्ता चलने लगा और पुनः मेरे बराबर आ गया। और इस बार र...ने कहा, "आप तो हमसे डरकर पीछे जा रहे हैं कि कहीं सचमुच इन्हें चाय न पिलानी पड़े। चलिए, हम आपको चाय पिलाती हैं।"

और क...बोली, "देखिए, हमारा घर पास है। हमारे साथ चलिए। हम आपको चाय पिलाएँगी। चलिए, चलते हैं?"

उन्होंने रिक्शावाले को हिदायत दे रखी थी कि मेरा रिक्शा तेज़ चले या आहिस्ता, वह रिक्शा बराबर ही रहे।

कचहरी पहुँचने से पहले, उनके रिक्शावाले ने पीछे से रिक्शा बराबर लाकर पूछा, "साहब, वे पूछ रही हैं कि आप क्या मॉडल टाउन नहीं चल रहे? उन्होंने रिक्शा मॉडल टाउन का किया है।"

मैंने यह उत्तर देकर कि मुझे कुछ काम है, और मैं यहीं उतर रहा हूँ, रिक्शावाले से रिक्शा रोक लेने के लिए कहा। मेरा रिक्शा रुकने पर उनका रिक्शा भी रुक गया।

"हमने आपकी वजह से मॉडल टाउन का रिक्शा किया है, और आप यहाँ उतर रहे हैं?" क...बोली।

"मुझे यहाँ कुछ काम है," मैंने कहा, "इस समय क्षमा करें..." और मैं बिना पीछे देखे सीधा चल दिया। मुझे खेद था कि ये लड़कियाँ इतनी बदमज़ाक क्यों हैं?

मैं 'प्योरिटनिज़्म' का दावेदार नहीं, परन्तु कोमलताप्रिय मानव, मानव-व्यवहार में... विशेषतया एक नारी के व्यवहार में कोमलता और शिष्टता की आशा तो करता ही है! नारी का एक चौथाई सौन्दर्य, उसकी त्वचा के वर्ण और विन्यास में रहता है, और सम्भवतः तीन-चौथाई अपने 'वदन' में। और जहाँ, वह एक चौथाई भी नहीं, और यह तीन-चौथाई भी नहीं—उस वासनामयी मिट्टी...उस दलदल को क्या कहा जाए? फिर भी इस घटना से एक बात अवश्य हुई, मेरे दिमाग़ से थोड़ा जंग उतर गया।

दूसरे दिन क...ने एक कॉपी मुझे दी—यद्यपि मैंने क्लास से कुछ लिखकर लाने के लिए नहीं कह रखा था। कॉपी में ग़लत अंग्रेज़ी में लिखी चिट थी—"Somehow or the other, please do come at my home, only for some time."

और बाक़ी का जो पृष्ठ देखने के लिए मोड़ा गया था, उस पर कुछ ऐसे-ऐसे उदाहरण थे : "Divers mostly in the water die;
A lover when the sex feels shy."

तथा

"Loving a beautiful woman is the best way of glorifying God."

पढ़कर एक बार तो मैं जी खोलकर हँस लिया। Loving a beautiful woman! तो यह लड़की भी अपने को beautiful woman समझती है! ख़ूब! शायद उसका दोष नहीं।

—और यहाँ आकर मैं क्षण-भर के लिए सोचता हूँ। यहाँ अवश्य ही थोड़ा विश्लेषण करना चाहिए। कुछ दिन पहले—बहुत दिन नहीं—शायद महीना-भर पहले ही एक और लड़की की कॉपी में मुझे ऐसे ही काग़ज़ मिले थे। एक बार, फिर दूसरी बार, फिर तीसरी बार। कुछ ऐसे ही उद्धरण उसने भी संकलित कर रखे थे :

"Man loves little and often,
Woman loves much and rarely."
"He who loves not wine, woman and song,
Remains a fool his whole life long."
"परस्पर भूल करते हैं, उन्हें जो प्यार करते हैं!
बुराई कर रहे हैं और अस्वीकार करते हैं!
उन्हें अवकाश ही रहता कहाँ है मुझसे मिलने का
किसी से पूछ लेते हैं, यही उपकार करते हैं।"
"चाहता है यह पागल प्यार,
अनोखा एक नया संसार!"

उन काग़ज़ों को पढ़कर मुझे उस तरह की वितृष्णा का अनुभव क्यों नहीं हुआ था? इसलिए कि उस लिपि के मध्य जिन हाथों का सम्बन्ध था, उन हाथों की त्वचा

कोमल और सुन्दर है? लिखनेवाली की आँखों और ओंठों में आकर्षण है। वह चकित मृगी-सी मेरी ओर देखा करती है? उसकी आँखें मुझे मासूम क्यों लगती हैं? क्या यह चेहरे का ही लिहाज़ है कि मुझे उसका वह सब लिखना बुरा नहीं लगा? वह बच्ची भी तो है। शायद वह समझती भी नहीं कि वह क्या लिख रही है। यौवन के प्रथम उबाल में वह सब लिखने को यूँ ही मन हो आता है—और फिर पात्र वही बन जाता है, जिसे सम्बोधित कर पाना सम्भव हो। यह विश्लेषण उसके साथ अन्याय भी हो सकता है। वह उन दो लड़कियों की तरह, जिनका मैंने पहले उल्लेख किया है, 'फ्लर्ट' तो प्रतीत नहीं होती। उसे चाहनेवालों की कमी नहीं है। साधारणतया लोगों की धारणा है कि वह बहुत मासूम है। मैं नहीं जानता, क्योंकर उसने यह initiative लेने का साहस किया? जो कुछ भी हो, वह लड़की अच्छी है। यदि वह अपने-आप न सँभल गई तो मुझे उसे समझा देना होगा।—परन्तु...

जालन्धर : 7-3-54

पाल वही है—बिल्कुल वैसा ही। जो उससे करने को कहा जाए, वह न करना, या उसके प्रतिकूल करना उसका कार्य ही है। वह करता है, जब initiative उसका अपना हो—दूसरे की प्रेरणा से कुछ नहीं—बिल्कुल नहीं। परन्तु वह सारी दोपहर बिलियर्ड खेलकर बिताना मुझे कुछ विचित्र-सा लगा। यह ठीक है कि वह बिलियर्ड, टेनिस और बैडमिंटन का शौक़ीन है—फिर भी। कितनी repeat life व्यतीत कर रहा है वह।

जालन्धर : 13-3-54

हमारा ऑफिस सुपरिंटेंडेंट सारा समय माथे पर तेवड़ी डाले रहता है। किसी से भी बात करेगा तो माथे पर तेवड़ी डाले हुए। ऑफ़िस का ज़रा-सा भी काम उसकी दृष्टि में इतना महत्त्वपूर्ण होता है कि वह उसके सम्पादन की चेष्टा में झुँझला-झुँझला उठता है। ''बाबू साहब, आपने इस काग़ज़ पर दस्तखत नहीं किए,'' वह एक प्रोफेसर से कहेगा। ''कीजिए न दस्तख़त। साहब नाराज़ होंगे कि दस्तख़त नहीं कराए।''

फिर वह चश्मा नाक पर ज़रा नीचा करके किसी सामने खड़े लड़के की ओर घूरेगा और कहेगा, ''तुम्हारी एडमिशन नहीं हो सकती। बर्थ सर्टिफिकेट कहाँ है? मैं कहता हूँ, यह कॉलेज है, मुंशी पाठशाला नहीं। बर्थ सर्टिफिकेट के बिना एडमिशन नहीं हो सकता।''

और फिर साथ की टेबल पर बैठे हैडक्लर्क से, ''बाबू गुरदास राय, सत्ताइस नम्बर की फ़ाइल में देखना कि वह साढ़े चार आनेवाला वाउचर लगा है कि नहीं।

आप उठकर देख लेना। एकाउंट का मामला है—कहीं गड़गड़ न रह जाए। एक बार अपनी आँखों से देख लो न।''

—और तब मातादीन चपरासी से कहेगा, ''यह ले मातादीन, यह इश्तिहार डीन साहब के कमरे में ले जा। उन्हें दिखाकर यह नोटिस बोर्ड पर लगाना है। समझा? लग जाए नोटिस बोर्ड पर। कल को फिर मुझे मत कहना कि जी, याद नहीं रहा। मैंने अब दो बार कह दिया है।''

—और फिर किसी आगन्तुक को, जो कुछ पूछना चाह रहा होगा, लक्षित करके कहेगा, ''भाई साहब, ठहर जाइए। देखिए, काम कर रहा हूँ, ख़ाली तो नहीं बैठा। अभी आपसे भी बात करता हूँ। बैठ जाइए, नहीं तो थोड़ी देर बाहर टहल आइए।''

उससे हर एक को शिकायत रहती है कि वह कभी सीधे मुँह बात नहीं करता, किसी का लिहाज़ नहीं करता, उसका चेहरा ही मनहूस है, और यह भी कहा जाता है कि सवेरे उसका चेहरा देख लिया जाए तो दिन-भर रोटी नसीब नहीं होती।

आज सवेरे निरूला ने उससे कह दिया, ''लाला उत्तमचन्द, देखो, इस तरह हर समय माथे पर तेवड़ी मत डाले रहा करो। आदमी खुशदिली से बात करे तो सेहत अच्छी रहती है और उम्र बढ़ती है। हर समय झुँझलाते रहना अच्छा नहीं।''

इस पर लाला उत्तमचन्द ने चश्मा नाक पर ज़रा नीचा किया और कहा, ''बाबू साहब, आप मेरी उम्र क्या समझते हैं? मेरी उम्र इस समय साठ साल है। और कोई दिखाइए साठ साल का आदमी, जो देखने में मेरे-जैसा लगता हो। मैं आपसे ज़्यादा सेहत के असूलों से वाक़िफ़ हूँ। मगर क्या करूँ—ज़िन्दगी ने ऐसा धोखा दिया है कि कहीं का नहीं रखा। आपका ख़्याल है कि मैं हमेशा से ऐसा हूँ? बाबू साहब, मैं भी आप लोगों की तरह हँसता-खेलता रहा हूँ, ऐसी बात नहीं है। मेरे में यह चिड़चिड़ापन दो-तीन साल से ही आया है। मेरे पाँच लड़के और चार लड़कियाँ थीं—वे सब रहते तो मैं इस उम्र में नौकरी कर रहा होता? आराम से घर बैठकर न खाता? मेरी सरकारी नौकरी थी। नब्बे रुपए पेंशन मेरे लिए कम नहीं थी। मुझे क्या पड़ी थी, यह सब झंझट उठाने की? पर बाबूजी, मेरे तीन लड़के और दो लड़कियाँ गुज़री हैं। उन्होंने मुझे कहीं का नहीं रहने दिया। एक लड़की अट्ठाईस महीने बीमार रहकर गुज़री है और दूसरी अट्ठारह महीने। जो अट्ठारह महीने बीमार रही, वह तो मुझे बिल्कुल तबाह ही कर गई। मेरा सारा प्राविडेंट फंड—छह हज़ार का छह हज़ार, उसकी बीमारी पर लग गया। और जो कुछ था, वह भी लग गया।

और फिर उसने गुरुदास राय की दी हुई एक फ़ाइल पर दृष्टि डाली, कुछ रिमार्क लिखे, एक लड़के की अर्ज़ी पढ़ी, उसे बताया कि उसे फ़ीस में कन्सेशन नहीं मिल सकता, दो काग़ज़ों को प्रिंसिपल के पास ले जाने की फ़ाइल में रखा और पुनः चश्मा ज़रा नीचा करके बोला, ''मेरा बड़ा लड़का ही होता तो मुझे किस चीज़ की परवाह

थी? वह इस वक़्त डॉक्टरी कर रहा होता। जितना उसकी पढ़ाई पर मैंने ख़र्च किया, और जिस तरह किया, वह मैं ही जानता हूँ। पर ख़ैर, जो परमात्मा की इच्छा! अब छोटा लड़का तैयार हो रहा है। दो-तीन महीने तक वह रेलवे में लग जाएगा। फिर मुझे कुछ आसरा हो जाएगा। मुझे यह नौकरी उम्र-भर थोड़े ही करनी है। साल नहीं, दो साल! बाबू साहब, मैं झुँझलाता हूँ तो आप लोगों पर नहीं झुँझलाता, मैं तो अपने पर झुँझलाता हूँ। मैंने क्या बुढ़ापे में अपनी जान को यह रोग लगा रखा है।''

—और फिर उसने चश्मा ठीक करते हुए गुरुदास राय से कहा, ''दो नम्बर की फ़ाइल देना इधर। अब पता नहीं एम.ए. के फॉर्मों की एंट्रियाँ हुई हैं कि नहीं। मैंने कितनी बार कहा है कि फ़ाइल रखने से पहले मुझे दिखा दिया करो।''

और फिर वह मुझसे कहने लगा, ''बाबू साहब, आपकी डिग्री अभी तक नहीं आई। यूनिवर्सिटी ने माँग भेजी है। जल्दी से मँगवाइए न। कल-परसों तक यहाँ से चली जानी चाहिए।''

और फिर क्षण-भर के लिए कुर्सी से टेक लेकर उसने आँखें बन्द करके कहा, ''वाह मालिक! तेरी करनी।''

जालन्धर : तिथि याद नहीं

हाँ, तो 6 तारीख़ की वह पार्टी।

मिस...के यहाँ उसकी कज़िन के विवाह के सिलसिले में वह पार्टी दी गई थी। पार्टी से पहले संगीत का कार्यक्रम था। सुबुलक्ष्मी तथा पंकज मलिक को गाने के लिए बुलाया गया था। ख़ूब रईसी ठाठ के साथ रोशनी की गई थी। पंडाल में पाँच-छह सौ व्यक्तियों के बैठने का प्रबन्ध था—स्टेज के बनाने में भी सुरुचि से नहीं तो मेहनत से तो काम लिया ही गया था। वहाँ की चहल-पहल—स्त्रियों के चेहरों के रंग—उनके कसे हुए रंगीन ब्लाउज़—कुछ ऐसा प्रतीत होता था जैसे वे सब भी आसपास की रोशनी का ही अंग थीं—रंगीन बल्बों की चलती-फिरती लड़ियाँ। केवल उनके बदसूरत चेहरे इस रंगीन भ्रम में कुछ बाधा डालते थे। अधिकांश युवतियाँ। वैसे वे सब ही युवतियाँ थीं—षोडषियाँ अध-उभरे अंगों को चेष्टा के साथ अतिरिक्त उभार दिए थीं और प्रौढ़ाएँ ढलके हुए अंगों को सहारा देकर उन्नत किए हुए। बिना कारण और कार्य के इधर-से-उधर और उधर-से-इधर आ-जा रही थीं। वैसे आत्मप्रदर्शन की व्यस्तता कुछ कम महत्त्व नहीं रखती। ऊपर से नीचे तक गाउन पहने हुए एक महिला की ओर संकेत करके मेरे साथी ने कहा, ''यह...की बहन है। अभी हाल ही में अमरीका से लौटी है।''

मैंने आँखों से उस महिला के व्यतीत यौवन को बाँध रखने के उत्साह की प्रशंसा करते हुए साथी से पूछा, ''उसके पति वहाँ एम्बेसी में हैं, या कोई स्वतन्त्र काम...''

परन्तु मेरी बात बीच में ही काटकर मेरा साथी बोला, "अरे यार, पति की तो अभी तलाश हो रही है..." और फिर क्षण-भर रुककर उसने कहा, "वैसे वहाँ एम्बेसी में ट्रायल होते रहे हैं।"

इस बीच कुछ अपने परिचित लोग और आ गए थे। अतः अपना ध्यान उनकी ओर बँट गया। एक पी.सी.एस. महोदय, जो सदा मुझे देखकर तपाक से हाथ मिलाते हैं, और बहुत उत्साह के साथ दूसरों को मेरा परिचय देते हैं कि मैं उनके एक घनिष्ठ मित्र का घनिष्ठ मित्र हूँ, फिर किसी को मेरा वही परिचय दे रहे थे और मेरा एक अभिजात परिवार का विद्यार्थी, जो उपस्थित समुदाय में से अनेक लोगों को जानता था, अपने अट्ठारह वर्षों का पूरा उत्तरदायित्व चेहरे पर लाकर अधिकारपूर्ण ढंग से कह रहा था कि उसे पंकज मलिक का संगीत क़तई पसन्द नहीं—यदि उसका वश चले तो वह उसे क़त्ल कर दे!

बारातियों के आ जाने के बाद पंकज मलिक ने एक गीत गाया। लोगों के सिर हिले—कुछ प्रशंसात्मक वाक्य और तालियाँ। फिर वधू को वहाँ लाया गया। उसने वर को माला पहनाई और सबको हाथ जोड़ती हुई लौट गई। उसके बाद सुबुलक्ष्मी का गीत आरम्भ हुआ।

—कर्नाटक का शास्त्रीय संगीत। चहलगोइयाँ होने लगीं। चहलगोइयाँ बातों में बदल गईं...और फिर कुछ ऐसा वातावरण हो गया जैसे किसी शो का इंटरवल चल रहा हो।

—त्यागराज का गीत—दूल्हा उठकर चल दिया—उसके दोस्त भी। उन सबने शायद पी रखी थी। दो-एक स्थानीय नेता आए, तब जाकर देख आए कि कहीं उन्हें आगे की सीटों पर जगह मिल जाए, पर निराश होकर लौट आए क्योंकि और लोगों ने पहले ही तत्परतापूर्वक सीटों पर अधिकार कर लिया था।

एक संस्कृत गीत। कुछ लोग टहलने के लिए बाहर चले गए। एक मोटे से सज्जन शोर मचा रहे थे कि जब लोगों को चीज़ समझ में नहीं आती तो वे हमारे आनन्द में बाधा क्यों डालने लगते हैं?

"कुछ आ रहा है समझ में?" सबने पूछा।

"तबला बाजा समझ में आ रहा है," दूसरे ने उत्तर दिया।

"चलो, कोल्ड ड्रिंक पी आएँ।"

"चलो।"

"अब तो भूख भी लग आई।"

"यहाँ दस बजेंगे।"

"चलना चाहिए।"

"नहीं, अभी पंकज मलिक के गीत होंगे।"

"नहीं, सुना है, वह अब कल सवेरे गाएगा।"

"फिर भी बैठना चाहिए। लोग कहेंगे कि इनकी समझ में नहीं आया इसलिए उठकर चल दिए।"

एक निःश्वासपूर्ण—"अच्छा।"

मीराबाई का भजन।

ध्वनियाँ रुक गईं। गए हुए लोग लौट आए। सीटें भर गईं।

"ख़ूब!"

"यार, बहुत अच्छा गाती है!"

"गले में लोच देखो!"

"वाह!"

"वह बूढ़ा देखो घड़ा किस तरह मस्त होकर बजा रहा है!"

"आप भी तो वह घड़ा-सा है!"

"वह साथ गानेवाली कौन है?"

"पता नहीं।"

एक कबीर का भजन।

"यार, क्या गला पाया है!"

"गला भी पाया है और सूरत भी!"

"वाकई, है ख़ूबसूरत।"

"सुना है, दो हज़ार रुपए लेकर आई है।"

"सचमुच डिज़र्व करती है!"

तालियाँ।

एक सूर का भजन।

"कमाल है।"

"पंकज इसके सामने कुछ नहीं।"

"अरे भई, यह क्लासिकल चीज़ है, वह तो बस ऐसे ही है।"

"इसके बाद वह नहीं जमेगा।"

"वह गाएगा ही नहीं—देख लेना।"

फिर कर्नाटक संगीत।

"चीज़ बहुत बढ़िया है—यह और बात है कि अपनी समझ में नहीं आती।"

"इन चीज़ों को सुनने का भी अभ्यास चाहिए।"

"गले का उतार-चढ़ाव लक्षित करो।"

"मुझे ठंड लग रही है।"

"चलो, चाय पी आएँ।"

"ठहर जाओ, शायद इसके बाद फिर भजन गाए।"

"सवा नौ तो हो गए। अब और नहीं गाएगी।"

"सुना है, दस बजे की गाड़ी से जा रही है। कल दिल्ली, पंडित जी के यहाँ प्रोग्राम है।"

—कुछ देर के लिए गीत रुक गया और घड़ा तथा तबलावादक के बीच अपने-अपने साज़ का चमत्कार दिखाने की प्रतिद्वन्द्विता छिड़ गई।

"वाह!"

"ख़ूब पट्ठे!"

"ये उसे मात दे गए।"

"यह चीज़ बहुत बढ़िया है।"

"देखो, कैसे हिलहिलाकर घड़ा बजाता है।"

"साहब बैठ जाइए—पीछेवालों को भी देखने दीजिए।"

"मज़ा आ गया।"

"असली चीज़ अब आई है।"

और फिर गीत आरम्भ हो गया।

तीन भजन और।

"अब तो देर हो गई—अब पंकज क्या गाएगा।"

"सुना है, वह नाराज़ हो गया है।"

"नहीं, अब मान गया है। इसके बाद वह गाएगा।"

"इसकी तान ख़ूब है।"

"मुझे तो नींद आ रही है।"

एक गांधी का भजन और—समाप्त।

"पंकज आ रहा है। वह आ गया।"

और हवा में फिर पंकज के गीत का स्वर गूँजने लगा—"दो नयना मतवारे तिहारे, हम पर जुल्म करें।"

उसके बाद बुफे डिनर का आयोजन था। अधिकांश लोगों की संगीत की अपेक्षा इस आयोजन में अधिक रुचि थी—उतनी मेज़ों पर सजे हुए खाद्य पदार्थों के कारण नहीं, जितनी उन सजी-कसी, लिपी-पुती आकृतियों के कारण, जो मेहमानों से खाने का आग्रह करती घूम रही थीं और स्वयं मेहमानों के आग्रह से दाना चुगने की तरह यहाँ-वहाँ से थोड़ा-कुछ खा रही थीं। सुबुलक्ष्मी और पंकज़ मलिक तो वहाँ कहीं दिखाई नहीं दे रहे थे—उस महफिल के हीरो थे प्रान्त के शिक्षा मन्त्री तथा उनके इर्द-गिर्द छोटे ग्रहों की तरह घूमते हुए स्थानीय नेतागण और कुछ अख़बारों के रिपोर्टर। मिस...जिसके निमन्त्रण से मैं उस आयोजन में गया था, भी उस समय

गृहिणी की-सी व्यस्तता का भाव लिए इधर-उधर आ-जा रही थीं और भरी हुई प्लेटें लेकर खा रहे लोगों से कुछ और खाने का आग्रह कर रही थीं। मुझे देखकर उसने कहा, ''वाह, आपको मैंने पहले देखा ही नहीं।''

''मैं यहाँ बहुत पहले से हूँ।'' मैंने कहा, ''संगीत सभा के आरम्भ से पन्द्रह मिनट पहले ही आ गया था।''

''और मैंने आपको देखा तक नहीं—मैंने सोचा शायद आप आए ही नहीं।'' और मैं जानता था कि उस दिन की व्यस्तता में उसके पास ऐसी बात सोचने का अवकाश ही नहीं रहा होगा।

''आइए, कुछ खा तो लीजिए,'' उसने कहा।

''मैं खा चुका हूँ,'' मैंने उत्तर दिया।

''तो ठहरिए, आपके लिए आइसक्रीम मँगवाती हूँ।''

''मैं आइसक्रीम भी खा चुका हूँ।''

''तो और लीजिए, मैं अभी मँगवाती हूँ।''

''नहीं, और नहीं लूँगा।''

''कैसे नहीं लेंगे?'' और उसने अपने भाई को आदेश दिया कि वह आइसक्रीम की दो-तीन प्यालियाँ ले आए।

''संगीत कैसा था?''

''सुबुलक्ष्मी बहुत अच्छा गाती है।''

''सचमुच पंकज तो उसके सामने फीका रहा। परन्तु उसका संगीत यहाँ के लोगों को समझ में नहीं आया।''

''कुछ ऐसा ही लगता था।''

''क्लासिकल चीज़ को एप्रिशिएट करने के लिए टेस्ट भी चाहिए और ट्रेनिंग भी।'' और उसने भाई द्वारा लाई गई आइसक्रीम की प्याली मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा, ''लीजिए! आइसक्रीम को कभी इनकार नहीं करना चाहिए।''

लौटते हुए, सहगल बोला, ''आज मिस...तो ख़ूब ड्रेस और मेकअप में थी।''

''पार्टी का दिन जो था,'' मैंने कहा।

''पार्टी का दिन भी था और आप ही पार्टियों का मौक़ा पैदा करने की कोशिश भी।''

''मतलब?''

''मतलब यह कि ऐसे ही इन पार्टियों में अपने शरीर का विज्ञापन किया जा सकता है, जिससे कोई ग्राहक मिल जाए। इसकी बड़ी बहन भी अभी कुँवारी है, जो अमरीका होकर आई है—इसकी बारी तो अभी बाद में आएगी!''

"यह बाईस-एक बरस की तो होगी।"

"बाईस की? यह चौबीस से कम की नहीं है। इसकी बड़ी बहन तीस के लगभग होगी। वैसे इन्हें परवाह किस चीज़ की है?"

"मतलब?"

"मतलब यही कि सरकारी ठेके लेने में ये बाप की सहायता करती हैं। उस तरफ़ बाप का काम हो जाता है और इस तरफ़ इन्हें भी किसी तरह का अभाव नहीं रहता।"

"लोग नाहक भी तो बदनामी करने लगते हैं।"

"कुछ-न-कुछ बात होती ही है तो लोग बदनामी करते हैं। औरों की क्यों नहीं करते? लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि इनके घर में नौकरों को वेतन रुपए-पैसे के रूप में न मिलकर सजीव द्रव्य के रूप में मिलता है।"

"इसमें कुछ सच्चाई भी है?"

"सच्चाई-वच्चाई का पता नहीं। लोग कहते हैं।"

सहगल अपने रास्ते चला गया तो वेद बोला, "बहुत बातूनी शख़्स है।"

"हाँ, है तो सही।"

"यूँ ही बकता रहता है। बात में सच्चाई हो या न हो—कहीं से इसके कान में पड़ जाए, यह उड़ाए बिना नहीं रहेगा। मेरा तो ख़्याल है कि...बहुत शरीफ़ लड़की है।"

"मेरा भी यही ख़्याल है।"

"अच्छा, कल मिलेंगे।"

"ओ के।"

जालन्धर : तिथि याद नहीं

उस दिन वह आई थी—वह जो अब तक अकेली दिखती रही है—उसके साथ क...थी—ये दोनों इकट्ठी क्यों और किस तरह आईं, यह मैं नहीं जानता। मैं बस-स्टाप के पास खड़ा था—कॉलेज जाने के लिए बस पकड़ने के उद्देश्य से—जब मैंने उन दोनों को पास से गुज़रते देखा—मेरे पास दो लड़के खड़े बात कर रहे थे। वे गुज़र गईं, और पेड़ के पास जाकर hedge की ओट में खड़ी हो गईं—बस आ गई, मैं बस में बैठ गया। उसी समय एक रिक्शावाले ने आकर कहा, "आपको वहाँ कोई बुला रही हैं।"

मैं उतरकर वहाँ चला गया। उसने कहा, "देखिए, हम तो आपसे मिलने आई हैं, और आप चले जा रहे हैं।"

"मुझे कॉलेज जाना है—मेरी दो बजे से क्लास है। कहिए?" मैंने कहा।

वे चुप रहीं।

"कोई विशेष काम हो तो आप बताएँ..."

वे चुप रहीं।

"तो इस समय तो मैं जा रहा हूँ–"

वे चुप रहीं।

मैंने रिक्शा लिया और चल दिया।

वे लौट गईं।

जालन्धर : 30-3-54

तीन महिलाएँ...

दीदी ने रात को कॉफ़ी पीने के लिए बुला रखा था। मैं परिचय के दिन ही उन्हें दीदी कहने लगा था, क्योंकि जिन महिला ने मेरा उनके साथ परिचय कराया था, वे उन्हें दीदी कहकर पुकारती थीं। तो वहाँ दीदी के अतिरिक्त वही भद्र महिला थीं और दीदी की छोटी भौजाई थी। जब मैं उनके घर पहुँचा, बत्तियाँ गुल थीं–जैसा कि प्रायः मॉडल टाउन में होता है। चर्चा यह हो रही थी कि कॉफ़ी गरम पी जाए या ठंडी–क्योंकि दीदी वैसे तो बत्ती जाने से पहले पर्क्युलेटर से कॉफ़ी बना चुकी थीं–पर मुझे कुछ देर हो गई थी, और कॉफ़ी को बने लगभग दस मिनट समय बीत चुका था।

मेरे पहुँचने पर कुर्सियाँ बाहर बरामदे में निकलवाई गईं और वहाँ बैठकर कॉफ़ी के साथ बातचीत आरम्भ हुई। कॉफ़ी अभी कॉफ़ी गरम थी, अतः गरम ही पीने का निश्चय हुआ–दीदी ने आम काटे, जो खट्टे थे। कुछ मीठा और नमकीन था–मेरी परिचिता भद्र महिला ने नमकीन में अधिक रुचि प्रदर्शित की।

बातचीत नाटकों और स्टेशन डायरेक्टर की पार्टी आदि विषयों से होती हुई दीदी के एक क़िस्से पर आ गई। दीदी उसी दिन की एक घटना सुनाने लगीं–"आज मुझे कॉलेज से लौटते हुए एक व्यक्ति मिला।"

"अरे कहाँ? कैसा था वह?" भद्र महिला ज़रा स्मार्ट भाव से बोलीं।

"मैं क्या जानूँ कौन था?" दीदी बोलीं, "टांडा के कॉलेज का एक प्रोफ़ेसर था," और बताने लगीं कि किस तरह उन्होंने उस व्यक्ति को बेवक़ूफ़ बनाने की चेष्टा की।

मैं उन तीनों महिलाओं की प्रतिक्रियाएँ लक्षित कर रहा था। उनकी स्मार्टनेस, पुरुषनिन्दा, चतुरता, व्यस्तता आदि के पीछे एक पीड़ा स्पष्ट झलक रही थी, और वह थी उनकी दबी हुई वासना। वे बार-बार–भले ही निन्दा के प्रकरण में–चर्चा पुरुषों के विषय पर ही ले आती थीं और यदि एक सीमा-विशेष पर आकर वे अपने को रेस्ट्रेन कर लेती थीं, तो शायद इसीलिए कि उस समय उनकी मंडली में एक पुरुष भी उपस्थित था।

जालन्धर : 27-11-54

हमने पिछले दिनों कॉलेज में एक वेरायटी शो किया था। उसके लिए मेरे एक सहयोगी प्रो...ने, जो ड्रामा क्लब के प्रधान भी हैं, एक नाटक लाकर दिया कि उसे खेला जाए। नाटक खेला गया–परन्तु स्टाफ़ के कुछ लोगों ने आपत्ति की कि उस नाटक में 'आर्यों' का मज़ाक उड़ाया गया है और लड़कियों को फ्लर्टेशन करते दिखाया गया है। जब स्टाफ़ रूम में इस सम्बन्ध में ख़ूब गर्मागर्म बौछार हुई तो प्रोफ़ेसर साहब ने सकपकाकर रुख बदला और फरमाया, "मैं तो चाहता था कि इसे adapt करके खोला जाए, पर राकेश ने इसे adapt नहीं होने दिया।"

इस सम्बन्ध में वास्तविकता इतनी ही थी कि मैंने एक बार कहा था कि सारे नाटक में आर्य, शक, हूण, मंगोल आदि जातियों की चर्चा है–उसमें नाटकीय प्रभाव ही बनाए रखने के लिए उस चर्चा का रहना आवश्यक है–नहीं तो कोई और ही नाटक चुन लिया जाना चाहिए। विशेष ज़ोर इसलिए नहीं दिया था कि और नाटक जो सामने थे, वे मेरे ही लिखे हुए थे। उस समय तो उन महोदय ने इस बात को अपनी विजय समझा था, कि उनके द्वारा लाया गया नाटक खेला जा रहा है–पर बाद में जब आलोचनाएँ हुईं तो पैंतरा बदल गए।

स्टाफ़ रूम में मेरी भी उनसे इस विषय को लेकर गर्मागर्मी हो गई। अब आप बोले, "मैं तो कहूँगा कि तुम्हारे नाटकों की बजाय हम एक अन्य व्यक्ति का नाटक खेल रहे थे, अतः तुमने जानबूझकर, इस उद्देश्य से कि हमारा प्रोग्राम ठप हो जाए, adaptation नहीं होने दी।"

इस पर मैंने उन्हें सुझाया कि मैं उस कमेटी का सदस्य भी नहीं, जिसकी ओर से नाटक खेले जा रहे हैं–मैं उन्हें इस चीज़ से prevent कैसे कर सकता था, तो वे फिर सकपकाए और हठधर्मी से अपनी बात को दोहराते रहे।

मैंने उस कमेटी के डीन से बात की। वे बहुत आवेश के साथ बोले कि यह बात ग़लत है–वे इसका खुले तौर पर विरोध करेंगे और वास्तविक वस्तुस्थिति लोगों के सामने रखेंगे। दो दिन बाद वे मुझसे बोले, "मैंने कहा, शान्ति ही रहने दी जाए–वैर-विरोध बढ़ाना अच्छा नहीं। मैं भी दखल देता तो बात और बढ़ती। आप शान्ति रखें–शान्ति बहुत अच्छी चीज़ है।"

मैं मन-ही-मन हँस लिया। और दो-चार रोज़ बीत गए। वही प्रोफ़ेसर महोदय, ड्रामा क्लब के अध्यक्ष, मुझे स्टाफ़ रूम से निकलते देख बाँहें फैलाकर खड़े हो गए और चार आदमियों को सुनाकर बोले, "आओ भाई, क्या हाल है? तीन-चार दिन से मिले ही नहीं। मुझसे नाराज़ तो नहीं? मेरा तो ऐसा स्वभाव है कि कभी कोई मुझसे नाराज़ रह ही नहीं सकता। लोग ज़रूर कोशिश करते हैं आपस में फूट डलवाने की, मगर मैं उन चीज़ों को बहुत छोटी समझता हूँ। हम तो मित्र हैं, मित्र ही रहेंगे..."

मैं एक बार फिर मन-ही-मन हँस लिया।

...और फिर आठ महीने के व्यवधान के बाद!

क्या नहीं हुआ? ज़िन्दगी बदल गई—अपना पुनर्जन्म हो गया—मानसिक गुलामी से मुक्ति—अस्वस्थ घुटन से मुक्ति—

जीवन का न्याय आकर्षण में है और जो आकर्षण तुम्हें खींचे उसकी ओर खिंचे चले जाओ।

जालन्धर : 24-9-55

दस महीने के बाद—केवल अपने को अपनी याद दिलाने के लिए।

नौकरी के दलदल और अपने आत्म में गहरा संघर्ष है—मैं जीतूँगा—ज़रूर जीतूँगा।

जालन्धर : 29-9-55

मैं ज़िन्दगी-भर डायरी लिखने की आदत नहीं डाल सका। मैंने कई बार कोशिश की, कई दिन लगातार कई-कई पन्ने लिखे भी, परन्तु फिर वह डायरी वहीं की वहीं छूट गई—कभी साल-छह महीने बाद मैंने फिर आगे चलने की चेष्टा की तो फिर वही अंजाम हुआ। यही वजह है कि अपने जीवन के संस्मरण लिखते हुए मुझे विश्वास नहीं है कि मैं इन्हें पूरा कर पाऊँगा। कह नहीं सकता कि कब कहाँ पूर्ण विराम लग जाए और ये पन्ने भी पहले की अधूरी डायरियों के पन्नों की तरह शेल्फ़ के कोने में या किताबों के पीछे कहीं धूल से लथपथ होते फिरें, और मुझे इन्हें देखकर बार-बार चिढ़ना पड़े क्योंकि ऐसे अधूरे पन्ने मेरे पास बहुत जमा हैं जिन्हें न रखते बनता है न फेंकते—वे पुराने चीथड़ों की तरह एक ढेर बनते जा रहे हैं, कुछ लिखे और कुछ टाइप किए पन्ने, जो फ़ाइलों के अगल-बगल से झाँकते मुझे बहुत बुरे लगते हैं। मुझे कोरे काग़ज़ों से बहुत लगाव है और ऐसे काग़ज़ों से सख़्त चिढ़ है जिनके कोने इधर-उधर से टूटे हों। मगर मेरे अपने लिखे हुए काग़ज़ ज़्यादातर इसी हालत में रहते हैं और मैं उन्हें उठाता हूँ तो कुछ इस तरह जैसे किसी अपात्र पर कृपा कर रहा होऊँ।

1-10-55

जीवन के संस्मरणों का जन्मस्थान के संकेत से आरम्भ किया जाए, ऐसा कुछ रिवाज़-सा है और इस रिवाज़ का पालन करने में भी मुझे काफ़ी कोफ़्त का अनुभव होता है, क्योंकि मेरा जन्म एक तंग शहर की एक छोटी-सी गली के एक बहुत अँधेरे

घर में हुआ और जो वातावरण मुझे आरम्भ में मिला, उसमें भी श्लाघनीय कुछ नहीं था। मुझे ऐसे लोगों से स्पर्द्धा होती है जो देवदारों से लदे हुए उन पहाड़ी प्रदेशों में पैदा हुए जहाँ गिरते और मचलते हुए पहाड़ी झरनों ने उनकी विस्मित शिशु आँखों को अपने सौन्दर्य से भर दिया था जिन्हें बचपन में खेलने को खुले समुद्र तट मिले जहाँ वे रेत के घरौंदे बनाते और बिखेरते रहे। मेरा जन्म अमृतसर की जिस गली में हुआ, वहाँ ताज़ा हवा तक तो पहुँच नहीं पाती थी। हमारा घर अँधेरा तो था ही, साथ ही वह काफ़ी छोटा भी था क्योंकि उसकी दोनों मंज़िलों पर मुझे कुल दो कमरों का होना ही याद है—इसके अतिरिक्त एक रसोई और एक ठाकुरजी का कमरा शायद और था। नीचे ड्योढ़ी के साथ सटे हुए दीवानख़ाने में एक अलमारी भी जिसमें कितनी ही रहस्यमय चीज़ें रखी रहती थीं—हाथी-दाँत की माला, बुन्दे, चाँदी की डिबिया और जाने क्या-क्या। मेरी उन चीज़ों को हाथ में लेकर तोड़ने की बहुत उत्कट इच्छा हुआ करती थी मगर अलमारी इतनी ऊँची थी कि बिना माँ की सहायता के मेरा हाथ उन चीज़ों तक नहीं पहुँच पाता था। और माँ मुझे कोई चीज़ तोड़ने का अवसर नहीं देती थी। मेरी दूसरी इच्छा ऊपर टँगा हुआ पिता का सितार लेकर बजाने की होती थी, जो मुझसे कहा जाता था कि मुझे बड़ा होने पर दिया जाएगा। मैं एड़ियाँ उठाकर हज़ार बार प्रमाणित करता कि मैं पहले से बड़ा हो गया हूँ, मगर कोई भी मुझ पर विश्वास करने को तैयार न होता।

हमारे घर के साथ सटा हुआ बाल कौर ब्राह्मणी का घर था। बाल कौर और मेरी दादी में बहुत घनिष्ठता थी और इसी वज़ह से प्रायः उनमें लड़ाई हो जाया करती थी। बाल कौर के घर के आगे टाइलों का छोटा-सा दालान था। वहाँ हम और आसपास के दो-चार घरों के बच्चे इकट्ठे होकर खेला करते थे। जब बाल कौर की दादी के साथ लड़ाई हो जाती तो हमारा वहाँ खेलना बन्द हो जाता। कई-कई सप्ताह उन दोनों की बोलचाल बन्द रहती और हम खिड़कियों के पास खड़े होकर उदास आँखों से ख़ाली दालान को ताका करते। अन्त में किसी त्यौहार के दिन दादी बाल कौर को या बाल कौर दादी को कुछ मिठाई या फल-वल भिजवा देतीं और इस तरह फिर से उनके मित्रताकाल का आरम्भ हो जाता। जिस दिन दादी बाल कौर से एक शब्द बोल लेती, उसी दिन हम उछलते हुए बाल कौर के दालान में खेलने पहुँच जाते। मेरी बड़ी बहन और चचेरी बहनें वहाँ किक्कली डालतीं या गीटे और टहनें खेलतीं या एक दूसरी की बाँहों में बाँहें डालकर ऐसी कोई पंक्ति गातीं—'विमला को लेने आते हैं, आते हैं ठंडे मौसम में', और मैं अस्थिर ढंग से पास खड़ा एक पैर से टाइलों वाले फ़र्श पर प्रहार करता हुआ बोलता, 'कबड्डी, कबड्डी, कबड्डी...'

जालन्धर : रात्रि–26-1-57

–आज सवा साल के बाद, बल्कि सोलह महीने के बाद–इस दौरान ज़िन्दगी के सबसे बड़े द्वन्द्व से गुज़रा हूँ–मैंने पिछले छह साल की घुटन को समाप्त करना चाहा है–जिस औरत से मैं प्यार नहीं कर सकता, उसके साथ मैं ज़िन्दगी किस तरह काट सकता हूँ? आज वह मुझ पर 'वासना से चालित' और 'इन्सानियत से गिरा हुआ' होने का आरोप लगाती है–क्योंकि मैंने उससे तलाक़ चाहा है–क्योंकि मैं अपने अभाव की पूर्ति के लिए एक ऐसे व्यक्ति का आश्रय चाहता हूँ, जो मुझे खींच सकता है, बाँधकर रख सकता है।

जालन्धर : सुबह–1-2-57

कल की तीन कहानियाँ हैं।

सुबह कॉलेज में एक घटना हो गई थी, जो हमारे नैतिकता के ठेकेदारों की नैतिकता का पता देती है। कॉलेज क्रिकेट टीम के कुछ खिलाड़ियों ने स्कूल की एक टीचर को और उसके दो साथी टीचरों को रेलवे लाइन के पास रोक लिया कि वे लोग किसी बुरे फल के उद्देश्य से कहीं जा रहे हैं–उन्होंने टीचरों के साथ हाथापाई की–उन्हें गिराकर पीटा–लड़की ने उन्हें डाँटा तो उसकी साइकिल गिरा दी और उसे भी एकाध धक्का रसीद कर दिया–वे लोग किसी सेन्टर की मीटिंग अटेंड करने जा रहे थे। लड़की जल्दी से साइकिल पर जाकर सेन्टर से इस्लाह ले आई–फिर लड़कों की भी थोड़ी कुटाई हुई–और केस प्रिंसिपल के पास आ गया।

कॉलेज की क्रिकेट टीम दो-तीन दिन बाद यूनिवर्सिटी फाइनल मैच खेलनेवाली है। अशिष्ट व्यवहार के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी लड़का बिल्लू क्रिकेट टीम का सबसे अच्छा खिलाड़ी है–

सरगर्मी के साथ लोग इधर-उधर गए–क्रिकेट क्लब के प्रधान तथा स्पोर्ट्स डायरेक्टर के साथ प्रिंसिपल की कानाफूसियाँ हुई थीं। यह फ़ैसला किया गया कि बिल्लू बिलकुल निर्दोष है–उसने तो अनैतिकता को रोकने की ही कोशिश की थी और फिर जवानी में अक्सर ऐसा हो जाता है।

लड़की रो रही थी–उसके साथी नाम लिखा रहे थे–प्रिंसिपल साहब गम्भीर थे–और लड़के–बिल्लू और उसके साथी–सारी परिस्थिति की खिल्ली उड़ा रहे थे।

इधर स्टाफ़ रूम के बाहर धूप में कुर्सियाँ डालकर बैठे हुए लोगों में गर्मागर्म बहस शुरू हो गई। क्रिकेट क्लब के प्रेज़ीडेंट तथा स्पोर्ट्स डायरेक्टर वहीं आ बैठे थे–स्टाफ़ का प्रोग्रेसिव एलिमेंट ख़ासा गर्म था। तमाशबीन एलिमेंट नमकीन टिप्पणी कर रहा था और वे दोनों महानुभाव लड़कों को डिफेंड करने के लिए उनकी वकालत कर रहे

थे–बहुत से लड़के दूर से स्टाफ़ की इस गर्मागर्मी का आनन्द ले रहे थे...अन्ततः स्टाफ़ के दो मेम्बरों–भल्ला और जिन्दल में ही लड़ाई हो गई–

रिसेस की समाप्ति की घंटी बज जाने से यह हंगामा तितर-बितर हुआ।

दूसरी कहानी लोकेन्द्र की है। उससे मैंने कई बार उसकी उदासी का कारण पूछा था। उसने आज पाँच बजे आने को कहा था। वह पाँच बजे आ गया। उसने जो अपनी दास्तान सुनाई, वह दर्दनाक थी। उसके पिता फ़िल्म-लेखक और कवि हैं–डी. एन. मधोक के साथ मिलकर लिखते-लिखाते, खेलते-खाते रहे हैं। लड़का छुटपन से उस माहौल में पला है, जहाँ उसकी माँ को ठोकरें मारी जाती थीं–पिता रोज़ अपनी महबूबा खुरशीद के साथ रंगरलियाँ मनाते थे–जबकि उनके मित्र मधोक साहब निगार सुल्ताना के इश्क में गिरफ़्तार, अपनी बीवी से भी वही सलूक करते थे। उसकी माँ, यह कहता है, बहुत सुन्दर थीं–मगर सह-सहकर अब उनकी हालत अजीब हो गई है। उसने फिर यह भी बताया कि रुपया किस तरह बर्बाद होता रहा। रेसों में और शराब में, फिर खुरशीद भी उन्हें छोड़ गई–फिर 'गंगावतरण' में पैसा गँवाकर, रात को इसकी माँ को क्लोरोफॉर्म सुँघाकर उसके गहने निकालकर ले गए–अब हालत 'ज़ीरो' पर पहुँच गई है–स्थिति यह है कि कई-कई दिन घर में खाना नहीं बनता। अपने पिता के ये दो बच्चे हैं–यह और इसकी बहन। बहन ननिहाल में रहती है। मामा उसे पालपोस रहे हैं और उन्होंने उसकी ऐंगेजमेंट कर दी है–

"इतना ही शुक्र है कि हमारा घर बचा रहा," लोकेन्द्र ने कहा, "नहीं, यह भी हो सकता था कि हमारी हालत भी मधोक साहब के बच्चों-जैसी हो जाती–उनकी लड़कियाँ आज फर्स्ट क्लास सोसाइटी गर्ल्स हैं..."

यह किसी तरह कुछ काम करना चाहता है, जिससे यह अपनी माँ को सपोर्ट कर सके–

मैंने उसे अपनी ज़िन्दगी के कुछ ग्लिम्पसिस दिए–

लड़का गम्भीर हो गया। फिर ओंठ उठाकर बोला, "जी, मेरी माँ का भी कसूर है–ऐसी ज़बानदराज़ी करती थीं–वे retaliate न करतीं तो मैं सचमुच उन्हें महान् मानता–सचमुच उन्होंने भी पिताजी को बहुत तंग किया है।"

तीसरी कहानी अपनी हिमाक़त की है, जो ख़ामख़ाह डॉक्टर साहब को आपबीती सुनाने की कोशिश कर बैठे। पान खाए, अँगीठी जली, हाथ गर्म हुए, कहानी आरम्भ हुई–दो-एक लाइन रिमार्क्स दिए गए, खोसला साहब तशरीफ़ लाए–कहानी भाड़ में गई–दुनिया के भव्य सनातन तत्त्व की कुछ चर्चा हुई–डॉक्टर बाहर चल दिए–'हिन्दी साहित्य को स्त्रियों की देन' पर खोसला साहब का कटाक्ष हुआ और कहानी समाप्त हो गई।

इस बीच डॉक्टर साहब ने यह और बता डाला कि अम्बाले के कुलभूषण और मिलिटरी अफ़सर की बीवी की आत्महत्या का क़िस्सा एक ज़बर्दस्त कहानी का प्लाट हो सकता है। एक ने गाड़ी में बम्बई से लौटते हुए पोटाशियम परमेंगनेट खा लिया, दूसरे के हाथ से शीशी छूट गई और वह सही-सलामत घर पहुँच गया–सीरियस हुआ तो जेल में–फिर वफ़ादारी याद आ गई और उसने अफ़ीम हासिल करके खा ली–इतिशम्।

जालन्धर : सुबह, 3-2-57

स. दे. शर्मा को पत्र लिखा है कि वे हो सके तो मामले में हस्तक्षेप करके इसे अयाचित कटुता से बचा लें।

जालन्धर : सुबह, 8-2-57

कल

दिन में कॉलेज में इलेक्शन के चर्चे चलते रहे। प्रो. रामकृष्ण अपनी गम्भीरता और विद्वता बघारते रहे–"खाओ कांग्रेस का" आप बोले, "और वोट जनसंघ को दो। ये कांग्रेसी हरामज़ादे...।"

इस तरह उन्होंने हिन्दू राष्ट्रवाद का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया।

सोशलिस्ट श्रीराम शर्मा सिर्फ़ दाँत उघाड़कर मुस्कुराता रहा–आइ.ए.एस. की स्पेशल रिक्रूटमेंट का इम्तिहान देने के बाद से वह बहस मुबाहिसों में कम हिस्सा लेने लगा है।

दोपहर में निरूला कॉलेज आया था। गुप्ता के सुपरिंटेंडेंट बनने की वजह से उसकी ख़ासी लेगपुलिंग हुई–"इन्विज़िबल्ज़" के तजकरे ने बेचारी गुप्ता को embarrass कर दिया–

बाद दोपहर घर पर 'बूँद और समुद्र' पढ़कर समाप्त किया–नागर का यह उपन्यास चरित्र-चित्रण और थाट कन्टेंट दोनों दृष्टियों से बहुत अच्छा है–कुछ जगह थॉट कन्टेंट के लिए औपन्यासिकता को रुद्ध ज़रूर कर दिया गया है, और बाबा रामजी का चरित्र उतना कन्विन्सिंग नहीं बना–उस चरित्र को आध्यात्मिकता से बचाकर अधिक यथार्थ रखा जा सकता था–

मगर किताब वाकई ग्रेट है।

आज क...के घर चाय पीने के लिए गया था। तीन साल पहले वह एक दिन मिलने आई थी तो मैं कॉलेज जा रहा था–रुका नहीं था–

उस दिन मेरे मन में चोर था–मैंने अपनी ज़िन्दगी के यथार्थ को–अपनी घुटन और पीड़ा को अभी खुलकर स्वीकार नहीं किया था–

इसलिए मैंने रूखे व्यवहार के बाने में अपने अन्दर की कमज़ोरी को छिपा रखना चाहा था।

मगर जल्दी ही वह बाना बिखर गया।

एक दिन मैंने उसके सामने अपनी कमज़ोरी स्वीकार कर ली थी।

तब मुझे उसका रुख कुछ बदला हुआ लगा था–अब तक हास्पिटल वाली घटना हो चुकी थी। फिर लम्बा-लम्बा व्यवधान रहा। दो एक बार रास्ता चलते मुलाक़ात हुई– कुशलक्षेम हुआ, हाथ जोड़े गए–और इस तरह तीन साल–नहीं, दो साल निकल गए–

मेरे आपरेशन को दो ही तो साल हुए हैं।

इस लम्बे अर्से में मेरे आन्तरिक द्वन्द्व और मेरी पीड़ा के साक्षी दो-एक व्यक्ति ही हैं–

मैं उसकी तरफ़ से निराश हो चुका था।

इधर दूसरी तरफ़ की घटनाएँ अपनी अनिवार्य टर्न लेती गईं–

ज़िन्दगी से हटने और दोराहे से हटने में से एक च्वाइस था।

दोराहा छोड़ देने का निश्चय किया।

बहरहाल, परिस्थिति की इस करवट में उस दिन सहसा वह फिर सड़क पर मिल गई थी–

दो बातें हुई, उसने 'संकेत' की प्रति चाही–मैंने उसे अपने साथ घर तक चलने को कहा, कुछ बातें हुईं, मैंने रेडियो पर उसकी टाक fix करने की बात कही–

उन दिनों मैं छावनी में था–वह छावनी के स्कूल में हेडमिस्ट्रेस की पोस्ट के लिए ट्रायल दे रही थी।

वह 'संकेत' लेकर चली गई। उसने यह भी कहा कि किसी दिन मिलने के लिए आएगी–

यह भी कहा कि आप भी ज़रूर किसी दिन आइएगा।

वह अपने वायदे के अनुसार पन्द्रह-बीस दिन हुए अपने पिता के साथ एक दिन आई थी–पन्द्रह मिनट बैठकर चली गई–

और कल मैं उन लोगों के बुलावे पर उनके घर गया था।

सुबह : 9-2-57

डेढ़ दो घंटे उनके यहाँ चाय के साथ विनोद-चर्चा होती रही। क...आज भी उतनी ही सुन्दर और डेलिकेट है जितनी तीन बरस पहले थी। सारा समय बातचीत का मरकज़ वही बनी रही।

उसकी आँखों में "वह" भाव मैंने उस दिन भी देखा।

मैं उन लोगों के बीच एकाएक कितना होमली फील करने लगा था।

सहसा ब...सामने से निकलकर चली गई थी।

एक ग़लत कॉमा, एक ग़लत विराम, ज़िन्दगी का अर्थ किस बुरी तरह से बदल देता है।

जब तक मेरी ज़िन्दगी का ग़लत विराम हट नहीं जाता–ज़िन्दगी अपना सही अर्थ नहीं पा सकती।

उस रात को लौटकर सोलन का कार्यक्रम रहा। प्रेमी और जोशी मूड में साँपों की चर्चा करते रहे–प्रेमी ने एक साँप पकड़नेवाले का क़िस्सा सुनाया, जिसे घास से साँप पकड़ने के लिए बुलाया गया था–एक रुपया साँप देने का वायदा था। वह पहले सूँघ कर कहता, "अब भी खुसबू आय रही है।" और फिर बीन बजाता! उसने पाँच साँप निकाले–हर बार अलग व्यक्ति ने रुपया दिया। उस पर भी अभी खुसबू आए रही थी–मगर छठा कोई रुपया देनेवाला नहीं था, इसलिए वह खुसबू नाक में लिए हुए ही चला गया–

जोशी ने इस साँप का क़िस्सा सुनाया, जिसे शराब पीने की आदत पड़ गई थी। एक रोज़ एक आदमी की पीठ को फन से थपथपाने पर जब उसे पीने को स्काच मिली तो वह रोज़ स्काच के लिए उसके इर्द-गिर्द चक्कर लगाने लगा–बार-बार घूमता और उसकी पीठ पर दस्तक देता–जब स्काच मिल जाती तो मस्त होकर चला जाता।

कई चर्चाएँ हुईं–कि बन्दर साँप को किस तरह थुथनी रगड़कर मारता है–नेवला किस तरह मारता है–उड़न साँप कितना छोटा होता है और गर्भिणी का साया पड़ने पर किस तरह साँप अन्धा हो जाता है–

लुब्बे-लुबाब यह था कि साँप बहुत निरीह और शरीफ़ जानवर है–ज़हर की थैली की वज़ह से बेचारा ख़ामख़ाह बदनाम है।

कल दिन भर बहुत खुश रहा–ख़ूब दिल्लगी और हुज्जतबाज़ी की–अर्से के बाद इस तरह का एक दिन बीता।

कल मैं अन्दर से खुश था। यूँ, कल पिताजी की सोलहवीं बरसी थी।

आज रेडियो पर फिर उससे मुलाक़ात होगी–मैं उत्सुक भी हूँ और आशंकित भी। आशंकित इसलिए कि क्या मैं उसे पूरी परिस्थिति समझा सकूँगा? क्या वह पूरी परिस्थिति समझ पाएगी? और क्या उसका अवसर भी आ पाएगा?

आँख के एक हल्के से निमेष पर कितना कुछ निर्भर करता है।

जालन्धर : 16-2-57

9 तारीख़ की मीटिंग–स...के साथ होने से सब मामला चौपट हो गया। स... से मुझे सख़्त वितृष्णा हुई।

दूसरे फ्रंट पर उनका रवैया ठीक वैसा ही है। 'आदर्शवाद' की आड़ में यह औरत क्या खेल खेलना चाहती है? लगता है कि समस्या बिना कटुता के हल नहीं होगी।

सत्यदेव और रवीन्द्र सिंह को पूरी परिस्थिति का परिचय दे चुका हूँ। आज फिर दोनों को ख़त लिख दिए हैं।

जालन्धर : 24-2-57

इस बीच की तीन-चार कहानियाँ हैं।

उस दिन श्रुतिकान्त आया था। उसने अपनी बहन का क़िस्सा सुनाया। कहानी यह है कि लड़की की शादी हुई–पर गौने से पहले मियाँ-बीवी में शारीरिक सम्बन्ध हो गया (यह भी हो सकता है कि यह एक version मात्र हो)। तो हाँ, लड़की के गर्भ रह गया–लड़का पहले मान भी गया–फिर उसने इनकार कर दिया कि यह लड़की बदमाश है, मैं इसे घर में नहीं रखूँगा।

परिणामतः अब लड़की इनके यहाँ है–जवान लड़की को घर में सँभालना कहाँ तक सम्भव है? और दूसरी शादी के बारे में उनकी कम्युनिटी वालों का कहना है कि वे लड़की को गोली मार देंगे–दूसरी जगह नहीं जाने देंगे। श्रुति ने यह भी बतलाया कि उनकी कम्युनिटी में लड़की को कई बार पैदा होते ही गोली मार दी जाती थी, जिससे बाद में दिक़्क़त न हो।

दूसरी कहानी च...के लड़के की है जिसकी अभी-अभी शादी हुई है। लड़की के बारे में मैं पहले से जानता हूँ। वह अपनी बुआ के लड़के के साथ फँसी रही है और उसने उससे वायदा किया है कि शादी के बाद आकर एक रात उसके साथ काटेगी। वह एक बार कुछ कृपा ज...पर भी कर चुकी है और बेचारा ग...सीधा-सादा आदमी है–नाम तुल्य! हे जगदम्बे!

फिर जगदीश की कहानी है। ब्याह करके इस लड़के को क्या हो गया है? कल उसकी बीवी हमें अजीब-सी लगी–repulsive भी और ओवरएज भी। शायद इसी की प्रतिक्रिया हो कि वह आज चाय पर नहीं आया–ख़ैर, मुझे सामान ज़ाया होने की

चिन्ता नहीं—मगर उस लड़के को अगर अभी से घुन लग गया तो आगे चलकर क्या होगा? आज उसकी शादी हुए पाँच-छह रोज़ ही तो हुए हैं।

और हाँ, तुलसीरमण का भी तो क़िस्सा है—उसने दूसरी शादी की है। उसके बाद पहली और दूसरी बीवी दोनों से साथ-साथ एक-एक लड़की हुई। उसके कुछ शब्द—"नहीं जी, उसे मतलब है कि छोड़ा नहीं—मतलब है कि यूँ ज़रा प्रभाव सा था। ये—वह—उसके लिए—घरवाले भी और वैसे तो मैं भी—सोचते थे—और वह बात है न कि फूँकण की ज़रूरत होती—सो वह..." इत्यादि।

और वह कह रहा था कि सिर के सफ़ेद बालों का इलाज करने के लिए आम्रकल्प करेगा—अर्थात् 65 दिन सिर्फ़ आम-ही-आम खाएगा—दूध के साथ।

इस तरह उसका कायाकल्प होगा।

इलेक्शन की चर्चा चलने पर उसने कहा, "मैं खड़ा हो जाता जी पर वह है न, मुझे उसमें फ़ायदा कम था—इसमें फ़ायदा ज़्यादा है—सो मैंने कहा कि क्या खड़ा होना है—वैसे मैं हो ज़रूर जाता—unopposed—मगर मैंने कहा कि फ़ायदा नहीं है—"

"सबसे अधिक लाभ भाषण देने में है," वह बोला, "इस सौदे में कभी घाटा नहीं होता।"

—जी, हाँ जी, आप आइए न कभी...वहाँ धूप अच्छी है—हवा भी है—आइए न डॉक्टर साहब। इनको भी साथ लाइए न कभी।"

और साथ बैठा हुआ देवचन्द हँस रहा था—हाँ। हिसाब की बात है। सोचने की बात है। पते की बात है।

इसके अलावा जोशी से पता चला कि परसों रात प...जी स...के साथ कमरे में बन्द पाये गए।

होम फ्रन्ट पर बात कुछ आगे बढ़ी है। देखें 17 मार्च को क्या होता है।

जालन्धर : 30-4-57

—आज क्या-क्या लिखूँ? पहले आज की ही कहानी—कस्टम ऑफ़िस के बाहर वह शख़्स बैठा था, मोटी-सी पगड़ी बाँधे—अपने आपसे ढील छोड़े—और बक रहा था—"हिन्दुस्तान को आज़ादी दिलाई सुभाष ने—आज़ादी दिलाई भगतसिंह ने—महात्मा गांधी ने दिलाई ये आज़ादी। या इन कुत्तों ने जो अब आज़ादी के साथ संभोग कर रहे हैं?—वहाँ से हम आए थे—अपने सामने अपनी बहनों-बेटियों को नग्न होते देखकर, अपने बच्चें को क़त्ल होते देखकर कि हाँ अब आज़ादी तो मिली है। यह आज़ादी मिली है कि पी...रात-दिन यहाँ धक्के खा रहे हैं और कहते हैं कि गवर्नमेंट

वक़्त ले रही है। सालो, यमराज भी तो हमारा वक़्त गिन रहा है। अगर वह वक़्त पूरा करेगा भी तो इधर तुम कहना कि तुम्हारी अर्ज़ी मंजूर हो गई।''

दफ़्तर का चपरासी उसे रोक रहा था, मगर वह और छिड़ता जा रहा था–

''मैं भौंकूँगा और यहीं बैठकर भौंकूँगा। मैं कुत्ता हूँ–परमात्मा का कुत्ता–God...God...परमात्मा Dog...Dog कुत्ता, मैं परमात्मा का कुत्ता हूँ–भौंकता हूँ–भौंकता रहूँगा, मुझे किसी का डर नहीं है। मैं आप परमात्मा हूँ–मैं ही नानक हूँ क्योंकि इसकी आवाज़ मेरे अन्दर बोलती है। मैं सच कहूँगा–ज़रूर कहूँगा। मेरे भाई की यह बेवा बैठी है–यह उसका लड़का है, दस साल का तपेदिक का मरीज–यह उसकी लड़की है, जवान–ब्याहने जोग–कहाँ ले जाऊँ इनको? घर में आय नहीं है; कहाँ से खिलाऊँ? सरकार आज वक़्त ले रही है। सरकार दस साल से वक़्त ले रही है। सरकार अभी दस साल वक़्त लेती रहेगी। राजा रणजीतसिंह आप भेस बदलकर घूमता था–प्रजा का दुःख-सुख देखता था और एक ये बादशाह हैं–बेताज बादशाह–ये बेताज बादशाह हैं और मैं बेलाज बादशाह हूँ। बग़ैर लागलपट बात कहूँगा। यह कुत्तों की हुकूमत है और मैं परमात्मा का कुत्ता भौंक रहा हूँ।''

और फिर आसपास खड़े उदास चेहरों को सम्बोधित करके वह कहने लगा, ''इस तरह क्यू बाँधकर खड़े रहो–खड़े रहो जब तक मौत नहीं आ जाती–भौंकते रहो जब तक शरीर में दम है, कुछ लेना है तो भौंको–कुत्तो, भौंको–सबके सब मिलकर भौंको, नहीं भौंकोगे तो कुछ नहीं मिलेगा–'' तभी उसकी अन्दर बुलाहट हो गई।

''लो देख लो–भौंकने का यह असर होता है। सबके सब मिल जाओ–एक आवाज़ से भौंको–खुदा के कुत्तो–एक आवाज़ से भौंको।''

जालन्धर : 5-5-57

सुबह सोमेश के साथ प्लाज़ा जा बैठे। व्यक्तिगत मामलों पर बात होती रही। उसे ब्याह की समस्या घेरे है, मुझे सम्बन्ध-विच्छेद की। सोमेश अपने भविष्य के बारे में बहुत अनिश्चित है–उसमें महत्त्वाकांक्षा बहुत है, यद्यपि उसकी सीमाएँ भी बहुत हैं। उसे प्रकाशन आरम्भ करने का झुकाव दिया। कर पाएगा, इसमें मुझे सन्देह है। वह जमकर बैठनेवाला प्राणी नहीं है। उसने परसों सम्बन्ध-विच्छेद की पिटीशन का मज़मून बनाकर भेजने को कहा है। मैं कल इलाहाबाद चला जाऊँगा, मज़मून मुझे वहीं मिल जाएगा।

दोपहर के बाद घर आकर सो गया। शाम को श्याम और मोहन मैत्रेय आए थे। शाम को शहर नहीं गया, मॉडल टाउन में ही टहल लिया।

जालन्धर : 6-5-57

आज दोपहर र...आई थी। उसने अपनी और दो डायरियाँ भी दीं। दो डायरियाँ उसने पहले दी थीं। इस लड़की की निर्कुंठता को मैं उसकी विशेषता समझता हूँ। साहस भी उसमें बहुत है जो कभी दुस्साहस की सीमा को भी छू लेता है। कभी-कभी यह बच्चों-जैसी बातें करती है। तब ज़्यादा अच्छी लगती है।

दोपहर को इलाहाबाद से भाभी का पत्र आ जाने से रात की गाड़ी से इलाहाबाद जाने का निश्चय किया। छुट्टी ले ली, तार दे दिया, पर वर्षा की वज़ह से नहीं चल सका। अब कल सुबह या दोपहर की गाड़ी से जाऊँगा।

कॉलेज एकेडेमिक काउन्सिल की मीटिंग से उठकर चला आया था। वर्षा हो रही थी। भीगते हुए रिक्शा लिया। वर्षा ख़ूब तेज़ हो गई। सामने से काफ़ी भीग गया। पीछे का परदा उठाकर तिरछा बैठ गया—जैसे खिड़की के पास। भीगती हुई सड़क पीछे हटती जा रही थी। इक्का-दुक्का आकृतियाँ थीं। पानी की डोरियाँ आकाश में जाली बुन रही थीं। रिक्शावाला शिकायत कर रहा था कि बत्ती हवा की वज़ह से बार-बार बुझ जाती है, सिपाही चालान कर देगा। वह हाथ में माचिस की डिबिया छनका रहा था कि उसका कानून तोड़ने का क़तई इरादा नहीं है। बिजली चमकती थी और बादल ज़ोर से गरज उठता था। सड़क की बत्तियाँ गुल हो गई थीं। वे सहसा चमक जातीं, फिर गुल हो जातीं। मुझे बहुत अच्छा लगा।

जालन्धर : 16-5-57

इस बीच इलाहाबाद चले जाने के कारण नियमित रूप से डायरी नहीं लिखी जा सकी। इन दिनों का ब्यौरा इस प्रकार है :

सात की दोपहर को फ्लाइंग मेल से चल दिया था। बंसल स्टेशन पर मिल गया था। अम्बाला तक वह साथ रहा। वह पाठ्य पुस्तकों के सम्बन्ध में अपने और दूसरों के हथकंडे बतलाता रहा। वह अपने साले की मृत्यु पर शोक प्रकट करने नहीं जा सका, क्योंकि उसे उस दिन अपनी पुस्तक की सिफारिश के सिलसिले में किसी से मिलने जाना था।

बंसल के जाने के बाद मैं काफ़ी देर तक र...की डायरी पढ़ता रहा। उसकी सेवासदन सम्बन्धी डायरी ज़िन्दगी के घिनौने यथार्थ पर बहुत प्रकाश डालती है। काश! कि इस लड़की ने हर चीज़ को और विस्तार के साथ अंकित किया होता।

रात को दिल्ली से स्लीपिंग कार में जगह मिल गई। कंडक्टर ने तीन की बजाय दो रुपए लिए और रसीद नहीं दी। मैं उस शख़्स के गोल-मटोल, डरपोक और लोलुप चेहरे को देखता रहा। पाँच का नोट उसे दिया था और उसने डरते-डरते, आँख से

मेरा जायज़ा लेते हुए, मुँह में कुछ बुदबुदाते हुए तीन एक-एक रुपए के नोट मेरी ओर बढ़ा दिए। पहले मेरा मन हुआ कि उसे तंग करूँ, मगर मुझे नींद आ रही थी इसलिए मैं सो गया।

आठ की दोपहर को इलाहाबाद पहुँचा। अश्क स्टेशन पर लेने आए हुए थे। कौशल्या भाभी स्टेशन के बाहर थीं। घर पहुँचकर पता चला कि शीला ने शाम को बच्चों की पार्टी रख रखी है। अश्क सात की रात को उसे बता आए थे कि मैं निश्चित रूप से आ रहा हूँ। दोपहर भर प्रतीक्षा की कि शायद वहाँ से कोई पैगाम आए या शीला बच्चे को मिलाने के लिए ले आए। इस बीच कमलेश्वर और दुष्यन्त के टेलीफ़ोन आए थे और उनसे छह बजे मिलने का तय किया था। चार बजे तक प्रतीक्षा करके निकल पड़े कि बच्चे के लिए कोई उपहार तो भेज दिया जाए। सिविल लाइन्स से बच्चे के लिए उपहार खरीदे। नीलाभ का वहाँ निमन्त्रण था, सो उपहार उसी के हाथ भेज दिए गए। रामा'ज़ कॉफे में दुष्यन्त और कमलेश्वर मिल गए। इलाहाबाद की साहित्यिक हलचलों की चर्चा होती रही। मार्कंडेय भी आ गया। नई कहानी के सम्बन्ध में एक पुस्तक निकालने की उन लोगों की योजना थी, जिस पर बात होती रही। राजमकमल में ओमप्रकाश का बुलावा आने पर वहाँ चले गए। वहाँ पाठकजी भी थे। थोड़ी-सी पुरतक़ल्लुफ़ बातचीत हुई। साही मस्त गयन्द की गति से आकर बैठ गया। दस मिनट बाद वहाँ से चल दिए।

रात को घर आकर फिर प्रतीक्षा की कि शायद कोई बच्चे को लेकर आए या वहाँ से कोई समाचार आए। कोई नहीं आया, सो बहुत निराशा हुई। बच्चे के जन्मदिन के लिए ही आया था और उस दिन उसी का मेल नहीं हुआ। बहुत दुःख और क्षोभ हुआ। रात देर तक जागता रहा।

नौ की सुबह अश्क जाकर शीला को बुला लाए। दोपहर को खाना खाने के बाद देर तक बातें होती रहीं। सारी स्थिति फिर एक बार खोलकर सामने रखी गई। शीला ने अपने पिता नवरत्नजी को पत्र भेजा कि वे भी वहाँ आ जाएँ। साढ़े दस बजे जब उनकी प्रतीक्षा करके निराश हो चुके तो वे आए। रात डेढ़ बजे तक बातें होती रहीं। जितने सवाल उठाए गए, उनमें से किसी का वे जवाब नहीं दे सके, मगर उनकी आर्य-समाजी हठधर्मी बनी रही। सारी बातचीत का निष्कर्ष यही था कि वे परिस्थिति को सुलझाने में सहायक नहीं, बाधक ही हो सकते हैं।

10 को शीला फिर बच्चे को लिए हुए आ गई। उसने बतलाया कि रात को वे लोग तीन बजे तक बातचीत करते रहे हैं और उसके पिता इस बात पर रज़ामन्द हो गए हैं कि हम लोग आपसी समझौते से जो निर्णय चाहें कर लें। वे सिर्फ़ यह चाहते हैं कि इलाहाबाद में केस न किया जाए। वकील को बुलाकर मशविरा किया गया।

कई तरह के उपाय सोचे गए। यह लगा कि वर्तमान कानून के अन्तर्गत सम्बन्ध-विच्छेद के लिए कोई-न-कोई तोहमत लगाना आवश्यक है। अन्ततः मैंने यही सुझाव दिया कि वस्तुस्थिति के सत्य को अपनाकर ही चला जाए। दो साल से शारीरिक सम्बन्ध न रहने के आधार पर पहले Judicial separation कर लिया जाए और दो साल बाद सम्बन्ध-विच्छेद के लिए कार्यवाही की जाए।

11 को सुबह अश्क ने नरेश मेहता, रेणु और भैरवप्रसाद गुप्त को नाश्ते पर बुलाया था। शीला भी आ गई थी। मुझे साथ ले जाने के लिए दुष्यन्त भी आ गया। कुछ देर काफ़ी शगल रहा। छुट्टी बढ़वाने का निश्चय पहले कर लिया था। भाभी को फ़ोनोग्राम लिखकर दे दिया। वहाँ से चलकर दुष्यन्त के साथ पहले कमलेश्वर के यहाँ गया। कमलेश्वर को लेकर श्रीपत और अमृत से मिलने गए। शिष्टाचार के अलावा कोई ख़ास बातचीत नहीं हुई।

शीला की माँ के आग्रह पर दोपहर का खाना उनके यहाँ मान लिया था। अश्क, कौशल्याजी और मैं—तीनों लगभग दो बजे वहाँ पहुँचे। नवरत्नजी घर पर नहीं थे। शीला की भाभी स्वर्ण को पहली बार देखा। देखने में मुझे वह लड़की बहुत ही साधारण लगी। मुझे आश्चर्य हुआ कि कैसे पुष्पाजी की जगह इन लोगों ने इस लड़की को पसन्द किया है? क्या सिर्फ़ रुपए-पैसे के लिए ही?

वहाँ से निकलकर बाज़ार में घूमते रहे। मुन्ने के लिए स्ट्रा हैट खरीदा। बाज़ार से कौशल्याजी लौट गईं। मैं और अश्क सिविल लाइन्स चले गए। रामा'ज़ में चाय पी। फिर राजकमल चले गए। वहाँ से मैं ओमप्रकाश को कॉफ़ी हाउस ले गया। वहीं बैठकर पन्द्रह मिनट में तय किया कि आगामी प्रकाशन मैं उनके यहाँ से अपने इन्वेस्टमेंट से करूँगा। यूँ उन्होंने बताया कि वे अपने डायरेक्टर्स की मीटिंग में मेरी सब किताबें अपने यहाँ से प्रकाशित करने का निर्णय कर चुके हैं। मगर मुझे अपने इन्वेस्टमेंट वाली स्कीम ज़्यादा पसन्द आई। वहाँ से निकलकर फिर रामा'-ज कॉफे में चला गया। वहाँ दुष्यन्त और गंगाप्रसाद पांडेय प्रतीक्षा कर रहे थे। कुछ देर बैठकर बाग़ की तरफ़ चले गए। बाद में पांडेयजी अपनी कार में सिविल लाइन्स तक छोड़ गए। हम दोनों ने रिक्शा लिया और जमुना ब्रिज की तरफ़ लम्बी सैर पर निकल गए। रास्ते में दुष्यन्त ने अपनी एक मुसलमान माशूका का क़िस्सा सुनाया और फिर द...का क़िस्सा शुरू कर दिया। उसने द...के साथ पहले कमलेश्वर के और फिर अपने सम्बन्ध के विकास पर प्रकाश डाला और बताया कि इस सम्बन्ध में शारीरिकता ने कहाँ और कैसे प्रवेश किया। द...के नीलाभ प्रकाशन छोड़ने से आज तक के सारे प्रकरण की संक्षिप्त रूपरेखा जानी और मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि ये लोग जो अश्क को बदनाम किया करते हैं, उसके मूल में इनकी व्यक्तिगत परिस्थितियाँ, स्पर्द्धाएँ और प्रतिस्पर्द्धाएँ ही हैं।

रात को अश्क ने किताब महल के श्रीनिवास को खाने पर निमन्त्रित कर रखा था। उसने भी द...का ही क़िस्सा छेड़ दिया। द...नीलाभ से जाकर पहले कुछ दिन उसके यहाँ रही थी। दुष्यन्त ने मुझे बतलाया था कि किस तरह श्रीनिवास द...को शारीरिक रूप से पाने के लिए उतावला हो रहा था और किस तरह उसने उसे बुत्ता दे दिया था। 'नई कहानी' की योजना में दोनों एक-दूसरे को बुत्ता ही दे रहे थे। अब श्रीनिवास बता रहा था कि द...के राजकमल में जाने के बाद से ओमप्रकाश के घर में क्या प्रतिक्रियाएँ हो रही हैं। विषय रोचक था, मगर मैं ज़्यादा देर नहीं सुन सका, क्योंकि मुझे नींद आ रही थी। मैं जाकर सो गया।

12 को फिर शीला सवेरे ही आ गई। उसके आने से पहले पाठकजी आकर खाने के लिए कह गए थे। आज 'परिचय' की गोष्ठी भी थी, जहाँ विशेष रूप से बुलाया गया था, परन्तु शीला के आने की प्रतीक्षा में ही वहाँ नहीं गया। आज हमें अन्तिम निर्णय कर लेना था। सुबह कुछ बातचीत नहीं हुई। ग्यारह-साढ़े ग्यारह बजे पाठकजी के यहाँ चला गया। रेंड और उनकी पत्नी भी खाने पर निमन्त्रित थीं। कुछ व्यक्तियों, जातियों और प्रादेशिक रीतियों के बारे में उखड़ी-उखड़ी-सी पुरतक़ल्लुफ़ बातचीत होती रही। डेढ़ बजे के लगभग लौट आया।

शाम तक हम लोगों ने बातचीत करके निश्चय कर लिया कि मैं ही 'ज़्यूडिशियल सेपरेशन' के लिए अप्लाई करूँगा—सम्भव हुआ तो पठानकोट से।

सायंकाल अमरकान्त और शेखर जोशी मिलने के लिए आ गए। मुझे इस बात की बहुत खुशी हुई कि उन दोनों ने प्रोफेशनल ढंग से बातें नहीं कीं। अश्क अपनी कविताएँ सुनाने लगे, इसलिए बातचीत रुक गई। चलते हुए खुसरो बाग़ के मोड़ तक फिर उन लोगों से कुछ बातें हुईं। इलाहाबाद के साहित्यिक माहौल से वे लोग बहुत कुछ 'फ्रस्ट्रेटेड' से महसूस हुए। 'परिमल' ग्रुप से तो वे अपने को अलग समझते थे, इसलिए उससे उन्हें गिला नहीं था। उन्हें गिला था तो 'परिचय' के ही अपने साथियों—कमलेश्वर, मार्कंडेय और दुष्यन्त से। द...कांड की वज़ह से भी इन तीनों से वे त्रस्त थे।

13 को चलने का पक्का इरादा कर लिया। दोपहर को रामा'ज़ कॉफे में दुष्यन्त मिल गया, और वह मुझे भारती के घर छोड़ आया। सारी दोपहर भारती से अपने निजी मसले पर ही बात होती रही। शाम को कॉफ़ी पीकर रघुवंश के घर गए। वहाँ चाय पीकर लौटते हुए भारती ने कान्ता को भी ले लिया और हम तीनों नीलाभ प्रकाशन आ गए। शीला अभी वहीं थी। वह थोड़ी देर में आने को कहकर मुन्ने को छोड़ने चली गई। मैंने सामान पैक किया। खाना खाने के बाद सब लोग स्टेशन चले गए। कमलेश्वर और दुष्यन्त वहाँ पहले से थे। दुष्यन्त ने मेरे साथ ही सहारनपुर तक चलने का कार्यक्रम बनाया था। विनय भी आया। गाड़ी लेट थी, इसलिए अश्क, भारती और विनय को भेज दिया। बाद में शीला कमलेश्वर के साथ चली गई।

गाड़ी के चलते ही दुष्यन्त को कहानी के सम्बन्ध में एक परिसंवाद करने की सूझी और एक घंटा नई कहानी के सम्बन्ध में हम दोनों का बेसिर पैर का परिसंवाद चलता रहा। उसके बाद दुष्यन्त सो गया, लेकिन मुझे सुबह तक नींद नहीं आई।

14 को सुबह गाजियाबाद स्टेशन पर सामान उतार लिया, क्योंकि दुष्यन्त अपने टिकट से दिल्ली होकर नहीं जा सकता था। ग़ाजियाबाद स्टेशन के फर्स्ट क्लास वेटिंग रूम में चार सौ बीसी करके नहाए धोए। फिर बस लेकर दिल्ली की तरफ़ चल दिए। रास्ते में एक शायर मिल गया जो गज़लें और किते सुनाता रहा।

दिल्ली पहुँचकर खाना खाया और राजकमल प्रकाशन में जाकर देवराज से मिले। दुष्यन्त को अपनी किताब का हिसाब लेना था। देवराज ने शाम को वहाँ चाय पीने के लिए कहा। वहाँ से उठकर रेडियो स्टेशन चले गए। वहाँ दुष्यन्त अपने प्रोफ़ेशनल काम में लग गया और मैं सत्येन्द्र शरत के साथ रिजर्व बैंक के कैन्टीन में चला गया। थका हुआ था, इसलिए शरत् से ज़्यादा बात नहीं हो सकी। उसने दुष्यन्त के साथ अपनी लड़ाई का क़िस्सा सुनाया जो दुष्यन्त मुझे पहले सुना चुका था।

रेडियो स्टेशन से लौटते हुए ओंकारनाथ श्रीवास्तव साथ चला आया। उसके सम्पादित संग्रह की बात को लेकर उसे थोड़ा मसला। फिर राजकमल से चाय पीकर ग़ाजियाबाद पहुँच गए। ठेके से बियर की बोतल लेकर एक सोडावाटर की दुकान की बेंच पर बैठ गए। दुष्यन्त महाराज व्हिस्की पीकर उलटे हो जाते हैं पर बियर उनसे ज़रा भी नहीं पी गई।

अभी जनता एक्सप्रेस के आने में अढाई-तीन घंटे थे। प्लेटफार्म पर बेंच के साथ सन्दूक मिलाकर लेट गए। दुष्यन्त ने फिर द–पुराण के विस्तृत उपाख्यान बतलाना आरम्भ कर दिया। उसने बतलाया कि किस तरह द...की माँ इस सारे प्रकरण की–यहाँ तक कि उन लोगों के cohabitation की साक्षी रही हैं। किस तरह वह ऐसे अवसरों पर उन्हें चाय पहुँचाती रही है और किस तरह द...बात-बात पर तमक कर उसे चप्पलों से पीटती रही है। उसने द...के साथ लखनऊ और बनारस जाने के क़िस्से भी सुनाए और यह भी कि कैसे उसमें और कमलेश्वर में खटपट हो गई थी। जिस वीभत्स नग्नता की ओर उसने संकेत किया उससे मेरा मन कई बार सिहर उठा और मुझे बहुत वितृष्णा हुई। मगर दुष्यन्त कहता रहा कि वह लड़की बहुत प्यारी है, और उसमें कई खूबियाँ हैं, और कि आज जब उससे लड़ाई है, उसे उसके बिना बहुत सूना-सूना लगता है। दुष्यन्त ने अपने कुछ जमींदारी के अनुभव भी सुनाए कि किस तरह उसने कई बार किसानों के घर जलवाए हैं और उनके यहाँ रिवाल्वर रखकर बरामद कराए और उन्हें जेल कराई है। "वहाँ जाकर साहित्यिकता-वाहित्यिकता सब भूल जाते हैं प्यारे लाल! वहाँ तो ठाठ से जमींदारी करते हैं।"

और फिर द...पुराण कि किस तरह वह उसकी लड़की को एक बार साथ ले आई थी और किस तरह वह cohabitation के तुरन्त बाद उसे भैया कहकर उससे पानी माँगती है और उसे उस पर प्यार हो जाता है।

रात गाड़ी में फिर नींद नहीं आई। इधर-उधर की बातों में मन बहलाया। सहारनपुर के बाद थोड़ी देर के लिए सो गया।

15 को जालन्धर पहुँच गया। खाना खाते ही घोड़े बेचकर सो गया और छह घंटे बाद होश आया। एक साहब बहुत दूर से मिलने आए थे...कुछ एम.ए. परीक्षा के सम्बन्ध में परामर्श लेने। उन्हें ठीक से अटेंड नहीं कर सका। शाम को पता चला कि कॉलेज अपना फ़ोनोग्राम पहुँचा ही नहीं और वहाँ तीन दिन से धूम मची हुई है कि राकेश साहब नदारद हैं।

रात को थोड़ा टहलने के बाद चिट्ठियाँ लिखीं। साढ़े दस बजे के क़रीब नरेन्द्र आ गया। साढ़े बारह बजे तक बातें होती रहीं। उसे अश्क और कौशल्या भाभी का सन्देशा दे दिया। अपनी तरफ़ से भी समझाने का प्रयत्न किया कि जिस लड़की से वह ब्याह कर रहा है, उसका क्षय रोग उसके और होनेवाली सन्तान के जीवन को ख़तरे में डाल सकता है, इसलिए उसे अब भी इस सम्बन्ध में सोच-समझ लेना चाहिए। नरेन्द्र असमंजस में तो था, पर वह यही निश्चय कर पाएगा, इसमें मुझे सन्देह है। मैंने उसे यह भी समझाने का प्रयत्न किया कि इस विवाह से उसके कार्य को और अन्ततः पार्टी को नुकसान पहुँचेगा, मगर नरेन्द्र की भलमनसाहत उसके रास्ते की सबसे बड़ी बाधा है।

आज 16 को कॉलेज से लौटकर पिछले दिनों की डायरी लिखता रहा। दोपहर को खन्ना के यहाँ चला गया। वहीं चाय पी। उसने 'द हार्ट हैज़ इट्स रीजन्स' शीर्षक पुस्तक–डचेज़ ऑफ विंडसर की जीवनी भेंट की। शाम को सुस्ती छाई रही। रेडियो के लिए कहानी लिखने का इरादा था–आज नहीं लिख पाया। अब बैठकर कुछ देर र...की डायरी पढ़ूँगा या डचेज़ की जीवनी...

जालन्धर : 17-5-57

कॉलेज से लौटते हुए कुछ देर प्लाज़ा में बैठे रहे। आज तबीयत काफ़ी खुश थी और मन हल्का था। वहाँ से उठकर घर चले आए। अम्मा को दवाई ला दी। खाना खाने के बाद दो घंटे पत्र लिखे। ज्ञान को एक तेज़ पत्र लिखा था, पर उसे पोस्ट न करके दूसरा पत्र पोस्ट कर दिया। मैंने कभी नहीं सोचा था कि यह आदमी इस क़दर 'मीडियाकर' हो सकता है। वस्तुतः मेरा ही मूल्यांकन ग़लत रहा है। मैंने अपने कैशोर्य में जो कुछ इस व्यक्ति में देखा था वह उस रूप में इसमें था नहीं। वह व्यक्ति नहीं एक टाइप है–और उस टाइप की अपनी सीमाएँ हैं।

नरेन्द्र के सम्बन्ध में कौशल्या भाभी को एक विस्तृत पत्र लिखा। पत्र लिखकर सो गया। कोच्छड़ के जगाने पर जागा और उसके साथ पिक्चर देखने चला गया–'मुसाफिर'। प्रयोग अच्छा है पर तीनों कहानियों का टोन बहुत सीरियस होने से बहुत डलनेस आ गई थी। इसमें मुझे सन्देह है कि साधारण जनता इस पिक्चर को पसन्द करेगी।

पिक्चर के बाद चावला के साथ प्लाज़ा चला गया। वहाँ ऋषिगोपाल से अपाइन्टमेंट था। रवीन्द्रसिंह भी वहीं आ गए। प्लाज़ा में भीड़ होने से नीरा में बैठे रहे। रवीन्द्रसिंह से मुझे बात करनी थी, इसलिए शेष दोनों से विदा ले ली। पहले रवीन्द्रसिंह और मैं सड़क पर टहलते रहे। हल्की-हल्की बूँदाबादी और हवा की वज़ह से बहुत सुहाना मौसम हो रहा था। अपना-आप बहुत हल्का लग रहा था। सड़क पर विरक, सुदर्शन भाटिया और दो-एक और लोगों से हँसी-मज़ाक करता रहा। फिर हम लोग एवरेस्ट में जा बैठे। वहाँ क़ेबिन में बैठकर मैंने रवीन्द्रसिंह को इलाहाबाद का पूरा क़िस्सा सुनाया। हमारे नवरत्नजी के यहाँ खाना खाने जाने और उनके वहाँ उपस्थित न रहने की बात से रवीन्द्रसिंह को बहुत दुःख हुआ। एवरेस्ट से निकलकर फिर काफ़ी देर टहलते रहे और एक पुल की मुँडेर पर बैठे रहे। रवीन्द्रसिंह अपने स्वभाव के अनुसार indirectly sermonise करते रहे। वहीं दस बज गए। फिर रिक्शा लेकर चला आया। अब यह चिन्ता सवार है कि परसों रेडियो स्टेशन पर कौन-सी कहानी पढ़ूँ? क्या कल नई कहानी लिख पाऊँगा?

और इस बीच नरेन्द्र घर होकर लौट गया है। वह पत्र छोड़ गया है कि उसने 2 जून अपने विवाह की तिथि निश्चित कर ली है। बेचारा नरेन्द्र!

जालन्धर : 18-5-57

सुबह कॉलेज में उ...को न...को साथ लेकर आने का निमन्त्रण दिया। स्टाफ रूम में कुछ देर देवराज गुप्ता के साथ चुहल करता रहा। फिर ऋषिगोपाल के घर चला गया। ऋषिगोपाल के यहाँ खाना खाकर उसे साथ लेकर स्टेशन गया, वहाँ से पर्चे लिए और रिक्शा लेकर डॉ. खुराना के घर गए। डॉ. खुराना घर पर नहीं मिले। मैं मॉडल टाउन चला आया। घर पर नरेन्द्र प्रतीक्षा कर रहा था। घंटा-डेढ़ घंटा उससे बात होती रही। उसके साथ ही चाय पी। उसने विवाह का निश्चय कर ही लिया है, इसलिए उसे थोड़ा चीयरअप करने की चेष्टा की। नरेन्द्र के जाने के बाद 'नीलाम' शीर्षक कहानी को काट-छाँटकर रेडियो के लिए तैयार किया। नई कहानी लिखने का मन नहीं हुआ। प्रेमी का नौकर बुलाने आया तो उससे कहा कि वह प्रेमी को यहीं भेज दे। थोड़ी देर बाद प्रेमी चले आए। घंटा भर रमी खेलते रहे। फिर बियर शॉप चले गए। बियर शॉप जाकर पता चला कि अपना चश्मा रास्ते में ही कहीं गिर गया

है। चश्मा खो जाने की कोफ़्त नहीं हुई मगर कोफ़्त हुई इस बात की कि चार-छह दिन काला चश्मा चढ़ाए हुए ही काटने पड़ेंगे।

बियर शॉप से लौटते हुए प्रेमी के घर चला गया। प्रेमी की पत्नी और बच्चों से पहली बार मिला। मेरा इम्प्रेशन उन लोगों के बारे में कुछ और सा था। मगर मुझे वे सब काफ़ी अच्छे लगे। हो सकता है कि यह बियर की डेढ़ बोतल का असर हो।

घर आकर पता चला कि पीछे र...मिलने के लिए आई थी और कल दस-साढ़े दस बजे आने को कह गई है।

बियर शॉप से लौटते हुए रास्ते में म...अपनी बहन और भाई के साथ मिली थी। आज उसके चेहरे पर वह रौनक नहीं थी, इसलिए वह बहुत साधारण लगी।

अब रात के वक़्त काला चश्मा चढ़ाए बैठा लिख रहा हूँ। कोई भला आदमी देखे तो क्या कहे?

कौशल्या भाभी को नरेन्द्र के सम्बन्ध में पत्र लिख दिया था—अभी एक पत्र और लिखूँगा। नरेन्द्र नहीं चाहता कि वे लोग उसके विवाह के अवसर पर यहाँ हों, लेकिन मैं समझता हूँ कि उन लोगों को यहाँ होना चाहिए।

मेरे पास एक टेबल डायरी का होना ज़रूरी है।

पौने दस बजे हैं। कुत्ते भौंक रहे हैं और दूर गाड़ी सीटी दे रही है। सामने पंखा शोर कर रहा है। रात को कुछ करने का मन नहीं है। हो सका तो डचेस की जीवनी पढ़ूँगा।

'कल्पना' और 'ज्ञानोदय' को पारिश्रमिक लौटा दिए हैं।

जालन्धर : 19-5-57

सुबह उठकर मँहगे से मालिश करवाई। मँहगे मालिश करता हुआ अक्सर दुनिया-भर के क़िस्से सुनाया करता है—किस सरदार की घरवाली किससे मालिश कराती है और कौन-सी लड़की लॉ कॉलेज के बाबुओं के पास चक्कर लगाती है। बहुत दिनों से वह कह रहा है कि उसे सरकारी नौकरी मिलनेवाली है—क्लीनर की। नौकरी लगने के बाद वह साहब की मुफ़्त मालिश किया करेगा। नौकरी लगने में सिर्फ़ एक ही क़सर है—अभी 'चालचलन' फँसा हुआ है।

''कहाँ फँसा है चालचलन?'' मैंने पूछा।

''चालचलन चंडीगढ़ गया है जी,'' वह बोला, ''बड़ी मुश्किल से कमेटी वालों के हाथ-पैर जोड़कर बनवाया था। तीन महीने यहाँ पड़ा रहा—अब महीने भर से वहाँ पड़ा है।''

''ऐसी बात क्या है चालचलन की?''

''जी वैसे तो अपना चालचलन ठीक है, पर कभी-कभी बदमाशी हो जाती

थी—आप जानते हैं जवानी हज़ार ऐबों का ऐब है—बस इसी ऐब ने मुझे ख़राब किया है। दिल मेरा एक बच्चे जैसा है, लेकिन दिल को कौन देखता है?''

फिर उसने आवाज़ दबाकर कहा कि उसकी बीवी को यह बात न बताई जाए कि नौकरी के सिलसिले में उसका 'चालचलन' अटका हुआ है, नहीं तो वह जाकर उसके चालचलन के ख़िलाफ़ शहादत दे आएगी। और वह हँसने लगा।

मँहगे के चले जाने के बाद नहाकर नाश्ता किया। ग्यारह बजे के क़रीब र... आई। आज उसने अपने सैन्टर के बारे में कई बातें बताईं। उसने अछूतों और जाटों के झगड़े का क़िस्सा सुनाया। जाट अछूतों की हीनता और अशिक्षा का लाभ उठाते हैं। एक जाट चौधरी की लड़की उसके कामे (चमार) के साथ फँस गई थी। पहले उसने 'स्लो प्वायज़निंग' से लड़की को मरवा दिया। फिर उस कामे का क़त्ल करा दिया। मुक़दमा हुआ मगर अदालत में वह छूट गया—चौधरी जो था। उसके बाद उसने अछूतों के प्रतिनिधि पंचायत के मेम्बर को मिलाकर उनकी ज़मीन हथिया ली। बाद में अछूतों की तरफ़ से केस लड़ा गया तो ज़मीन वापस मिली।

सैन्टर पर काम करनेवाली वर्करों के बारे में उसने कई बातें बताईं। गाँव के लोग कई बार वर्करों की ज़िन्दगी मुहाल कर देते हैं। एक रात एक गुंडा एक सैन्टर का दरवाज़ा खटखटाता रहा। वर्कर अकेली थी, डर गई। उसने दरवाज़ा नहीं खोला। सुबह आकर धमकाने लगा कि वह एक डिलिवरी केस के लिए बुला रहा था। बाद में डराने-धमकाने पर उसने अपने इरादे का इकबाल किया और पंचायत के रजिस्टर में लिखकर माफ़ी माँगी।

उसने यह भी बताया कि महकमे के अफ़सर किस तरह वर्करों को ख़राब करते हैं या उन्हें साथ मिलाकर रुपया-पैसा हड़प जाते हैं। गाँवों से रुपया इकट्ठा करने में बहुत दिक़्क़त पेश आती है—एक चौथाई ख़र्च गाँव से इकट्ठा किया जाता है। गाँव वाले वर्करों के ख़िलाफ़ संगठित हो जाते हैं। इस बार उसके एक गाँव के लोग माँग कर रहे थे कि अमुक वर्कर को बरख़ास्त करके उसकी जगह अमुक वर्कर को यहाँ लाओ तो पैसा देंगे। उस वर्कर के वहाँ के कुछ लोगों के साथ relations थे, इसीलिए उसे ट्रांसफ़र किया गया था। उस सिलसिले में गाँव के एक चौधरी ने एक पंच को बढ़ावा देकर कहलाया था कि वह अकेला पाँच सौ रुपया दे देगा, अगर वह वर्कर तब्दील करके वहाँ ले आई जाए। इस बात पर र...के बावेला उठाने पर उस आदमी से जुरमाने के तौर पर पाँच सौ रुपए वसूल किए गए।

एक क़िस्सा काफ़ी मनोरंजक था। मास्टर गुरबंतासिंह जब वज़ीर हो गया तो गाँववाले दिल-ही-दिल उसकी इज़्ज़त करने लगे। जो भी उसकी पत्नी के पास जाता, वह पूछता कि तहसीलदार साहब कब आ रहे हैं। वह नाराज़ होती कि तहसीलदार साहब क्यों कहते हो, वज़ीर साहब कहो। लेकिन लोग समझते कि उन्हें अगर छोटा

रुतबा मिला है तो भी उन्हें बड़े रुतबे से याद करने में कोई हर्ज़ नहीं, इसलिए फिर भी कहते कि तहसीलदार साहब कहाँ हैं? एक बार एक बुड्ढे जाट ने एतराज़ करने पर कहा, "कोई बात नहीं बेटी। आज ये वज़ीर लगा है, कल को तहसीलदार भी हो जाएगा! ऐसा लायक आदमी है—तहसीलदार को क्या कोई पर लगे होते हैं?"

र...के बैठे-बैठे ही मोती आ गया। र...चली गई तो हम दोनों ने खाना खाया। मोती अपना और पुष्पा का क़िस्सा सुनाता रहा। उसने बताया कि पुष्पा ने रेडियो से त्यागपत्र दे दिया है। उन दोनों का आपसी वैमनस्य दूर हो गया है। फिर वह जोशी के साथ अपनी लड़ाई की बात सुनाता रहा। उसने जोशी की हाल की कुछ हरकतें सुनाईं, और यह भी बताया कि उन दोनों में दो-एक बार गाली-गलौज हो गई है।

मोती के जाने के बाद चाय पी और पर्चे देखने पर जुट गया। आठ बजे तक पर्चे देखता रहा। फिर खाना खाकर रेडियो स्टेशन चला गया। ठाकुर ने 'ओवलटीन' पिलाई। कहानी पढ़कर निकलने पर ऋषिगोपाल मिल गया। घर आने पर मदन और उसके दो दोस्त बैठे हुए मिले। पन्द्रह मिनट गप करके उन्हें विदा किया।

अभी थोड़ी देर पहले वर्षा हो रही थी और ख़ूब ठंडी हवा चल रही थी। अब वर्षा रुक गई है, हवा भी रुक गई है। कब्रिस्तान की आवाज़ों की तरह गली में कुछ आवाज़ें सुनाई दे रही हैं। एक कुत्ता रह-रहकर भौंक उठता है। तेज़ रफ़्तार से दूर जाती हुई गाड़ी की आवाज़ सुनाई दे रही है। हवा में आवाज़ ज़ोर से उभरकर मद्धम पड़ गई है। दूर पहरेदार "हो...ओ..." की आवाज़ लगा रहा है। मेरी आँखों में नींद भरी है—मगर अभी कुछ पर्चे देखने बाक़ी हैं।

जालन्धर : 20-5-57

सवेरे देर से उठा। हल्की-हल्की बूँदाबादी हो रही थी। जल्दी-जल्दी कुछ पर्चे देखकर नहाया और कॉलेज चला गया। बस देर से मिलने से कॉलेज देर से पहुँचा। क्लास के बाद उ...ने बुधवार का समय ले लिया। घर आकर बैठा ही था कि र...आ गई। आज बसु को आना था—र...यही बताने के लिए आई थी कि वह नहीं आ पाएगी। उसने कमला और सुदर्शन की वजह से जो दिक़्क़तें उठ खड़ी हुई हैं, उनका ब्यौरा सुनाया। फिर वह अपने सैन्टरों के क़िस्से सुनाती रही। सैन्टरों से मिस थापर और अफ़सरों की बीवियों के लिए जो गलीचे वगैरह बनकर जाते हैं, उसको वह करप्शन नहीं समझती। इस प्वाइन्ट पर उसे काफ़ी खींचा। उसे समझाना चाहा कि road to corruption is paved with pious resolves.

मुझे डर है कि यह लड़की भी धीरे-धीरे उस साँचे में ढल जाएगी। यह अपने तीखे कोने न बनाए रख सकी और समझौतेबाज़ी में पड़ गई तो अंजाम वही होगा जो हर ईमानदार आदमी का इस रास्ते में होता है—

Such people become more dangerous for society than other people.

र...जब गई तो वह इस मामले में बहुत कांशस हो गई थी।

र...के जाने के बाद कुछ देर के लिए सो गया। अचानक कोच्छड़ ने आ जगाया। वह अपना वनस्पतिशास्त्र खोलकर बैठ गया और शब्दों के अनुवाद पूछ-पूछकर मेरा भेजा खोखला करता रहा। उसके जाने से पहले ही डॉ. प्रेमनाथ अपनी पत्नी और लड़की के साथ आ गए। कोच्छड़ चला गया। हम लोगों ने साथ-साथ चाय पी। डॉ. प्रेमनाथ नौकरी छोड़कर अपनी प्रकाशन-संस्था खोलने की बात करते रहे। ज़्यादा बातें पुरतक़ल्लुफ़ अन्दाज़ में हुईं। डॉ. प्रेमनाथ सीधा आदमी लगता है। महत्त्वाकांक्षी भी है। उसकी पत्नी पहले मुझे बहुत दुबली लगी थी। आज नज़दीक से देखने पर अपने सफ़ेद बालों के बावज़ूद स्वीट लगी। उनकी बच्ची प्रोमिल भी बहुत ही स्वीट है–बिल्कुल एक गुड़िया की तरह!

इसी तरह रात हो गई है। वे लोग चले गए हैं लेकिन मैं उस उधेड़बुन में हूँ कि अब क्या करूँ। कुछ चिट्ठियाँ लिखनी हैं और पर्चे देखने हैं।

जालन्धर : 21-5-57

सवेरे जल्दी से नहाकर नाश्ता किया और काम करने बैठा ही था कि बाहर से किसी ने आवाज़ दी। देखा तो सदानन्द था। तेरह-चौदह वर्ष बाद उसे देखकर खुशी भी हुई, थोड़ा आश्चर्य भी। काफ़ी देर इधर-उधर की बातें होती रहीं। मुझे आश्चर्य और खेद हुआ कि वह हॉस्टल के दिनों की बहुत-सी बातें भूल चुका है। उसे श्यामलाल और राजबाला का क़िस्सा भी याद नहीं था। उसे साथ कॉलेज ले गया और वह डेढ़ घंटा क्लास में बैठकर मेरा लेक्चर सुनता रहा। बाद में एक शॉप में चाय पीते हुए उसके आने का मुद्दआ स्पष्ट हुआ। सन्देह मुझे पहले से था। मेरा ख़्याल था कि वह ज़रूर किसी की सिफ़ारिश लेकर आया होगा और इसीलिए मैंने बात-बात में उसे सुना दिया था कि एक परीक्षक के रूप में अपनी बदक़िस्मती के लिए मैंने कितनी बदनामी अर्जित की है। उसकी बात से पता चला कि उसने स्वयं एम.ए. की परीक्षा दी है।

उसे घर लाकर खाना खिलाया। पुराने परिचित से मिलकर एक अजीब तरह की खुशी होती है। यह महसूस होता है कि अतीत के सब सूत्र हाथ से निकल नहीं गए हैं। कई लोगों की चर्चा हुई। अन्ततः सदानन्द फ्लाइंग से चला गया और मैं बस से अमृतसर चला गया, आसासिंह से चश्मा बनवाने।

इन्द्रदेव अरोड़ा को दुकान पर मिल लिया और वहीं से नि...को फ़ोन किया। नि...के यहाँ खाना खाने का तय हुआ। यह चार बच्चों की माँ आज भी (बत्तीस-पैंतीस की उम्र में) कितनी स्मार्ट और ख़ूबसूरत लगती है। जिस्म की गठन

भी अभी आकर्षक है। मगर साहित्य और कला को लेकर उसे अपने बारे में ख़ासी ग़लतफहमियाँ हैं और नाटक को तो वह अपने घर की कला समझती है। उसके निचले ओंठ की तराश के सम्बन्ध में मैं निश्चित नहीं हूँ कि वह मुझे सुन्दर लगती है या असुन्दर...कुछ अलग-सी ज़रूर लगती है। उसके पति ज़िन्दगी से ख़ासे बेज़ार आए-से प्रतीत होते हैं। उस शख़्स ने सतह पर जितना बड़ा भद्रता का कवच धारण कर रखा है, अन्दर से वह उतना ही टूटा और कटुता से भरा हुआ प्रतीत होता है। वह फ्रस्ट्रेटेड भी है और अपनी सूरत की वजह से कुंठाग्रस्त भी। नौ बजे उन लोगों से विदा ली और स्टेशन से कालका मेल पकड़ ली।

अमृतसर जाते हुए और लौटते हुए सारा रास्ता सत्येन्द्र शरत् का कहानी संग्रह 'कुहासा और किरण' पढ़ता रहा। सत्येन्द्र शरत् को मैं इतना प्यार करता हूँ लेकिन उसकी कहानियों को मैं उतना प्यार नहीं कर सका। किसी ज़माने में उसकी कहानी 'काग़ज़ी नींबू' पढ़ी थी जो मुझे अच्छी लगी थी। वह इस संग्रह में नहीं है। इस संग्रह की कहानियाँ concocted situation को आधार में रखकर लिखी गई हैं...और कहानियों के नायक एक ही व्यक्ति के चरित्र की छाया प्रतीत होते हैं। कहानी कहने के बजाए सत्येन्द्र कुछ जगह बात करने या कविता करने लगता है। कुछ जगह उसने संकेत को संकेत न रहने देकर इस तरह स्पष्ट किया है कि अखर जाता है। 'कुहासा और किरण' की अधिकांश कहानियाँ लेखक के कैशोर्य की परिचायक हैं। समझ में नहीं आता सत्येन्द्र को इनके सम्बन्ध में क्या लिखूँ?

राजेन्द्र यादव के नाम पत्र लिखा था, सो वह सारा दिन ज़ेब में घूमता रहा और अब तक ज़ेब में ही पड़ा है।

जालन्धर : 22-5-57

सुबह कॉलेज में वेदप्रकाश मल्होत्रा से झड़प हो गई। यह धर्ममूर्ति दिल में द्वेष पालता रहता है। इन्सान खुलकर विरोध कर ले तो दूसरी बात है।

कॉलेज से आकर थोड़ी देर के लिए सो गया। फिर खाना खाकर पर्चे देखता रहा। पाँच बजे के क़रीब सोमेश आ गया तो चाय पी। साढ़े पाँच बजे उ...आ गई। घंटा-डेढ़ घंटा उसे पढ़ाया। यह लड़की या तो बहुत ही भोली है या बहुत ही चालाक। उसका व्यवहार कुछ मेरी समझ में नहीं आया। उसके जाने के बाद सोमेश के साथ प्लाज़ा चला गया। वहाँ से कक्कड़ के घर खाने पर। वहाँ घंटा भर हँसते-हँसाते रहे। लौटते हुए मेनन साहब साथ प्लाज़ा चले आए और अपने थीसिस का वही रोना रोते रहे जो पहले हज़ार बार रो चुके हैं।

उनके जाने के बाद सोमेश के साथ पैदल मॉडल टाउन आया। रास्ते में काफ़ी देर नहर के पुल पर बैठे रहे। ख़ूब ठंडी तेज़ हवा चल रही थी। नहर की पतली रेखा

दूर तक तिरछी चली गई थी। मैं कुछ देर वहाँ लेटा रहा। ऐसी जगह पर मेरा दिल अनायास भटक जाता है। मुझे वह रात याद आई : पूनों की रात—जब जालन्धर छावनी स्टेशन पर वीणा को 'सी ऑफ़' करके आया था—लगभग सवा साल पहले। उस दिन भी मेरा मन इसी तरह भटक गया था। 'वेवर्ड लाइफ' क्यों मेरे हृदय को इस तरह आकृष्ट करती है? वहाँ लेटे हुए वीणा की भी बहुत याद आई और मन थोड़ा उदास हो गया। मेरा जीवन जो अब विशृंखलित हुआ जा रहा है...उसे वह बचा सकती थी। वह एक नारी है जिससे एक दिन मुझे आन्तरिक आत्मीयता का अनुभव हुआ। वह अनुभव मुझे और कहीं किसी के साथ नहीं हुआ।

बाहर हवा ज़ोर की चल रही है और मिट्टी उड़ रही है। पहरेदार की आवाज़ रात के सीने में कील की तरह चुभ जाती है। मैं फिर उ...के व्यवहार के सम्बन्ध में सोच रहा हूँ। सोमेश शायद सो गया है।

जालन्धर : 23-5-57

रात को वर्षा की वजह से बाहर से अन्दर भागना पड़ा इसलिए सुबह तक नींद पूरी नहीं हुई। सुबह सोमेश साथ कॉलेज गया। सेमिनार लेते समय मेरा मूड काफ़ी उखड़ा-उखड़ा-सा था। कॉलेज में ज्ञान मिल गया। उसने उदयभानु हंस की दो कविता पुस्तकें दीं, जो वह हिसार से लाया था। लाइब्रेरी के बाहर डॉ. मदान के साथ सहसा यशपाल दिखाई दे गए। उन्हें अचानक जालन्धर में देखकर आश्चर्य हुआ। वे उसी समय बॉम्बे एक्सप्रेस से जा रहे थे। दुआ-सलाम ही हो सकी।

कॉलेज से प्लाज़ा पहुँचा। कुछ देर वहाँ बैठकर घर चले आए। सोमेश से वहीं का अपाइन्टमेंट था। वह मुझसे पहले कॉलेज से चला आया था।

घर आकर सोमेश के थीसिस का सिनॉप्सिस बनाने पर जुट गए। पौन घंटे में उसे सिनॉप्सिस डिक्टेट किया और फिर खाना खाया। इस बीच मोहन अपने ऑनर्ज़ के पर्चे लेकर आ गया था। कुछ देर उससे बातचीत की। खाने के बाद सोमेश का सिनॉप्सिस टाइप कर दिया। सोमेश को पाँच सौ रुपए उधार चाहिए थे। अपनी वर्तमान आर्थिक स्थिति में मैं उसे कहाँ से ये रुपए दे सकता हूँ? उसकी आवश्यकता पूरी न कर पाने का बहुत खेद हुआ। मैं भी महामूर्ख हूँ जो बिना नोन-तेल के सौ तरह की खिचड़ी पकाता रहता हूँ। नौकरी छोड़ देंगे और अपना प्रकाशन करेंगे—किस बूते पर? बैंक में कुछ सौ रुपल्लियाँ हैं और उससे आधा बाज़ार का उधार देना है!

सोमेश के चले जाने के बाद सोने की सोची। तकिये पर सिर रखा था कि दरवाज़े पर खटखट होने लगी। मि...और सु...थीं। मि...हमेशा की तरह मूर्खता और कॉम्पलेक्स से भरी बातें करती रही। मुझे सन्देह है कि वह वेल्फेयर ऑफ़िसर का काम कर सकेगी। उसका वही रोना-धोना और वही क़िस्से और वही सवाल—भाभीजी

कब आएँगी? सु...छोटी होकर भी उससे कहीं अक्लमन्द है...यह ज़रा-सी लड़की कितनी आसानी से कितनी गहरी बात कह जाती है। उस जैसा मीठा और लोचदार गला बहुत कम किसी का होगा। मगर घर के लोग उसके संगीत सीखने के मार्ग में बाधा डालते हैं...विशेष रूप से मि...। "She will not let me do it—it is mainly jealousy!."–सु...ने धीरे से कहा जब मि...एक मिनिट के लिए बाहर गई : "I shall tell you some day. She will not let me grow better than herself."

मि. ...आकर फिर वही मूर्खतापूर्ण बातें करती रही। इस लड़की के चेहरे का एक्सप्रेशन वैसा ही है जैसा घुन खाए सेब का होता है। मुझे खेद होता है कि मैंने बख़्शी की वज़ह से इस लड़की को क्यों इतनी कोचिंग दी।

सु...ने तीन-चार गीत सुनाए। मि...कुछ डिस्गस्टिड और कुछ patronising भाव से उसे देखती रही। जाने से पहले सु...ने फिर कुछ बहुत ही सेन्सीबल बातें कहीं...मि...तब माँजी से बात कर रही थी। "She may make a career," सु...बोली, "but she will not prove a good wife to her husband. I hate such women who are arrogant and spoil the lives of men they are married to. They do not know that a man wants a home...above everything else."

मुझे बहुत आश्चर्य हुआ कि यह छोटी-सी बच्ची (हालाँकि वह सत्रह-अठारह साल की है) इतनी गहराई तक कैसे सोचती है।

उन दोनों के जाने के बाद प्रेमी और उनका परिवार आ गया। भाभीजी माँजी के पास रसोई में चली गईं, इसलिए खाना घरेलूपन के साथ ही खाया गया। भाभी प्रेमीजी की अपेक्षा कहीं निश्छल हैं, हालाँकि अपनी ज़बान पर उनका वश नहीं है। उनके बच्चे मेरे किताबों के शेल्फ़ का हुलिया बिगाड़ते रहे। जाते हुए वे चार-पाँच ऐसी पुस्तकें छाँटकर ले गए जो ज़िन्दगी-भर नहीं पढ़ पाएँगे।

...और आज गुरदासपुर से गणेशदास जी का तार आया है कि...'A matter urgent, come on any holiday.' मैं समझता था कि अब तक पुष्पा का दिमाग़ दुरुस्त हो गया होगा। मगर अब मालूम होता है कि उसका फ़ितूर अभी तक बाक़ी है। मैं उन्हें क्या उत्तर दूँ? इन हालात में गुरदासपुर जाना मुझे क़तई मुनासिब नहीं प्रतीत होता।

आज टेबल लैम्प के पास बेइन्तिहा कीड़े उड़ रहे हैं। इनकी भी किसी-किसी दिन फसल हो आती है!

बहुत से आर्टिकल भी देखने रहते हैं। किस दिन देख पाऊँगा?

जालन्धर : 24-5-57

कॉलेज से लौटकर कौशल्या भाभी के दो पत्र मिले कि जैसे भी हो, नरेन्द्र से मिलकर या स्वर्ण से मिलकर उनके विवाह की तिथि आगे बढ़वाई जाए। कौशल्या

भाभी को उत्तर लिखा, पर पोस्ट करना याद नहीं रहा। शाम को बुक सेन्टर में नरेन्द्र के लिए सन्देश छोड़ आया।

दोपहर को दो घंटे सोने के बाद एम.ए. का यूनिवर्सिटी का रिजल्ट तैयार किया और पैकेट बँधवा दिया। कल पैकेट स्टेशन पर ले जाने और बुक कराने की समस्या होगी।

शाम को ख...के यहाँ चला गया। उसने बताया कि मेरा डायरी केस अभी तैयार नहीं हुआ, उस पर कुछ चित्रकारी करना बाक़ी है। कुछ देर रिलैक्स करके कॉफ़ी पीकर चला आया। आते हुए पन्द्रह-बीस मिनट प्लाज़ा में बैठा रहा।

घर आने के थोड़ी देर बाद र...आ गई। वह अपना बनाया हुआ एक पेन्सिल-स्केच साथ लाई थी। स्केच में कुछ गोलाइयाँ अच्छी आई थीं...पर कुल मिलाकर उसमें काफ़ी कच्चापन था। अपनी समझ के मुताबिक र...को दो-एक सुझाव दिए। वह बेचारी ज़रूरत से ज़्यादा कांशस हो गई थी। फिर जाकर उसे रिक्शा तक छोड़ आया।

कल अपना कोई पीरियड नहीं, इसलिए कॉलेज गोल कर जाने का इरादा है। शायद कल चन्द सतूर लिखी जा सके।

इस वक़्त अपने पर नींद गालिब है।

जालन्धर : 25-5-57

सुबह बहुत ही हील-हुज्जत के बाद उठे। कॉलेज में कोई पीरियड नहीं था, इसलिए कॉलेज जाने का इरादा तर्क़ कर दिया। नाश्ते के बाद 'साहित्य का मार्केट' का पहला अध्याय टाइप करने के लिए निकाल लिया। सवा-डेढ़ सफ़ा टाइप करके छोड़ दिया। दोपहर को खाना खाकर कुछ पत्र लिखे और एम.ए. (ओल्ड कोर्स) का रिजल्ट तैयार करके पार्सल कराने स्टेशन चला गया। स्टेशन से आकर एवार्ड्स की रजिस्टरी कराई और फिर टाइपराइटर सामने रख लिया। तभी दरवाज़े पर खटखट हुई। खोलकर आश्चर्य के साथ देखा—उ...थी। वह अपने उस दिन के व्यवहार के लिए खेद प्रकट करने आई थी। घंटा भर वह बैठी रही। उसके लिखे हुए दो आर्टिकल देख दिए। आज उसका व्यवहार अपेक्षतया कहीं स्वीट था।

आज दोपहर को स्टेशन के पास म...को देखा था। उस समय वह बहुत ही साधारण लग रही थी। इस समय पौने दो बोतल बियर दिमाग़ पर सवार है। सिर झुककर मेज़ को छू लेना चाहता है। दाँत भिंचे हुए हैं और आँखें मुँदी जाती हैं।

अम्माँ ने बताया है कि मेरी ग़ैर-हाज़िरी में डॉ. मदान आए थे और सुबह के लिए गाउन माँग ले गए हैं।

अब लिखना-पढ़ना ख़ाक होगा?

जालन्धर : 27-5-57

दिन भर कुछ नहीं किया, फिर भी काफ़ी व्यस्त रहा हूँ।

सुबह तीन घंटे कॉलेज में बकवास करने के बाद प्लाज़ा में आया, जहाँ नरेन्द्र से मिलने का वायदा कर रखा था। नरेन्द्र, उमेश और नीलाभ वहाँ मिल गए। तय हुआ कि एक कॉमरेड स्वर्ण के यहाँ जाएगा। नरेन्द्र काफ़ी देर...शुगर मिल का वृत्तान्त सुनाता रहा।

प्लाज़ा से उठकर घर आए तो गुरदासपुर से पुष्पा आई हुई थी। उसके साथ स्टेशन गया। गाड़ी आने से पहले काफ़ी देर रिफ्रेशमेंट रूम में बैठे रहे। पुष्पा ने हिसार की जो दास्तान सुनाई उससे मन बहुत खिन्न हो उठा। मैंने यह सारा प्रकरण ईमानदारी से मोहन को बता दिया था...इस आशा से कि वह परिस्थिति को सँभालने का प्रयत्न भी करेगा और हम लोगों की दोस्ती में बट्टा भी नहीं लगेगा। मगर पुष्पा ने बताया कि कान्ता रात-दिन उसे ताने देती रही है और मुझे गालियाँ और मोहन ने एक दिन उसे इस बात को लेकर बेइन्तिहा पीटा है...इतना कि कई दिन उसकी हड्डियाँ दुखती रहीं। पुष्पा की आँखें भरी हुई थीं। मेरे हृदय में रह-रहकर यह सवाल उठता था कि मैं इस लड़की के लिए क्या कर सकता हूँ? मैं उसके लिए आन्तरिक संवेदना का अनुभव करता हूँ, लेकिन...।

यह मोहन इतना कच्चा, इतना ओछा और इतने छोटे दिल का आदमी है? ओह! मैंने अनेकानेक विपरीत प्रमाण और अवसर होने पर भी इस व्यक्ति को सदा विश्वास दिया है, सौहार्द दिया है, और इसने दिल में सदैव मुझे कोसा है, मुझे हीन करना चाहा है। क्या इसके बीच में इस शख़्स की प्रोफ़ेशनल जैलसी ही है या और कुछ?–मेरे हृदय में कभी उसे लेकर जैलसी का अंकुर भी नहीं जागता...मगर वह...? कितनी बड़ी विडम्बना है। मैं उससे छल करता, दुराव रखता तो वह मेरे बारे में इतने घृणित शब्दों का प्रयोग तो न करता। उसने यहाँ तक कहा कि मैं बहुत घटिया और गिरा हुआ आदमी हूँ। उसने वीणा के प्रकरण को लेकर मेरी भावुकता की इतने सस्ते शब्दों में छीछालेदर की?...मैं समझता हूँ मैं ही अपराधी हूँ। मुझे समझना चाहिए कि दुनिया दुनियादारी से चलती है और कोई मूल्य महान् नहीं है। जो जितना छल कर सकता है वह उतना ही बड़ा है। धोखाधड़ी, दोस्तों से, अपने से, हर एक से...यही सभ्यता का न्याय है...मैं आज इस मसले को लेकर बहुत पीड़ित हूँ। एक शख़्स ने मुझे रुसवा किया है–जिसने मेरे मुँह पर सदैव दोस्ती और फ़रमाँबरदारी की क़समें खाई हैं। आज उसने मेरी बताई हुई वास्तविकता पर अपनी कल्पना का पुट चढ़ाकर एक अबोध लड़की पर तोहमद भी लगाई है और मेरे विश्वास को कुचलने का भी प्रयत्न किया है। लेकिन मैं अपना विश्वास मरने नहीं दूँगा। मोहन ही एक इन्सान नहीं है।

शाम को प्रेमी के साथ बियर शॉप चला गया। लौटते हुए रास्ते में बख़्शी मिल गया जो साथ घर चला आया। फिर उसे छोड़ने शहर चला गया। अब नरेन्द्र का इन्तज़ार है। उसे स्वर्ण के यहाँ का मैसेज लेकर अश्क को फ़ोन करके आना था। मैं इन्तज़ार कर रहा हूँ।

मन भारी है। आज की चोट बहुत गहरी है। मुझे रह-रहकर पुष्पा पर तरस आता है। काश कि यह लड़की इतनी भावुक न होती!

जालन्धर : 28-5-57

आज दिन में काफ़ी गर्मी पड़ी और सीज़न में पहली बार सिरदर्द हुआ। कॉलेज में छुट्टी थी, फिर भी यूनिवर्सिटी क्लास लेने के लिए चला गया। वहाँ से रेडियो स्टेशन गया और घर चला आया। प्रेमीजी भी निहायत बेपेंदे के लोटे हैं। मौक़ापरस्त और कुर्सीपरस्त। 'क़ाफ़िर रा जहन्नुम रफ़त!' शाम को आपने 'दूध और दाँत' का स्क्रिप्ट उर्दू से हिन्दी कराकर भेज दिया कि ठीक कर दो। उस साली हिन्दी को फिर से ठीक करूँ?

दिन-भर गर्मी के मारे परेशानी रही। शाम को उ...और न...चाय पीने आईं। न...को अपने बारे में ख़ासी ग़लतफ़हमी है। यूँ है ज़रा आज़ाद तबीयत लड़की। बन्दे की कहानियों के पैराग्राफ्स आपको याद हैं। उससे अपनी vanity काफ़ी tickle होती है। आप ग़ज़लें भी कहती हैं, गोया कि आप शेर-ओ-शायरी से प्रेम रखती हैं। दो बार अपनी एक ग़ज़ल सुनाने को हुईं और सुनाते-सुनाते रह गईं। और उ...बच्चों की तरह दाँत खोलती और बन्द करती रही। उसे अभी यह आभास है कि वह बच्ची है...भले ही एम.ए. में पढ़ती है। आप दिन-भर दूध पीती रहती हैं—एक दिन में डेढ़-सेर दूध पी जाती हैं! मक्खन खाती हैं सो अलग! घर में कोई काम वाम नहीं करती! खुदा बन्दताला की सृष्टि में कितने तरह के जीव हैं?

अम्माँ के टाँग के दर्द की वज़ह से आज बहुत चिन्तित रहा हूँ। आज कई महीने होने को आए। यह दर्द ठीक नहीं होता। डॉक्टर मेहता ने आज तीसरी बार दवाई बदली है। अम्माँ की अस्वस्थता से तो भैया अपनी गाड़ी ही रुक जाएगी। (स्वार्थपरता?)

आज फिर मन बहुत भटक रहा है कि नौकरी छोड़ ही देनी चाहिए। आर्थिक सिक्योरिटी बड़ी चीज़ है—मगर यह रुटीन तो मेरी जान सोखे ले रहा है। सब छोड़-छाड़कर कुछ दिनों के लिए तो साँस लेने का अवकाश मिलेगा।

आज रात नीलाभ की वज़ह से थोड़ी परेशानी हुई। उस लड़के में मनमानी करने की आदत अति की मात्रा तक बढ़ी हुई है। यह बोलता भी ज़रूरत से ज़्यादा है। आज अपने को शहीद करके उसे बहलाता रहा। उसकी ममी के माथे पर ज़रा-सी

बात से तेवड़ जो पड़ जाते हैं। सच, भाभी कितनी छोटी-छोटी बातों पर नाराज़ हो जाती हैं?

जालन्धर : 30-5-57

रात को दो बजे लौटकर घर आया था, या ठीक कहा जाए तो सुबह दो बजे...बियर की वजह से या गर्मी की वजह से सिर में दर्द हो रहा था—जिन कपड़ों में आया था, उन्हीं कपड़ों में सो गया। सुबह पाँच बजे फिर जागना था।

नीलाभ को कॉलेज साथ ले गया। वहाँ लाइब्रेरी में लड़कियाँ उससे खेलती और उसे चिढ़ाती रहीं। दोपहर को नरेन्द्र घर आ गया। नरेन्द्र का स्वभाव अश्क से कितना भिन्न है? He is a thorough gentleman.

बाद दोपहर अपनी कारस्तानी से मीटर का फ्यूज़ उड़ गया, इसलिए मारे गर्मी के कराहते रहे। शाम को वेद पर्चे लेकर आ गया और कुछ देर उससे माथापच्ची की। छह बजे के बाद बिजली दुरुस्त हुई और जान में जान आई।

आज मोहन को एक लम्बा पत्र लिखा—यदि सचमुच उसके हृदय में ऐसा मैल है तो उस सम्बन्ध का समाप्त हो जाना ही श्रेयस्कर है। मैंने उसकी भावुकता को कितना महत्त्व दिया है? लेकिन...उसके पुष्पा को पीटने से मेरा विश्वास भी पिट गया है। और यह शख़्स लेखक होने...इन्सान को समझने का दावेदार है। यह शख़्स है जिसे मैंने अपनी conscience की तरह माना है और अपनी ज़िन्दगी के हर पृष्ठ का एक-एक शब्द ईमानदारी के साथ इसके सामने पढ़ दिया है।

शाम को नीलाभ को घुमाने ले गया। बख़्शी के मिल जाने पर नीलाभ को रिक्शा में वापस भेज दिया।

फिर सु...की बात चलने पर बख़्शी ने हठ किया कि बियर शॉप चलकर बैठें। वहाँ उसने भी मेरी धारणा की पुष्टि की कि मि...सु...से बेहद जलती है और उस लड़की के विकास में एकमात्र बाधा मि...ही है। सु...के बच्चों के से व्यवहार को भी वह लड़की मैली आँख से देखे बिना नहीं रहती—मुझे पहले भी इस लड़की से वितृष्णा होती थी, कल और ज़्यादा हुई।

बियर शॉप से निकलने पर बख़्शी की तबीयत ज़्यादा ख़राब हो गई। शहर-भर घूमकर उसके लिए नींबू पानी हासिल किया। फिर उसे घर पहुँचाकर मॉडल टाउन आया।

बख़्शी के उन शब्दों से क्या गूँज निकलती है—मैं सु...को अपनी बेटी बनाना चाहता हूँ। वह मेरी बेटी बन जाए तो मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं तब ज़िन्दगी-भर शादी नहीं करूँगा...मैं उसे बनाऊँगा और एक रुतबे तक पहुँचाऊँगा।

बख़्शी में भी काफ़ी पर्वर्शन है।

आज सुबह-सुबह बौड़म बने घर से निकल पड़े—न नहाए, न शेव किया और उमेश और नीलाभ को बस पर छोड़ने चल दिए। उन्हें बस में बैठाकर वहीं से बख़्शी के घर चले गए। बख़्शीजी महाराज का जब नशा उतरता है तो उनकी आत्मचेतना जाग्रत हो जाती है और उन्हें जीवन और संसार असार प्रतीत होने लगते हैं। बख़्शी के यहाँ से वैसे ही कॉलेज चले गए। सोचा था कि क्लास नहीं लेंगे और हाज़िरी लगाकर चले आएँगे। मगर जाते ही रोज़े गले पड़ने लगे। पहले पोताड़े साहब मिले—वे आगरा से किसी प्रकाशक के एजेन्ट के रूप में आए थे। उन्हें पहचाना नहीं, हालाँकि चेहरा परिचित लगा। बाद में कमरे में पहुँचा तो दो बातें होने के बाद उन्हें पहचान पाया। फिर आगरा की बातें होने लगीं। तभी एक सुकुमार-काय नवयुवक और आ गया—वह भी पुस्तकों के ऑर्डर लेने के सिलसिले में ही आया था। पोताड़े को कुछ पुस्तकों का ऑर्डर दिया और कुछ पुस्तकों का उस लड़के को—पोताड़े को अपने ऑर्डर की अपेक्षा उस लड़के के ऑर्डर में ज़्यादा दिलचस्पी थी—मुझे राजेन्द्र यादव की पोताड़े पर लिखी हुई कहानी याद आ गई। वह लड़का बेचारा बिल्कुल नातजुर्बेकार था—कुछ पुस्तकों के कवर लिए हुए ही चला आया था। उसका ऑर्डर बन जाने पर पोताड़े के चेहरे पर चमक आ गई।

आज प्रीवियस के एक लड़के भाटिया की नौकरी लग जाने के कारण उसके सहपाठियों ने उसे दावत दी थी। कुछ देर वहाँ बैठना पड़ा। मोहन ने बहुत ही घटिया क़िस्म की स्पीच दी। उस लड़के को अपने बारे में ख़ासा कॉम्पलेक्स है और उसके अन्तर में सबके प्रति विद्वेष की ग्रन्थि है। बहरहाल, वह क़िस्सा समाप्त हुआ और घर आए।

घर आते ही नींद के शिकार हो गए। सवा दो बजे उठकर खाना खाया और गर्मी की वजह से साँप की तरह फुंकारने लगे।

चार बजे नहा लिए और नहाकर घर बैठना रास नहीं आया तो धूप में निकल पड़े। खन्ना के घर चले गए। वहाँ जाकर फिर नींद गालिब आने लगी। चाय पी और जूते उतारकर सोफे पर लम्बे हो गए। तभी कमलाजी (ए. कमला), उनकी बड़ी बहन जयाजी, छोटी बहन तारा, मीनाक्षी और भाई साहब (?) आ पहुँचे। जयाजी अपना शरत्-प्रसादान्त साहित्य ज्ञान विकीर्ण करने लगीं। कमलाजी अधिक आधुनिक होने का दावा अपने यशपालान्त ज्ञान से ज़माने लगीं। बन्दा दुर्लभ श्रोता की तरह सुनता रहा। फिर जयाजी दाक्षिणात्य श्वेताम्बरता की चर्चा करती हुई पंजाबियों की रुचि की निन्दा करती रहीं। मेरा ध्यान ज़्यादा देर उनके चेहरे पर रहा, क्योंकि अभी हाल ही में (शायद डेढ़ एक वर्ष पहले) उनका विवाह हुआ था और वे देखने में चालीस-बयालीस से कम की नज़र नहीं आ रही थीं—उनके चेहरे के भाव से मुझे

मातृप्रधान परिवार कल्पना का स्मरण हो आया। यूँ ज्यामिति के न्याय से उनका चेहरा शेष दोनों बहनों की अपेक्षा तारतम्य में था।

कॉफ़ी के बाद मजलिस बरख़ास्त हुई।

घर आकर पता चला कि पीछे वीरेन्द्र आया था। उसे टेकनिकल इंस्टीट्यूट से नोटिस मिल गया है। किस्मत की ख़ूबी देखिए, टूटी कहाँ कमन्द...। डेढ़ महीना और निकल जाता तो बख़ूबी बेचारे की पढ़ाई पूरी हो गई होती। अब परीक्षा के बाद ही उसे नए सिरे से बेरोजगारी के सवाल से जूझना होगा।

सिर भारी है, गला खुश्क है और आत्मा अवसन्न है।

और यह सवाल हल नहीं हो रहा—कि सो जाऊँ या जागता रहूँ।

जालन्धर : 31-5-57

आज यह निश्चय किया कि यथासम्भव सिगरेट और बियर (कम-से-कम जून का महीना) नहीं पीऊँगा। तुरन्त ही सिगरेट की ज़रूरत महसूस हुई और एक सिगरेट सुलगा लिया।

फिर दिन-भर ख़ूब सिगरेट पिए।

कॉलेज से लौटकर कुछ पत्र लिखे। पुष्पा को लिख दिया कि मैं गुरदासपुर नहीं आ पाऊँगा। बाद दोपहर सोमेश आ गया। आजकल इतने मेहमान आते हैं कि अपना घर मेहमानख़ाना लगता है। कभी-कभी बड़ी कोफ़्त होती है। एक तो नौकर के फ़र्ज़ सरअंजाम देने होते हैं—फिर अपनी हद से बाहर ख़र्च होता है और उस पर तुर्रा यह कि हर मेहमान को उधार की भी ज़रूरत होती है—उधार जो कभी रिटर्नेबल नहीं होता। आजकल यार लोगों में यह शौक़ कुछ ज़्यादा ही बढ़ गया है। पिछले छह महीने में जो भी आया है, उसने चलते हुए उधार ज़रूर माँगा है! और जब किसी को अपनी दास्ताने-हयात सुनाता हूँ तो वह समझता है कि यह ज़िक्र उसका नहीं, दूसरों का हो रहा है। हर व्यक्ति अपने को बहुत ही निजी, बहुत ही घनिष्ठ, बहुत ही बेतकल्लुफ़—और इसीलिए उधार माँगने के लिए मौज़ूँ आदमी समझता है। यह उधार घर से चलते समय ही लोगों की प्लानिंग में शामिल होता है या हर एक को बाहर आकर टोट पड़ जाती है? अपनी शराफ़त के मारे कमर टूट रही है। हर समय अजब झुँझलाहट दिमाग़ में भरी रहती है।

रात को बातों-बातों में सोमेश की कहानी सुनना भूल गए। अम्माँ से पूछा कि क्या वे कुछ दिन सीलोन रहना पसन्द करेंगी, पर उन्हें तैयार नहीं पाया। ऊपर से वे कहती रहीं कि वे चली जाएँगी, पर उनका दिल नहीं है।

मैं नौकरी छोड़ने-न-छोड़ने के मसले में बुरी तरह उलझा हुआ हूँ। आज वीरेन्द्र को लिखा है कि क्या वह कुछ दिन अम्माँ को सपोर्ट कर सकता है? देखूँ, क्या उत्तर देता है?

जालन्धर : 1-6-57

रात को ज़ोर की आँधी आई, जिससे एक बार नींद जो टूटी तो फिर दो अढ़ाई बजे तक जागते रहे। बाहर के बरामदे में कुर्सियाँ निकालकर अम्माँ से नौकरी छोड़ने के मसले पर बातें करते रहे। दिमाग़ उलझा हुआ था, अम्माँ को नाहक दुःखी किया।

सुबह उठने पर दिमाग़ बहुत भारी था। रह-रहकर ध्यान आ रहा था कि पुष्पा को आज मेरी वजह से भटकना न पड़ा हो। कल जो दो-तीन रुपए ज़ेब में थे, वे सोमेश ने ले लिए थे, इसलिए सुबह अम्माँ से एक (उनका आख़िरी) रुपया उधार लेकर कॉलेज गए तो मालूम हुआ कि कॉलेज में आज छुट्टी है। बड़ी कोफ़्त हुई। वहाँ से खन्ना के घर गए तो वहाँ उसकी भाभी आई हुई थी। लौटते हुए रास्ते में वर्षा होने लगी तो प्लाज़ा में रुक गए। बत्तियाँ गुल हो गईं और मोमबत्तियाँ जला दी गईं। मोमबत्ती की रोशनी में हर लड़की सुन्दर और स्वप्निल-सी नज़र आती है। प्लाज़ा में ही बख़्शी मिल गया और पहले उसके घर चले गए। उसकी मम्मी के चेहरे से लगता था कि वे कांड की वज़ह से परेशान हैं। बख़्शी से पता चला कि कल बन्दे की वज़ह से उसकी मि...और उसकी अम्माँ से लड़ाई हो गई थी।

बख़्शी के घर से अपने घर आए। रास्ते में बख़्शी ने ख़ासा बोर किया—बीस मिनट रिक्शा रोककर मेहता से बातें करता रहा और पाँच मिनट करमजीत से। मैं अन्दर-ही-अन्दर जल-भुनकर ख़ाक हो गया।

मौसम बहुत अच्छा था। थोड़ी देर सोने के बाद चाय पी। भनोट अपने पर्चे ले आया। घंटा भर उससे मगजपच्ची की। बख़्शी आराम से टाँगें फैलाकर तख़्त पर सोया रहा।

घर में धूल-मिट्टी भर रही है और अम्माँ बेचारी दिन में तीसरी बार सफ़ाई करने लगी हैं। माँ का जीवन कितना अनात्मरत और निःस्वार्थ है, जैसे उनका अपना आप है ही नहीं—जो है, घर के लिए है, मेरे लिए है, और मैं हूँ कि अम्माँ से झगड़ने लगता हूँ। अम्माँ धरती की तरह शान्त रहती है। मेरे हर आवेश उद्वेग को वे धरती की तरह ही सह लेती है। इतनी स्थिरता, इतनी डेडिकेशन—इससे बड़ा योग और क्या हो सकता है? और इस पर भी वे अपने को मूर्ख, नासमझ और कमज़ोर कहती हैं? माँ के त्याग में कहीं त्याग की consciousness नहीं है और इसी बात में माँ की महत्ता है। उनकी सहिष्णुता में तनिक भी तो शिकायत नहीं होती। सच, मेरी माँ बहुत बड़ी हैं—बहुत ही बड़ी। काश! कि मुझमें माँ के इन गुणों का शतांश भी होता।

अभी दो-अढ़ाई घंटे बख़्शी और मैं बाहर बरामदे में कुर्सियाँ निकालकर बैठे रहे हैं। सिगरेट की क़सम कल टूटी थी, व्हिस्की की क़सम आज टूट गई (मगर क़सम व्हिस्की की नहीं, बियर की थी)। हम दोनों ही introspective mood में थे। नतीजे

के तौर पर अपनी-अपनी ज़िन्दगी की छीछालेदर करते रहे, इस बीच शीला और भाभी की भी चर्चा हुई–दोनों का तुलनात्मक अध्ययन होता रहा। अँधेरे बरामदे का रहस्यमय वातावरण, हवा में उड़कर आती हुई पानी की बूँदें...और रोमांच–मुझे आज फिर वीणा की बहुत याद आई। वह शायद लन्दन के किसी सजे हुए फ्लैट में इस समय अपने पति के लिए बेड टी तैयार कर रही होगी। और मैं यहाँ–रात के सवा ग्यारह बजे–उस एक क्षण की याद में पुलकित हूँ, जब अम्बाला स्टेशन पर रात भर की बातचीत के बाद सुबह पाँच बजे वह बुकिंग ऑफ़िस की खिड़की से मेरा टिकट ख़रीदकर आई थी, मैंने टिकट ले लिया था, उसे बस की ओर जाना था, मुझे प्लेटफार्म की ओर। उसने हाथ जोड़ दिए थे और मैंने भी–उस एक क्षण के लिए वह मेरे कितनी निकट थी? और उसी क्षण हम लोग अलग हो गए थे–शायद सदा के लिए। कह नहीं सकता कि ज़िन्दगी में उसे फिर कभी देख पाऊँगा या नहीं?

और आज मुझे पुष्पा के लिए भी बहुत खेद है। लेकिन मैं समझता हूँ कि मैंने गुरदासपुर न जाकर ठीक ही किया है।

बख़्शी ने आज एक अपना क़िस्सा सुनाया। मैं उससे कह रहा था कि ऐसे वातावरण में मुझे किसी के अभाव का बहुत अनुभव होता है। पुरुष-पुरुष में बहुत घनिष्ठता हो जाती है–लेकिन वास्तविक घनिष्ठता एक पुरुष और एक स्त्री में ही सम्भव है क्योंकि emotion की सही परिणति शारीरिक उपलब्धि में जाकर ही होती है। The climax of true intimacy is the complete merger of two bodies. Intimacy is incomplete without that merger and the merger is incomplete without that intimacy.

इसलिए पुरुष को स्त्री का साहचर्य मात्र ही नहीं चाहिए–हर पुरुष को एक विशेष स्त्री का साहचर्य ही वास्तविक सुख दे सकता है। It is a question not of a woman but the woman (पाल इस the woman के मसले पर अक्सर भाषण दिया करता था)। तो बख़्शी का क़िस्सा इस the woman के मसले से ही शुरू हुआ–

उसने बताया कि छह साल पहले वह दिल्ली में एक ऐसी लड़की को जानता था जिसे वह अपने लिए 'द वूमेन' कह सकता था। उसे उसमें वह हर विशेषता दिखाई देती थी, जो उसकी धारणा के अनुसार एक लड़की में होनी चाहिए थी। मगर क़िस्सा मुख़्तसिर यह हुआ कि आर्थिक सिक्योरिटी के अभाव के कारण (जैसे कि पुरखों की परम्परा है) उसने किसी और से शादी कर ली। इस पर भी उसके दिल में उस लड़की की क़द्र बनी रही, मगर हाल ही में वह फिर उसे मिली है, एक बच्चे की माँ बन चुकने के बाद–और अब वह उसे शारीरिक रूप से पा लेने के लिए व्याकुलता दिखाती है। बख़्शी की बात, पचास फ़ीसदी discount काट देने पर भी बड़ा गम्भीर संकेत देती है। बख़्शी बाद में स्त्रियों के सम्बन्ध में अपनी असहिष्णुता और अनास्था की चर्चा करता रहा।

खाना खाकर घूमने निकल गए। तेज़ हवा और बूँदाबाँदी में घूमने से अधिक सुखदायक शायद ही कोई अनुभव हो। कीचड़ में पाँव बचाते हुए चलने का भी अपना रोमांच है। कहीं कीचड़ के छींटे पड़ जाते हैं तो मुँह से चीख़ निकलती है और मन में पुलक भर जाता है।...ज़्यादा दूर नहीं गए। सिगरेट सुलगाकर लौट आए।

इस समय हवा ज़ोर-ज़ोर से दरवाज़े खटखटा रही है। हवा के दबाव की बहुत तेज़ आवाज़ हो रही है, जैसे हवा ज़मीन की हर चीज़ को बुहारकर ले जाएगी। बन्द कमरे में बैठे हुए बाहर की इस शक्ति का संस्पर्श कितना अद्‌भुत लगता है। किसी कोने में टिड्डियाँ बोल रही हैं और दूर गली में पहरेदार। दरवाज़े का पर्दा झूले की तरह झूल रहा है।...

मेरा मन कहता है कि यह बन्धन तोड़ दे–यह नौकरी का तौक गले से उतार दे–तू हवा और elements का साथी है–उनके साथ मिलकर उनकी तरह ही जी–जीवन में ख़्याति या प्राप्ति तेरी उपलब्धि नहीं है। तेरी उपलब्धि तेरी खोज है। खोज और जी।

यह लिखने में भी मन को सन्तोष होता है।

हवा क्या दरवाज़े तोड़ ही देगी?

जालन्धर : 2-6-57

कई दिनों बाद डटकर सोए और सुबह उठते ही अम्माँ से लड़ाई कर ली। अम्माँ इतनी बात कहने की दोषी थीं कि अगर नौकरी छोड़ दूँ तो घर का सामान रखने के लिए कहीं छोटा-सा कमरा ले लेना चाहिए। बस, इतनी-सी बात पर दिमाग़ का पारा जो चढ़ा तो होशोहवास कायम नहीं रहे। अम्माँ को रुला दिया। अम्माँ फिर कहती रहीं कि मैं मूर्ख हूँ, बेसमझ हूँ, जो मुँह में आए बोल जाती हूँ। अब दिन-ब-दिन बूढ़ी हो रही हूँ इसलिए दिमाग़ और ज़बान पर काबू नहीं रहा, मैं बहुत दुष्ट हूँ जो अपने बच्चे को इस तरह दुःखी करती हूँ और दुष्ट बच्चा अपनी तानाशाही दिखाता रहा–अन्ततः माँ की बात उस दुष्ट की समझ में आई, शर्म के मारे हाथों में मुँह छिपाकर बैठा रहा और फिर माँ से माफ़ी माँग ली। माँ ने उसे छाती से लगाकर चूम लिया और उसके लिए चाय बनाकर ले आई।

दोपहर का खाना खाकर सो गया। उठकर 'शिला के आँसू' के स्क्रिप्ट पर जुटा। दो घंटे 'कलिंग विजय' के पुराने स्क्रिप्ट को लेकर बेकार की मेहनत की। फिर नए सिरे से नाटक टाइप करना प्रारम्भ किया। दो अढ़ाई पृष्ठ टाइप करके बुरी तरह थक गया और बाहर चला गया। प्लाज़ा में नरेन्द्र मिल गया। दोनों सैर करते हुए घर चले आए। नरेन्द्र से दो-एक मसलों पर बातचीत हुई–एक कि सौन्दर्य के विकास के मूल में कौन-सा नियम काम करता है? सौन्दर्य वास्तविक है या अपेक्षिक? विकास के

नियम के अन्तर्गत स्वस्थतर के साथ-साथ सुन्दरतर का निर्माण क्यों? 'फार्म' के evolution का क्या राज़ और महत्त्व है?

खाना खाकर कुछ दूर टहलने के लिए निकल गए। विश्व की समस्याएँ हल नहीं हुईं।

अब नाटक बीच में ही धरा है। काम करने का ज़रा मन नहीं है। यह सब होगा कब?

आज मन इस दिशा में निश्चित है कि नौकरी छोड़ देनी चाहिए। कुछ और प्रश्नों का निर्णय करना है—कि कहाँ रहा जाए? सामान का क्या हो? और अपनी आधिदैहिक समस्याओं का...?

फक्-फक्-फक्-फक् गाड़ी जा रही है। गीली रात में गाड़ी की आवाज़ कितनी अच्छी लगती है।

4-6-57

कल रात नरेन्द्र के आ जाने से बातें ही होती रहीं, डायरी कौन लिखता?

पिछली रात की अधूरी नींद के कारण सुबह उठने पर सिर भारी था। कॉलेज जाकर किसी तरह फ़र्ज़ पूरा किया। क्लास ख़त्म करके स्टाफ़ रूम में शोर करते रहे। 'कल्पना' से लौटकर आया हुआ पच्चीस रुपए का चैक एक रुपए में प्रो. नन्दकिशोर को बेचा। बाद में चैक को देखकर उन्हें एहसास हुआ कि वे ठगे गए हैं। एक रुपए का सहभोज (सहपान) हुआ।

तनख़्वाह आज भी नहीं मिली, सब्र नहीं हुआ, और पैसा नहीं था, इसलिए तनख़्वाह की रक़म बैंक से निकलवा ली और लेनदारों का भुगतान करने पहुँच गए।

घर आने पर मोहन का पत्र मिला। पत्र में न केवल उसके malice का स्पर्श था—साथ उसके inferiority complex का भी। उसे उत्तर लिखा और पुष्पा के यहाँ आने और सब बातें बताने की बात स्पष्ट लिख दीं। उसने जो कुछ पुष्पा के सम्बन्ध में लिखा है, उससे मुझे स्पष्ट लगता है कि सारे परिवार को ही कुछ psychic बीमारी है अन्यथा एक ओर उसके आग्रह और दूसरी ओर उसके मुकरने का क्या अर्थ है?

पत्र डालकर कोच्छड़ के यहाँ चला गया, और उसके घर से प्लाज़ा चले गए। अपना हैट और postal stationery उसके घर ही रह गई। प्लाज़ा से लौटते समय हल्की-हल्की बूँदाबाँदी हो रही थी। रामाकृष्णा की दुकान में किताबें देखते रहे। घर लौटकर 'शिला के आँसू' के दो-एक पन्ने टाइप किए थे कि नरेन्द्र आ गया। उसे रात को यहीं सोना था।

आज सुबह उठकर नाटक का एकाध पृष्ठ और टाइप किया और कॉलेज चला गया। वहाँ नरेन्द्र का टेलीफ़ोन आया कि नवतेज आया हुआ है। प्लाज़ा में मिलने का अपाइंटमेंट किया। आज क्लास में ठीक से नहीं पढ़ाया।

फार्म भरवाकर दफ़्तर में दिए और प्लाज़ा पहुँच गया। घंटा भर बातें हुईं–ऊपरी-ऊपरी सतही बातें। फिर नाटक लिखने के इरादे से उन लोगों से छुट्टी ले आया।

घर आकर कुछ और पृष्ठ टाइप किए तो प्रेमी आ गया। जितने पृष्ठ टाइप किए थे, वे उसे दे दिए और बियर शॉप चले गए। वहाँ दो घंटे वह शख़्स हमेशा की तरह रेडियो स्टेशन की पालिटिक्स के रोने रोता रहा। कुमार यह चाहता है और वह चाहता है। बिसारिया यह करता है और वह करता है। स्टेशन डायरेक्टर उससे डरता है। डी. जी. हमको बहुत मानता है। केसकर साला बेवक़ूफ़ है। भाउ बड़ा होशियार आदमी था।

...और उसके बाद उसकी सेक्स सम्बन्धी बातें और उसके मुँह से टपकता हुआ लार!

"मिस्टर राकेश, I have just one friend in Jullundur and that is you. There is only one literary man in Jullundur and that is You."

और इसके साथ ही आप कुर्सी पर बिखर गए–ऐसे अवसरों पर उसके सफ़ेद बाल और उसका गोल चेहरा मुझे न जाने क्यों अजीब से लगते हैं।

बियर शॉप से प्रेमी के घर गए और वहाँ से पिक्चर देखने–'चम्पाकली'। साली वह घटिया दर्जे की बम्बइया फार्मूले की पिक्चर थी कि बीच में से ही उठ आए। कुछ अर्से से पिक्चरों के बीच से उठ आना अपना स्वभाव-सा हो गया है। मनहूस पिक्चरें आती ही ऐसी हैं!

प्रेमी के घर से खाना खाकर दस बजे तक घर पहुँच गए। मगर सिर दर्द के मारे बुरा हाल था, इसलिए सो रहने में ही ख़ैरियत समझी।

आज फिर क़सम खाता हूँ, परवरदिगार, कि बियर नहीं पीऊँगा।

5-6-57

एक डल दिन।

सुबह उठकर 'शिला के आँसू' के कुछ पृष्ठ टाइप किए और रेडियो स्टेशन पहुँचा दिए। दोपहर भर सोया रहा। शाम को घूमने निकल गया और अभी लौटकर आया हूँ।

आज आते हुए फिर वही फ़लसफ़ा तंग कर रहा था। किसी वैज्ञानिक से energy के सम्बन्ध में ठीक जानकारी हासिल करनी चाहिए।

अब बैठकर फिर वही धन्धा करना है। 'शिला के आँसू' ने अपने प्राण ले लिए। मुझे यह सब लिखने में ज़रा इंटरेस्ट नहीं आता।

...Anti-tax campaign के लिए नरेन्द्र ने पाँच रुपए टैक्स अदा किया। What a paradox!

6-6-57

रात को नाटक पूरा करके लेटा था। बहुत देर तक नींद नहीं आई। सुबह चार बजे तक बस करवटें ही बदलता रहा। इस बीच कुछ उखड़े-उखड़े सपनों के टुकड़े मँडराते रहे—वे सब सपने अपने पर आक्षेप थे। अपना आप बहुत छोटा प्रतीत हुआ। बीच में कई बार उठकर बाहर आया। बाहर मौसम बहुत अच्छा था। मुझे मेंढकों की आवाज़ बहुत अच्छी लगती है। लगता है, जैसे वह प्रकृति की आदिम आवाज़ हो—प्रकृति का अपना स्वर। इस आवाज़ को सुनते हुए अपनी अलग सत्ता का बोध खो जाता है, one fells like a part of the whole.

सुबह देर से उठा। कॉलेज में क्लास नहीं ली। प्रो. सत्यदेव देर तक क्लास में बैठे रहे, इसलिए दिमाग़ भन्ना गया था। कालेज टीचर्स यूनियन की तरफ़ से Demands Day की meeting थी, वह अटेंड करके घर चला आया।

घर वीरेन्द्र आया हुआ था। इससे उसके मसले पर और बातचीत हुई। उसे समझाया कि उसे इस वक़्त कुछ दिन बिना लड़ाई-झगड़े के निकाल लेने चाहिए। वीरेन्द्र 'शिला के आँसू' का फाइनल स्क्रिप्ट रेडियो स्टेशन ले गया। तभी जितेन्द्र आ गया। वह स्टूडेन्ट्स के साथ अपने झगड़े का रोना रोता रहा। उसे दो-एक सुझाव दिए।

बाद दोपहर फिर कुम्भकर्ण की तरह सो गया और पाँच बजे उठा। उठकर 'हवामुर्ग' का अंग्रेज़ी में अनुवाद टाइप करना आरम्भ किया। प्रयत्न बुरा नहीं लगा। दो-एक दिन और लग जाएँ तो यह कहानी मुकम्मिल हो सकती है।

शाम को प्रेमी के साथ बियर शॉप चले गए। वहाँ बख़्शी, मिड्ढा और प्रदीप वगैरह मिल गए।

प्रिंसिपल सूरजभान से कल का अपाइंटमेंट है—शाम सात बजे का। इस समय मन कहता है कि साल-दो साल अभी और ठहर जाना चाहिए—अगर उनके टर्म सूटेबल हों।

7-6-57

रात को बख़्शी साहब दो बजे तशरीफ़ लाए। बहुत कोफ़्त हुई। उनके रिक्शा के लिए ज़ेब ख़ाली की, जैसा कि हर दो बजे आने वाले मेहमान के लिए लाज़िमी है। उनका रुख बिस्तर की तरफ़ किया और फिर लम्बे हो गए—मगर घंटा-डेढ़ घंटा नींद उचाट रही।

सुबह कॉलेज जाकर दिमाग़ भन्ना गया क्योंकि विद्याप्रकाश और भनोत ने स्टूडेन्ट्स को एक्स्ट्रा क्लास के लिए ठहरने की सूचना नहीं दी और मेरे पास आकर झूठ बोल गए।

दोपहर को बत्ती ऑफ़ होने के कारण बिजलीघर को कोसते रहे। रमेश पाल का प्यार भरा पत्र आया था, उसका उत्तर लिखा, फिर रेडियो स्टेशन चला गया। अढ़ाई घंटे नाटक की रिहर्सल में बैठा रहा। कुछ चरित्रों की वैयक्तिक रिहर्सल कराई और एक पूरी रिहर्सल ली। प्रेमी को नाटक की production की A-B-C का भी तो पता नहीं है। परमशिव की तरह बैठकर आप दूसरों का पाठ सुनते रहते हैं। रात को रेडियो पर नाटक सुना तो फिर माथा पीट लिया। नाटक के आगे-पीछे मौन में म्यूजिक पीस लगाने चाहिए, इन्सान क़ो इसकी कुछ तो सेन्स होनी चाहिए। परमशिव ने अशोक के नाटक के आगे-पीछे इंगलिश म्यूजिक के पीस लगा दिए थे और effects दे रहे थे श्री आर.पी.आर.एल. मदहोश–

रिहर्सल से उठकर न...के यहाँ चला गया। उसने आम का पुडिंग खिलाया। दो-चार-दस बातें हुई। फिर प्रिंसिपल से मिलने चला गया। घंटा-भर इन्तज़ार की। फिर महाप्रभु प्रकट भये। आध घंटे की बातचीत का लुब्बे-लुबाब यह रहा कि हम अभी त्याग-पत्र नहीं देंगे, और वे हमारी pay revise कराने का प्रयत्न करेंगे। इति शम्।

घर आकर 'शिला के आँसू' पर आँसू बहाए और अब फिर बख़्शीजी महाराज का इन्तज़ार है जो दो घंटे हुए आध घंटे में आने को कह गए थे।

मेरे खुदा, मुझे इन मेहमान दोस्तों से बचा।

8-6-57

This should be the last day of my beer-taking and giving lift to that man called Hari Krishna Premi.

I have also to revise my attitude towards some other people. Undue courtesy not only belittles you but also puts wrong notions in other people's head.

आज कॉलेज नहीं गया। सुबह बख़्शी के विदा होने पर 'हवामुर्ग' के कुछ और अंश का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया। दोपहर को मोती आ गया। उसकी वज़ह से ही प्रेमी के घर जाना पड़ा, उसे बियर शॉप ले जाना पड़ा, और ख़ामख़्वाह का सिरदर्द मोल लेना पड़ा। "प्रेमचन्द के बाद हिन्दी साहित्य में लोग बस मेरा ही नाम जानते हैं," डेढ़ बोतल बियर के बाद आप बोले, "मुझ पर अंग्रेज़ी में तुम एक लेख लिख दो।"

मोती की वजह से मैं अपने पर वश किए रहा, वरना वहीं इस शख़्स की ग़लतफ़हमी थोड़ी दूर कर देता। दिमाग़ का ग़ुस्सा बियर शॉप के असिस्टेंट पर निकाल दिया। बियर शॉप से घर आकर कुछ चिट्ठियाँ लिखीं और फिर शहर चला गया। ऋषिगोपाल से अपाइंटमेंट था। उसके साथ काँगड़ा की ट्रेकिंग का प्रोग्राम बनाया। ऋषिगोपाल ने भी 'शिला के आँसू' के प्रोडक्शन पर बहुत आँसू बहाए।

जाने किस गधे ने इन लोगों को producers बनाकर भेज दिया है।

अभी तक सिर बुरी तरह दर्द कर रहा है। सम्भवतः यह इस वर्ष का सबसे गर्म दिन था।

I have never exercised discretion in the choice of friends. That is one of the fundamental mistakes I have committed in life. I have always allowed myself to be imposed upon by people who have choice to do so. This also happened in marriage. I just allowed the woman who wanted to impose herself on me to do so. The result in all such cases has been self torture.

Extreme sensitivity results inevitably in acute self condemnation. Most of my suffering has come at my own hands. I have known only one person in life so far who has understood each shade of my thought and who has known my pain and sufferings. That was Veena—though her puritanism always irritated me. But the woman was made of very fine clay...spread into a very sensitive fibre. But she was also cowed down by convention. What a great tragedy it is in life! Only if she were a little daring and I had a little more initiative!

Life would then have had a different pattern!

But I do not think if I will ever see her again in life.

I loved the expression of her beautiful eyes and sweat of her body.

It is very easy to get corrupted—but is very difficult to be able to love.

आज वीरेन्द्र का पत्र पढ़कर दिल उमड़ पड़ा था—वह बच्चा कितना अच्छा है! यदि मद्रास गया तो दो-चार दिन के लिए उसके पास जाने का प्रयत्न भी करूँगा।

9-6-57

सुबह से मन उलझा हुआ था। मालिश कराते समय मँहगे की बातों ने और उलझा दिया। कम्बख़्त हर घर की रपट यहाँ-से-वहाँ पहुँचाता फिरता है।

मँहगे के जाने के बाद नरेन्द्र आ गया। अढ़ाई तीन घंटे वह रहा। उससे हिन्दी आन्दोलन के बारे में बात होती रही। वास्तव में यह आन्दोलन भाषा-सम्बन्धी न होकर पदाधिकार सम्बन्धी है। कांग्रेस सरकार इस समय स्वयं साम्प्रदायिकता को आश्रय दे रही है...उसी से यह सारा बखेड़ा खड़ा हुआ है। एक दृढ़ और निश्चित पालिसी ही इस समस्या का निदान है। पंजाब की भाषा निःसन्देह पंजाबी है...और हिन्दुओं की यह भूल है जो वे पंजाबी को सिखों की भाषा बनाए दे रहे हैं। उधर कुछ सिख communalist अपने को इस भाषा के ठेकेदार समझने लगे। प्रश्न वस्तुतः भाषागत न होकर दूसरा है। पहली आवश्यकता यह है कि सिख और...पंजाब के विरोध को ख़त्म

किया जाए। हम जो भाषा बोलते हैं, उसे अपनी भाषा के रूप में स्वीकार करने में क्यों डरते हैं? परन्तु यह प्रश्न किसी भी community की स्वीकृति-अस्वीकृति से हल नहीं होगा। उसे हल करने के लिए बुनियाद पर चोट करनी होगी।

नरेन्द्र अपने विवाह के मसले को लेकर काफ़ी परेशान है। न जाने विवाह के बाद इसका क्या हश्र होगा।

र...आई थी...पाँच मिनट के बाद चली गई।

नरेन्द्र के जाने के बाद कुछ पत्र लिखे। गर्मी की वजह से बहुत परेशानी रही। ठीक से नींद भी नहीं आई। बाद दोपहर 'हवामुर्ग' के दो-एक पन्नों का और अनुवाद किया। फिर नहाकर सैर करने निकल गया।

नहर की पटरी के साथ-साथ काफ़ी दूर तक चलता रहा। कई बार एकान्त बहुत अच्छा लगता है। झींगुरों के स्वर में बहुत आत्मीयता प्रतीत होती है। खुले में हवा का स्पर्श चेतना को आच्छादित कर लेता है। मन फिर अनजान राहों की ओर भटक चलता है।

लौटने पर राजेन आया हुआ था। इस लड़के के व्यवहार में कुछ विचित्रता है। मुझे वह natural नहीं लगता। ख़ासतौर पर उसका हाथ जोड़ने का अन्दाज़।

जब कोई व्यक्ति केवल 'मिलने' के लिए चला आता है, और न उसके पास पूछने को कोई बात होती है—न कहने को, और वह पूछे जाने पर बार-बार 'कुछ नहीं जी, बस मिलने के लिए आया था' कहकर चुप बैठा रहता है और केवल अपने बैठने के पोज़ बदलता रहता है तो बहुत विचित्र लगता है। वह जब तक बैठा रहता है, उसका बैठे रहना अस्वाभाविक होता है, जब उठकर जाने लगता है तो उसका उठकर जाना अस्वाभाविक होता है। ऐसे में इन्सान स्वयं भी पोज़ बदलते रहने के सिवा क्या करे?

दो दिन से एक वार्षिक पत्रिका निकालने की योजना मन में आ रही है, जिसमें वर्ष भर की हर क्षेत्र की गतिविधि का लेखाजोखा हो। वर्ष की चुनी हुई पुस्तकों का परिचय हो, एकाध symposium हों और वर्ष की कुछ चुनी हुई रचनाएँ सम्मिलित हों। परन्तु सवाल पैसे का है...

'शिला के आँसू' के प्रोडक्शन को लेकर मन अभी तक परेशान है। कल-परसों प्रेमी को इस मामले में ज़रा सबक देना चाहिए...लोगबाग तो सब भांडाफोड़ अपने सिर पर करते हैं।

10-6-57

दिन भर उलझन रही।

रात को 'हवामुर्ग' का अनुवाद पूरा करके सोया था। सुबह कॉलेज में ही मन उखड़ा-उखड़ा था। दोपहर को घर आकर 'Desiree' के कुछ पृष्ठ पढ़े। तीन बजे

सोमेश आ गया। साढ़े तीन बजे के क़रीब उ...आई और साढ़े पाँच तक रही। उसके जाने के बाद नहाकर घूमने निकल गए।

कुछ बातों में सोमेश का व्यवहार कुछ अखरता है। उसके दिमाग़ में अपने बारे में ख़ासा काम्प्लेक्स है। उससे कुछ साफ़गोई की तो वह चिढ़ गया। खीझकर उसने दो-एक बातें कहीं, लेकिन बाद में उन्हें फिर पी गया। वह न जाने क्यों अपने इर्द-गिर्द ख़ामख़ाह की mysteries create करता है।

शहर से बख़्शी भी साथ आ गया था। घर आकर सोमेश से साफ़गोई के लिए बहुत आग्रह किया मगर एक बार अपने shell में जाकर फिर बाहर नहीं निकला। ...वह Havelock Ellis की किताब बन्दे के account में आज ले आया था—कुछ देर वही पढ़ता रहा। बख़्शी से वर्षा के सम्बन्ध में bet लगाया मगर हार गया।

I must have a still more defined attitude towards all friends. I have paid a great price for my courtesy and cannot pay any more of it.

Curtness is a virtue that pays immediate dividends.

I do not think if I should make company with Rishigopal. Neither for a trip to the hills.

जालन्धर : 11-6-57

सुबह बहुत strained थी। कोशिश करके भी सोमेश नार्मल नहीं हो सका, न ही मैं। उसके जाते ही उसके नाम एक खत लिखा, जिससे कॉलेज जाने में देर हो गई। इस व्यक्ति को खुलकर सामने आना चाहिए। मेरे मुँह पर तमाचा लगाना हो तो खुलकर लगाना चाहिए, इस तरह दबे-दबे नहीं। यह hypocricy है।

कॉलेज में पढ़ा चुकने के बाद देवराज गुप्ता के क्वार्टर में चला गया। वहाँ उसके साथ ही खाना खाया। देवराज की ज़िन्दगी—उसका वर्तमान—intellect की corruption और compromise का प्रमाण है। उसने अपने नए ओहदे को justify करने के लिए कई बातें कीं—अपनी ईमानदारी साबित करने के लिए बहुत कुछ कहा। उस आदमी की sincerity असन्दिग्ध है।

घर जाने के थोड़ी देर बाद ही र...आ गई। वह घंटा भर रही। उसके बाहर निकलते ही नरेन्द्र आ गया। अम्माँ ने बताया कि पीछे एक लड़की आई थी—बहुत सादा थी वह—फिर आने को कह गई है और चार बजे—

नरेन्द्र ने metal worriers के धन्धे के सम्बन्ध में कई बातें बताईं। moulder भट्टी किस तहर झोंकते हैं--कठाली में ताँबा भरकर किस तरह जलती भट्टी के किनारे खड़े होकर गीले बोरे और वस्त्र पहने हुए वे काम करते हैं। फिर उसने metal के ढलने, साफ़ होने और पालिश होने का क्रम समझाया। साँचे के अन्दर चिकनी

मिट्टी की तह देकर और सूराख से पिघला हुआ मेटल (पीतल आदि) डालकर वस्तुओं को उनके निश्चित आकार में ढाला जाता है। फिर उनका रँदना, रेतना और पालिश आदि होता है। एक-एक moulder दिन में बीस-बीस तीस-तीस रुपए का काम कर लेता है। उसने यह भी बताया कि किस तरह एक कारख़ाने में एक moulder के अधीन पचास worker हैं—उसका बाक़ायदा ऑफ़िस और स्टेनो आदि हैं। यहाँ भी मालिकों के हथकंडे worker की जान मुट्ठी में रखते हैं। मालिक कांग्रेस और जनसंघ को साथ-साथ चन्दा देते हैं। गोवर्द्धन राम पी.ए. की फ़ैक्टरी के मज़दूरों के त्रास का ज़िक्र भी उसने किया। हड़ताल में workers का हौसला रखते हैं—परन्तु मिल में धुआँ दिखाई दे जाए तो workers का हौसला टूट जाता है। कारख़ाने की धड़कन आरम्भ होते ही strikers की धड़कन बन्द होने लगती है।

शाम को नहाकर शहर चले गए। बख़्शी के साथ कल शर्त हारी थी, इसलिए उसे बियर शॉप ले गया। बख़्शी का केस सीरियस शकल अख़्तियार कर रहा है, इसलिए वह दुःखी रहता है। वहाँ त...और नि...की विशेष रूप से चर्चा हुई—फिर अपने उन दोस्तों की जिनसे मैंने बहुत ज़्यादा की आशा रखी है, पर जिन्होंने पिछले दिनों मुझे बहुत सीरियस आघात दिए हैं।

बख़्शी कई बार बहुत sensible बातें करता है।

घर अम्माँ रोटी के लिए इन्तज़ार कर रही थीं। इस बात का मुझे बहुत दुःख होता है। अपने से ग्लानि भी होती है। अम्माँ ऐसा क्यों करती हैं?

दोपहर वीरेन्द्र का तार आया था कि वह साढ़े सात सौ रुपए के दो मनीऑर्डर भेज रहा है। अम्माँ ने मुँह से एक बात नहीं कही, पर अम्माँ का चेहरा कितना खिल गया था? दिन भर फिर उन्होंने इस बात की चर्चा नहीं की। माँ कितनी sensitive, कितनी कोमल और कितनी understanding है।

चार बजे आनेवाली लड़की नहीं आई। न जाने कौन थी वह और उसे क्या काम था?

Bakshi just now said a few things frankly. I liked his frankness.

अब बन्द करो महाशय, रात का एक बज चुका है—एक।

12-6-57

सुबह रोज़मर्रा की तरह आरम्भ हुई। हर सुबह की तरह बख़्शी साहब पर depression सवार था। जल्दी-जल्दी तैयार होकर कॉलेज चला गया। डेढ़ घंटा जायसी पर लेक्चरबाजी की। क्लास से उठकर स्टाफ़ रूम में चले गए और वहाँ से गुप्ता के घर। वहीं खाना खाया।

खाना खाते हुए गुप्ता ने एक बड़ा मज़ेदार क़िस्सा सुनाया।

एक कॉलेज के प्रिंसिपल के पास स्टाफ़ के चन्द एक मेम्बर एक दिन पहुँचे। एक ने मुँह बनाकर हरियानवी में कहा, "साहब, वो जो सुपरिंटेंडेंट साहब के घर लड़का हुआ है, वह तो म्हारा लड़का है, सो म्हारा लड़का हमें दिलाया जाए!"

प्रिंसिपल हक्का-बक्का मुँह देखता रहा। उसने बात फिर खोलकर समझाई।

होस्टल के मेस में पाँच-छह प्रोफ़ेसर रोटी खाते थे। उन्हें सूखी दाल-रोटी मिलती थीं, जबकि सुपरिटेंडेंट साहब के लिए स्पेशल घी की तरकारी बनती, दूध जाता, मलाइयाँ जातीं और न जाने क्या-क्या जाता। उन्हीं दिनों सुपरिंटेंडेंट साहब का ब्याह हुआ और दस महीने बाद उनके लड़का पैदा हुआ! शिकायत करने वालों का प्वाइंट यह था कि वह लड़का जिस दूध-घी की बरकत से पैदा हुआ है, वह दूध-घी उन्हीं के पैसों से आता था...उपयोग अकेले सुपरिंटेंडेंट साहब करते थे। इसलिए हिसाब से उस लड़के पर उन सबका साँझा हक़ था।

प्रिंसिपल कुर्सी से उछल पड़ा और कहनेवाले के गले लग गया।

गुप्ता के यहाँ ही चावला के आ जाने से काफ़ी देर गप हाँकते रह। चावला के जाने के बाद बन्दे को फ़िलासफ़ी का मूड सवार हो गया। इसलिए बहुत-सी बातें बक डालीं...

मनवानुवाच...

जीवन में एकरसता और ऊब का अनुभव क्यों होता है? असाधारणता के वहम के कारण जब हम और असाधारण की खोज करते हैं तो एक स्थिति पर आकर हम थक जाते हैं, क्योंकि हर असाधारण-सी असाधारणता बहुत शीघ्र ही साधारणता में बदल जाती है। व्यक्ति की अधिक परिपक्वता उसे यह देखने की दृष्टि देती है कि जीवन का आकर्षण उसकी असाधारणता में न होकर उसकी साधारणता में है।

गुप्ता को सुनते-सुनते नींद आने लगी थी। इसलिए उससे छुट्टी लेकर घर आ गया। घर वीरेन्द्र के साढ़े सात सौ के दो टी.एम.ओ. मिले...अम्माँ के नाम। शाम तक बैठकर 'हवामुर्ग' का अनुवाद दुरुस्त किया, फिर शहर चला गया। नरेन्द्र के साथ उसकी शादी के कपड़े वगैरह ख़रीदवाने चला गया। बाज़ारदारी के बाद घर लौट आए। घर आकर कौशल्याजी का तार मिला कि वे सवेरे आ रही हैं।

बाहर फिर आँधी के आसार बन रहे हैं। यह रोज़-रोज़ की वर्षा, रोज़-रोज़ की आँधी...वल्लाह कैसा मौसम है यह!

जिन उपलब्धियों के लिए मन इतना भटक जाया करता था, अब वह उनसे इतना भरा-भरा क्यों रहता है?

जालन्धर : 13-6-57

सुबह अश्क दम्पति को आना था, इसलिए जल्दी उठकर किसी तरह स्टेशन पर पहुँचा। लेकिन वे फ्रन्टियर से नहीं आए। वे बाद में जनता से आए। मेरे कॉलेज

से लौटने तक वे घर पहुँच गए थे। अश्क साहित्य जगत की चर्चाएँ सुनाते रहे। दोपहर को खाना खाकर प्लाज़ा चले गए। अश्क और कौशल्या जी को आश्चर्य होता है कि लोग अश्कजी की इतनी निन्दा क्यों करते हैं। उन्हें अपनी प्रतिक्रिया बतलाई। वास्तव में यह अश्क की misplaced humour के सबब से है। बहुत कम लोग उसे enjoy कर पाते हैं और अक्सर कुढ़ जाते हैं। अश्क के लोगों के साथ व्यवहार में कुछ peculiarities आ गई हैं, जिसके कारण हैं, इलाहाबाद के लोगों की आरम्भ में hostile attitude से पैदा हुई प्रतिशोध भावना, कुछ शारीरिक और मानसिक frustration, अनुकूल सहयोगियों का अभाव, आदि। अश्क से बहुत बार serious और non-serious की रेखा नहीं रखी जाती। इसी से अधिकांश tradegies का श्रीगणेश होता है। He has been playing up younger people against older ones, resulting in their similar behaviour towards him also.

दर्शन सिंह के आ जाने पर बात हिन्दी-पंजाबी मसले पर होती रही। दर्शन सिंह से भी वही बातें कहीं जो उस दिन नरेन्द्र से कही थीं।

It is mainly a question of vested interests and not of emotions and sentiments. Ministers themselves are the culprits while swamis are playing in the hands of the culprits keeping behind the scenes.

प्लाज़ा से उठकर दर्जियों के चक्कर लगाए। फिर मैं उनसे अलग होकर ख...के यहाँ चला गया। वहाँ विनय बहुत देर teaching profession को कोसता रहा। कॉफ़ी पीकर चला आया। ख...के स्वभाव में वह स्थिरता और कोमलता है जिसकी एक इन्सान से अपेक्षा हो सकती है।

घर आकर पता चला कि पीछे म...और ल...आई थीं। मेरे मन से वह सूत्र बिल्कुल ही टूट गया है क्या?

जालन्धर : 14-6-57

I am dead tired, too tired to write anything. And what is there to write about after all? We got up, we bathed, we ate, we talked a lot and we felt tired.

Ashk and Kaushalya, they are both good-hearted children, but very much self contained and with many misconceptions about themselves.

अश्क का छोटा भाई इन्द्रजीत समझौतेबाज़ी में पड़कर तबाह हुआ आदमी प्रतीत होता है। उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं रहा।

Ashk today bullied him a lot and to a great extent unnecessarily. Indrajit is an unsuccessful man—unsuccessful in the worldly sense—and that is what makes him a weak, fumbling and faltering, fool. Otherwise he has a lot of sense and a lot of vigour. But...

जालन्धर : 23-6-57

ब्याह और बरातियों के जमघट में और थकान में—कुछ भी नहीं लिख पाया।

15 को नरेन्द्र की शादी थी। सुबह उठते ही तैयार होकर स्टेशन वैगन में बडाला गाँव चले गए। वहाँ एक बैठक में पहले लस्सी-पानी हुआ। दर्शनसिंह ने वहाँ बैठे-बैठे डोली के गाँव के दो-एक और क़िस्से सुनाए। एक क़िस्सा एक बारात का था। बिचोले की कृपा से लड़के वाले यह सोचकर आए कि उन्हें काफ़ी दहेज मिलेगा। लड़कीवालों ने अपनी हद से बाहर जाकर ख़र्च किया पर उनके स्टैंडर्ड से कहीं नीचे फिर भी रहे। लड़के का बड़ा भाई गर्म हो गया। परिणामतः बारात दहेज के कपड़े-लत्ते लेकर और लड़की को छोड़कर चल दी। लड़की का बाप संस्कारपरस्त वर्ग का था। उसने...सिंह की घरवाली से मिन्नतें कीं तो इधर के लोग इकट्ठे होकर नहर के किनारे बारात पर पिल पड़े और अपने दहेज के अतिरिक्त उनके कपड़े-घड़ियाँ और पैसे भी ले आए।

इसी तरह नाजायज़ शराब निकालने के सिलसिले में एक थानेदार ने वहाँ आकर गाँव के कुछ लोगों को पीटा। गाँववालों ने थानेदार और सिपाहियों की मरम्मत करके उनके कपड़े उतरवा लिए। थानेदार रिपोर्ट दर्ज़ करके नहीं आया था, इसलिए अदालत का फैसला उसके ख़िलाफ़ हुआ।

नरेन्द्र की शादी हुई। अछूत परिवार के उस घर में भी चाय के सेटों में मेज़ कुर्सियों पर चाय पिलाई गई। एक स्थानीय कवि ने कविताएँ सुनाईं। उसकी वाणी में ओज था और कुछ पंक्तियाँ बहुत सधी हुई थीं। राजनीतिक मामलों में वह अफ़ीमी काफ़ी जागरूक जान पड़ता था। अश्क ने भी अपनी दो-एक कविताएँ सुनाईं। मगर उनका स्वाद बहुत फीका रहा।

स्टेशन वैगन में अढ़ाई बजे घर पहुँचे। अम्माँ ने नई दुलहिन को गले लगाया।...अम्माँ की छूतछात कहाँ चली गई? कहीं ज़रा भी कुंठा, ज़रा भी संकोच नहीं था। केवल बेटे के अनुरोध की रक्षा ही थी क्या? नहीं—अम्माँ का दिल बहुत विशाल है—बहुत।

गर्मी में इतने आदमियों का खाना बनाकर वे बेहाल हो रही थीं। किसी को इसका ध्यान नहीं आया। आते ही सब पानी की फ़रमाइश करने लगे। तब मुझे अपने पर कोफ़्त हुई कि मैं अम्माँ को कितनी तकलीफ़ देता हूँ।

दिन-भर घर में चहलपहल रही। दर्शन सिंह ने Indian mutiny के कुछ पक्षों पर भाषण दिया। रात को अम्माँ फिर चूल्हे के आगे जुटी रहीं। तभी तार आया कि नानाजी की मृत्यु हो गई है।...अम्माँ ने अभी खाना नहीं खाया था। उन्हें कैसे बताता? धीमे-धीमे सबसे बात हुई। नरेन्द्र स्टेशन गाड़ी का पता करने चला गया। कौशल्या भाभी बैठकर अपने अतीत के दुखों की गाथा सुनाती रहीं। सरला के घर में भाभी के हाथों उन्हें जो तिरस्कार और भर्त्सना सहनी पड़ी—समय-समय पर उन पर जो

किसी तरह घिसटते हाल कॉलेज पहुँचे। एम.ए. प्रीवियस को आख़िरी लेक्चर दिया। कालेज से चावला के घर चले गए और वहीं खाना खाया। चावला को बीवी के ज़रखरीद गुलाम की तरह काम करते देखकर रूहानी खुशी हासिल हुई। आलू छीलने से बच्चे का दूध गर्म करने तक के काम वह फ़र्ज़े लाज़मी की तरह सरअंजाम देता रहा। उसकी बीवी बच्चा होने के बाद आगे से कहीं ख़ूबसूरत निकल आई है।

दोपहर के अढ़ाई बजे घर पहुँचे तो ताले की चाबी नदारद थी। पड़ोसी सरदारों से ताली लेकर लगाई तो उसने बिना ज़रा भी हीलोहुज्जत के ताला खोल दिया। अन्दर पहुँचकर देखा कि बिजली का मीटर अभी तक कनेक्ट नहीं हुआ हालाँकि सुबह ही जोशी को पैसे देकर भेज दिया था। छह बजे तक ऊँघते, पंखा झलते और कराहते रहे। छह बजे कनेक्शन मिला। तब तक सिर की बुरी हालत हो चुकी थी।

शाम रोज़मर्रा की तरह प्लाज़ा में बिताकर और काँगड़े वालों के ढाबे से रोटी खाकर घर चले आए। इस वक़्त पेट अकड़ा हुआ है और रात को नींद हराम होने का अन्देशा है।

शाम को दिमाग़ी हालत बहुत ख़राब थी और उसी हालत में यह तय किया कि नौकरी छोड़कर अगर स्कॉलरशिप मिल जाए तो शिमले जा रहा जाए। अभी तक यह निश्चय बदस्तूर क़ायम है।

सूद ने सारे कॉलेज में शोर मचा दिया है कि हम लोग पैदल पौड़ी की यात्रा पर जा रहे हैं। अब उस यात्रा पर जाना अपना नैतिक कर्त्तव्य-सा हो गया है।

दोपहर को ख...को आना था—पर उसका न आना अच्छा ही रहा—क्योंकि पंखा न होने से गर्मी ने प्राण खुश्क कर रखे थे।

जोशी के मामू जान वादिए कुल्लू के बारे में जानकारी देने के लिए तशरीफ़ लाने वाले हैं। बन्दा मुंतज़िर है।

28-6-57

जब शरीर अस्वस्थ होता है तो रात भर विचारों के खंडित टुकड़े या छोटे-छोटे वाक्य दिमाग़ में मँडराते रहते हैं। कुछ विचार स्पष्ट होते हैं और कुछ चौंका देते हैं। कुछ अस्पष्ट होते हैं और आँखमिचौनी खेलने लगते हैं।

रात भर यही क़िस्सा रहा।

सुबह उठने तक नज़ले से बुरा हाल था।

कॉलेज में थोड़ी देर मटरगश्ती करके चावला के यहाँ चला गया। खाना वहीं खाया। विमल कुछ देर सितार सुनाती रही। फिर सैक्रेटेरियट चले गए और दफ़्तरी माहौल की एक झाँकी देखकर—एक वकील के बीमार हाल घर से होते हुए विमल

को लेकर प्लाज़ा चले गए। घंटे भर की बैठक के बाद वे मियाँ-बीवी मसन्द चौक तक ताँगे में साथ आए। वहाँ वे उतर गए और बन्दा घर तशरीफ़ ले आया।

कुछ देर के बाद घर से निकले तो सामने से के...साइकिल पर आती मिल गई। उसके साथ लौट आए। वह आध घंटा बैठकर चली गई। माँबदौलत घिसटते हुए डॉक्टर की दुकान तक गए और पता चला कि बुख़ार भी है। इंजेक्शन लिया, फिर थोड़ी बदपरहेज़ी की और घर चले आए।

कॉलेज में उ...कमरे में आई थी। उसका चेहरा आज कैसा विकृत-सा लग रहा था? आपको शायद उस बात का मान है कि हम पिछले सोमवार हस्ब वायदा उनके घर क्यों नहीं गए?

और मालूम हुआ कि बख़्शी साहब अभी जालन्धर में ही तशरीफ़ फ़रमा रहे हैं। इन्सान कितनी छोटी-छोटी contradictions का बना हुआ है।

जालन्धर : 30-6-57

कल सुबह कॉलेज पहुँचने पर पता चला कि टेम्परेचर है। जल्दी-जल्दी थोड़ी दफ़्तरी कार्यवाही करके चले आए। घर आकर अम्माँ को देखकर आश्चर्य और इन्तिहा की खुशी हुई। आधा बुख़ार उतर गया। अम्माँ ने काढ़ा-आढ़ा पिलाया तो बाक़ी भी जाता रहा।

दोपहर भर लेटकर करवटें बदलते रहे। शाम को एम.ए. फाइनल की पार्टी में चले गए। प्रो. प्यारेलाल हमारे 'फ्लू' के डर से साथ ही कुर्सी पर दम साधे बैठे रहे। यह पिछले चार साल का सबसे सादा फंक्शन था। कमलाजी के गीत की प्रशंसा की गई तो वे गम्भीर हो उठीं—और बोलीं कि वे एक साल और नौकरी करके ऋषिकेश चली जाना चाहती हैं—जहाँ खड़ताल लिए हुए वे संगीत की साधना कर सकें। प्रशंसा ऐसे गम्भीर भाव से नहीं की गई थी, लेकिन कमलाजी को आजकल spinsterhood की consciousness बहुत बढ़ गई है।

घर आकर खाना खाकर लेटे—पर मन नहीं लगा तो उठकर शहर चले गए। लौटकर थके हुए थे, तुरन्त सो गए।

आज इतवार था—देर से उठे। नाश्ता खाकर प्रेम जोशी के यहाँ और वहाँ से प्रेमी के यहाँ चले गए। वहाँ पति-पत्नी में ठनी हुई थी और भाभी ने प्रेमी को वापस इन्दौर चले जाने का नोटिस दे रखा था। घंटा-डेढ़ घंटा भाभी से चख-चख की। यूँ भाभी की छूआछूत को लेकर झगड़ा खड़ा हुआ था। भाभी को एतराज़ था कि प्रेमी मेहतरानी के डिब्बे को लेकर निपटने क्यों जाते हैं—उससे उन्हें कै हो जाती है और प्रेमी को ज़िद थी कि वे वही डिब्बा लेकर जाएँगे क्योंकि यह उनके लिए सैद्धान्तिक प्रश्न है—वे साहित्य में जिस बात का समर्थन करते हैं, जीवन में भी उसका निर्वाह

करेंगे–इस बात से उनका कलेजा छिल जाता है कि वे भंगिन को अपने से हीन समझें–और इस बात पर आप रो दिए।

दोपहर को प्रेमी और उसकी पत्नी घर पर आ गए। केस अम्माँ के सामने पेश हुआ। थोड़ी देर में नरेन्द्र भी आ गया। बाक़ायदा मुक़दमे की सुनवाई हुई।

भाभी का गोल चेहरा, ज़रा दबी हुई नाक, खुले हुए ओंठ और दोनों ओर ज़रा-ज़रा सी मूँछें और माथे का अधबुझा तिलक मन्दिरों में बननेवाली रेत की मूर्तियों का स्मरण कराते थे। भाभी पाँच घंटे झींखती रहीं कि घर में कोई उनकी कद्र नहीं करता, वे सबका हित करती हैं पर सब लोग उन्हें दुश्मन समझते हैं, वे वहाँ से चली जाएँगी, क्योंकि दो महीने में उन्होंने पति को सुखी करने की बजाय दुखी ही किया है, वे अपनी छूआछूत नहीं छोड़ सकतीं और यह नहीं देख सकतीं कि नौकर उनके सामने गन्दा काम करे, या पैसा खाए या खटिया पर पड़ा रहे। प्रेमी कुलबुलाते रहे कि डिब्बे का प्रश्न सैद्धान्तिक प्रश्न है, कि बच्चे माँ की बजाय बाप के पास रहकर ज़्यादा खुश हैं, कि इन्दौर जाकर भी वे बच्चों पर झींकती रहती हैं और उन्हें पढ़ाई नहीं करने देतीं, और कि अगर नौकर न रखना हो तो वे स्वयं अपने बरतन मलने को तैयार हैं, और सब लोग भी अपने-अपने बरतन मलें। भाभी फिर बोलीं कि उनके सामने उनके घर में सहेलियाँ आएँ, यह वह क्योंकर बरदाश्त कर सकती हैं। प्रेमीजी ने यहाँ भी शास्त्रीय निर्णय दिया कि हर पुरुष को सहेली की आवश्यकता होती है, पत्नी पास न हो तो आदमी बग़ैर सहेली के नहीं रह सकता। भाभी गरज पड़ीं–और पुरुष न हो तो? हम भी सहेला रखा करें? हम तो नहीं रखतीं। हमारे लिए तो तुम्हीं एक पुरुष हो, बाक़ी सब नारी हैं। पुरुष भी नारी हैं। हम तो पतिव्रता हैं। पति का पइसा भइया किसी को खाते नहीं देख सकतीं। इनकी मरजी उन्हें रखाने की होय तो हमें क्या करना है? हमें इहाँ ते भेज देंय। हम अपने बहू-बेटा के साथ रह लेंगे–उनका भी रुख देखेंगे तभी रहेंगे–नहीं वृन्दावन में झुँपड़िया डाल लेंगे और वहीं रहेंगे। हमें का लेना-देना है उनकी घर-गिरस्ती में? हम कुछ नहीं देना है। जैसे इनसे सँभलता हो सँभालें–हमसे तो सँभलता नहीं है भइया..."

भाभी वाक्य के अन्त को हमेशा लटका देती थीं–"हमसे नहीं होता है अ...ब। जब हमारे सरीर से निकलता था तो हम निकाला अब नहीं...निकलता है..."

पाँच घंटे की चखचख का कोई परिणाम नहीं निकला।

प्रेमी के जाने पर नरेन्द्र से कल के मसले पर बात करता रहा। He has been an introvert child and has probably suffered more than myself. हम अपनी शैशव और कैशोर्य की self consciousness की बातें करते रहे। नरेन्द्र को अभी कई elementary बातों का भी नहीं पता है। उसे हैवलाक एलिस पढ़ने की सलाह दी।

घर से निकलकर कुछ देर मॉडल टाउन की सड़कों पर आवारागर्दी करते रहे। मार्केट में सड़क के किनारे बैठकर एक-एक प्याली चाय पी और घर चले आए। वीरेन्द्र व्यथित बीमार होने से अम्माँ को अपने लिए खिचड़ी बना देने को कह गया था। वही खाकर पेट अफरा लिया।

अब सोएँगे।

जालन्धर : 1-7-57

सुबह से दोपहर तक त्यागपत्र के एक दर्जन मज़मून बनाए और फाड़ दिए। दिमाग़ इतना व्याकुल हो गया कि चुपचाप सो गए। उठकर कुछ पत्र लिखे और नहाकर उ...के यहाँ चले गए। एक लड़की ने बताया कि बेबी नहा रही है। कुछ मिनट बाद न...आँखें मलती हुई आ गई। न...की आँखों में एक ख़ास कशिश है—उन आँखों में एक अजब वीरानगी-सी घिरी रहती है। उसके उड़े-उड़े बाल और चेहरे का खोया-खोया भाव भी अच्छा लगता है। वह बातें करते हुए भी, लगता है, जैसे स्टेज पर अभिनय कर रहे हों। उसकी आवाज़ में कोमलता भी है और ठहराव भी। केवल उसकी नाक ज़रूरत से ज़्यादा बड़ी है जो उसके चेहरे की shapeliness को बिगाड़ती है। आप कहीं से astrology की कोई पुस्तक लाई थीं, जिसमें इस बात का ब्यौरा था कि what sort of a wife or a husband you are—आपने अपना विवरण निकाल कर दिया और बताया कि वह सौ फ़ीसदी सही है। उसके अनुसार आप बहुत affectionate और passionate और जाने क्या-क्या हैं। The man who marries her will know better.

थोड़ी देर में उ...इलायचियाँ चबाती हुई तशरीफ़ ले आईं। आपने भी as a wife अपना जनमपत्रा खोलकर दिखाया। उनके अनुसार आप ज़्यादा आरामपसन्द तबीयत की हैं और आप इसे सौ फ़ीसदी सच मानती हैं और जीवन में चरितार्थ भी करती हैं। कुछ देर में उन्होंने हमारा भी जनमपत्रा निकाल दिया। उसके अनुसार हममें वे सब अवगुण होने चाहिए जिनसे हम नफ़रत करते हैं—अर्थात् हम उस प्रकार के आदमी हैं, जिस प्रकार के आदमी से हम बोलचाल रखना भी गंवारा नहीं करते। और न...का दावा था कि हमारे बारे में भी हर बात सोलह आने सही है। लाहौलविला कुव्वत इनका दिमाग़!

उ...ने कुछ देर 'मृगनयनी' के कुछ सवालों से परेशान किया, कुछ देर थोड़ी soft talk की, हमें पंजाबी में बात करने से मना किया, चाय की एक प्याली पिलाई और विदा किया। न...ने चलते हुए अपना वायदा दोहराया कि शीघ्र ही 'After Many A Summer' की कापी हमें भेंट देंगी।

वहाँ से टहलते हुए प्लाज़ा आए। वहाँ लोकेन्द्र मिल गया। वह as usual बम्बई के क़िस्से सुनाता रहा—अपने अब्बा, गोप और श्याम के क़िस्से। उससे पता चला

कि उसकी अम्माँ आजकल यहीं है तो इतवार सायंकाल उसके घर चलने का निश्चय किया, पर घर आकर डायरी देखने से पता चला कि उसी रात अपनी talk भी है। ख़ूब आदमी हो मियाँ!

न...को हमारी 'इन्सान के खँडहर' की कहानियाँ ज़्यादा पसन्द हैं और बाद की writings पर ज़्यादा एतमाद नहीं। तुम क्या सोचते हो, मियाँ?

जालन्धर : 2-7-57

कॉलेज जाते ही कान में भनक पड़ने लगी कि आज से छुट्टी हो रही है। फ्लू एपिडेमिक का यह एक अच्छा पक्ष भी है। डेढ़ घंटा कबीर की उलटबाँसियों में उलझने के बाद सूचना confirm हुई। स्टाफ रूम में जाकर चार लोगों को रसगुल्लों की पार्टी दी।

दोपहर करवटें बदलते हुए काटी। शाम को म...के यहाँ चले गए। आप प्रभाकर के पर्चों का बंडल बनाने में लगी थीं। माँजी ने (जो या उनकी दादी हैं या नौकरानी) जल्दी-जल्दी कमरा साफ़ किया। तभी उनके जीजाजी तशरीफ़ ले आए। सात साल बाद वे पहली बार उनके घर तशरीफ़ लाए थे। सात साल में—ब्याह के बाद से ही—उन्होंने पत्नी को मैके में छोड़ रखा था। जीजा ने बैठकर बतलाया कि वे 'आई स्पेशलिस्ट' हैं। और जगह-जगह कैम्प लगाकर आँखों का इलाज करते हैं। आपका विस्तार स्वतः एक कैम्प के नक्शे की तरह था। म...की बड़ी बहन...काफ़ी देर बैठकर गप करती रही। जीजाजी के जाने पर वह उनका क़िस्सा बताती रही। शिकंजवी के नक़द तीन गिलास गले से उतारने पड़े। यह अच्छा था कि ल...दिखाई नहीं दी। उस लड़की की शक्ल देखते ही मुझे झुँझलाहट होने लगती है। म...की सबसे बड़ी (परित्यक्ता) बहन भी काफ़ी बातें करती रही। मुटापे में वह अपने पति की सही अर्द्धांगिनी प्रतीत होती है।

म...के चेहरे में एक निश्चित आकर्षण है—उसके चेहरे में एक ख़ास कटावदार तराश है। मगर मेरे मन में आज फिर कोई जुम्बिश नहीं हुई। यदि बहुत कहने से मैं इन लोगों के घर दो-चार बार गया होता तो शायद कभी भी मेरे मन में कोई जुम्बिश न होती।

जी.टी. रोड तक म...और उसके पिता के साथ टहलते हुए आए। वहाँ से वे लोग रिक्शा में मॉडल टाउन को चल दिए—हम प्लाज़ा में जा विराजे। कुछ देर की चुहल की और सड़क पर मटरगश्ती के बाद घर चले आए।

अब समस्या है कि कल ही किस तरह पहाड़ चले जाएँ? जो अपने नाम से scheduled रेडियो टॉक्स हैं, उनका क्या होगा? यहाँ 8 तारीख़ तक के अपाइंटमेंट्स भी हैं।

कल का दिन जो अभी कबीर का पाठ घसीटना है, उसे सोचकर बहुत कोफ़्त हो रही है। अभी घंटा भर बैठूँगा।

नौकरी के सम्बन्ध में आज का फ़ैसला यह है कि अभी resign नहीं करेंगे और स्कॉलरशिप किसी और भले आदमी को हथियाने देंगे, जो शराफ़त से कुछ काम भी करे। इस निश्चय का प्रधान कारण यह है कि गर्मी की छुट्टी दस दिन पहले हो गई हैं।

जालन्धर : 4-7-57

रात को दो बजे सोये, सुबह छह बजे से पहले ही प्रो. सत्यदेव ने जगा दिया कि सैर करने आया था, सोचा आवाज़ देता चलूँ। आप तो दो मिनट में उड़नछू हो गए, बन्दे की नींद एक बार उचटी तो फिर नहीं आई।

अभी-अभी भाई रामकृष्ण तशरीफ़ लाए। आगे से कहीं गोल हो गए हैं। आप आध्यात्मिक जीव हैं। कभी हमारे पास पढ़ते थे। अक्सर इनके क्लास फैलो इनसे कीर्तन कराया करते थे और आप कीर्तन करते-करते बेहोश हो जाते थे। कुछ बामनी गीत भी अभिनय के साथ सुनाया करते थे। क्लास में प्रेमचन्द पर लेक्चर हो रहा हो तो ये उसमें से भी कुछ-न-कुछ आध्यात्मिक तत्त्व ढूँढ़ निकालते थे। अक्सर डिस्कशन करने पर तशरीफ़ ले आते थे। ज़रा-ज़रा सी बात पर ज़िन्दगी भर के प्रण उठा लेते थे। पढ़ने के नाम पर डिब्बा गोल था। कुछ पढ़ने-लिखने को कहा जाए तो चार दिन से ज़्यादा की मोहलत नहीं माँगते थे—छह पेपर तैयार करने के लिए। छह लेख एक दिन में लिख लाने को कह जाते थे, मगर करते कुछ नहीं थे। अपने हर व्यक्तिगत मामले में परामर्श लेने आते थे। एक बार यह परामर्श लेने आए कि ब्याह कर लें या नहीं। क़िस्सा आपने यह सुनाया कि पहली बीवी को आपने ज़रा ज़्यादा पीट दिया था, सो वह कुएँ में छलाँग मारकर मर गई। अब उसकी छोटी बहन के लिए रिश्ता आ रहा है। आप बोले, "सोचता हूँ, दूसरी जगह से यहीं अच्छा रहेगा। जाने-पहचाने हुए लोग हैं, हम उनके जाने-पहचाने हुए हैं, इसलिए असुविधा नहीं होगी। अपरिचित लोगों में कई बार दिक़्क़त हो जाती है। आपकी क्या राय है?"

और फिर आप रोज़ ही आने लगे—यह पूछने आए थे कि आज दूसरे पीरियड में दस मिनट पहले उठकर चला आऊँ कि नहीं आऊँ? यह पूछने आए थे कि बिहारी की पहले आलोचना पढ़ूँ कि टेक्स्ट पढ़ूँ?

ख़ैर, आपने शादी कर डाली। हाज़रियाँ कम हो गईं। फिर रोज़ सपत्नीक आने लगे।...सोचा, माताजी से मिलवाऊँ...सोचा, देख आऊँ कि घर पर हैं या नहीं।

हाज़रियाँ इतनी कम थीं कि 'कन्डोन' नहीं हो सकीं। आपने बन्दे के ख़िलाफ़ प्रिंसिपल को लिखा। प्रिंसिपल के ख़िलाफ़ वाइस चान्सलर को लिखा। वाइस चान्सलर के ख़िलाफ़ चौधरी लहरीसिंह को लिखा। चौधरी लहरीसिंह की व्यक्तिगत सिफ़ारिश भी आप ले आए। फिर भी काम नहीं बना तो आपने निन्दा campaign आरम्भ

किया। फिर भी काम नहीं बना तो आपने स्तुति campaign आरम्भ किया। फिर भी कुछ नहीं हुआ तो आपने आध्यात्मिकता की शरण ली। अन्ततः आपको क्लास अटेन्ड करके लेक्चर पूरे करने पड़े।

आज आप आए कि...दर्शन करने आए हैं। हमेशा की तरह हाथ मलते हुए बताते रहे कि डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के स्कूल में मास्टर हैं, ज़मीन पर कोआपरेटिव फार्मिंग के अन्तर्गत ट्यूबवेल लगवाने की सोच रहे हैं। आप बात ऐसे करते हैं जैसे किसी चीज़ का अदालत में एक्सप्लेनेशन दे रहे हों। चलते हुए आपने बताया कि आपको सत्यदेवजी से पता चला है कि हम आज अमृतसर जा रहे हैं—वहाँ एम.पी. कपूर हैं, उनके पास चौथा पर्चा है, उनकी पत्नी ने परीक्षा दी है—यदि हो सके तो...।

यह बताने पर कि बन्दे से यह नहीं हो सकता, आप बोले, "तो ठीक है, कोई बात नहीं। इतनी गर्मी में खुद जाऊँगा, पैसे भी ख़र्च करूँगा, उससे अच्छा है कि फिर पैसे भर के वह अगली बार परीक्षा दे दे। थोड़ा ख़र्च ज़्यादा तो पड़ेगा, पर जाने-आने की मुसीबत से तो अच्छा है।"

और आपने कुर्सी से उठते हुए नमस्कार किया। दरवाज़े की ओर चलते हुए नमस्कार किया और दरवाज़े से निकलकर फिर नमस्कार किया।

इस गर्मी की दोपहर में अब अमृतसर तक की यात्रा—हे दीनबन्धो!

जालन्धर : 6-7-57

इस कड़ाके के गर्मी में जीना मुहाल है। दिन-भर सिरदर्द रहता है, जिस्म फुंसियों से भर गया है और सोचने-समझने की शक्ति बिलकुल जवाब दे गई है।

परसों अमृतसर जाते-जाते बस के दो घंटे के सफ़र में भुर्ता हो गया। खिड़कियों से आती हुई लू तन-बदन को झुलस देती थी। यही गनीमत थी कि सलामत पहुँच गए।

नानी के घर में नानाजी का अभाव ज़्यादा नहीं अखरा। ऐसे ही लगा जैसे एक चारपाई कमरे से हटा दी गई हो। नानी ने उनके आख़िरी दिन की जो दास्तान सुनाई उसमें भी वेदना नहीं थी। नानी हमेशा की तरह कच्छे और दोपट्टे में ही बैठी थी—उसकी हड्डियाँ आगे से ज़्यादा निकल आई हैं। भोला को भी जैसे घुन लग गया है। बीर अपनी बीमारी के बावज़ूद सुन्दर लग रही थी। इस नौ बरस की बच्ची का भविष्य क्या होगा?

नानी के यहाँ से नहा-धोकर तायाजी के यहाँ गए। बड़ी झाई ने कोई उत्साह नहीं दिखाया। महेन्द्रो बूआ ने बल्कि प्यार से बात की। विमला की आँखें उस दिन बड़ी suggestive हो रही थीं।

ब्याह का प्रबन्ध कृष्ण कन्या महाविद्यालय के भवन में था। वहाँ जाते ही माँ को–अर्थात् अपनी दादी को–देखा। अँधेरे कमरे में वह मट्ठियाँ गिना रही थी। माँ ने भी देखा। शायद तेरह-चौदह बरस हो गए थे एक-दूसरे को देखे हुए। बढ़कर माँ के पैर पकड़ लिए। रुलाई फूट पड़ी। माँ ने छाती से लगा लिया। वह भी रोने लगी। बड़ी देर में रुलाई शान्त हुई। अकेले माँ से कहा कि वह घर आकर रहे। माँ ने कहा कि वह दो-तीन महीने में मथुरा होकर आएगी। माँ पहले से बहुत बूढ़ी हो गई है। उसकी कमर में ज़रा-सा खम प्रतीत होता है और उसकी आवाज़ ज़रा-ज़रा काँपने लगी है। फिर भी उसका शासिका का भाव वही है। वह आज भी शासन करती है। माँ के सामने मैंने अपने को अपराधी अनुभव किया। सच, माँ पास रहती तो हमारे जीवन का रूप बहुत भिन्न होता। इस माँ ने ज़िन्दगी में कितना कुछ सहा है–कितना कुछ...! साधारण स्त्री टूट जाती मगर माँ नहीं टूटी। वह अदम्य शक्ति थी–जीवन में सही मार्ग मिलता तो वह बहुत कुछ निर्माण कर सकती थी। She is the type of a woman who could have run a country. She has the stamina, the confidence, the tact. माँ की तब की झुँझलाहट को मैं आज समझ सकता हूँ। तब नहीं समझता था। माँ ने रुककर, हज़ार मुसीबत सहकर भी, अपने को नवाया नहीं। One can be proud of her inheritance. माँ ने कोई गिला नहीं किया। हँसकर बोली, "मेरी सेवा करने के लिए मेरे पास आया है।"

मोटा किशन बहुत मोटा हो गया है और किसी के आशीर्वाद से दिन-ब-दिन मोटा होता जा रहा है। उसकी पत्नी कमलेश, बारह बरस की लड़की की माँ होकर भी अच्छी लगती है।

माया मौसी मिलते ही गिले-शिकवे करने लगी। उससे कुछ खुली बात हुई। मौसी ने सब पुरानी बातें खोल दीं। उसे अपनी बात बताई। मौसी हँसती रही, रोती रही, गुस्सा करती रही, दोषारोपण करती रही, डिफेंस देती रही और प्यार देती रही। सब को बुला-बुलाकर कहती रही–देख लो, कितने बरसों के बाद मिला है। नदीदे, लेना देना कुछ नहीं, मिल तो लिया करता।...मौसी यह सुनने को तैयार नहीं हुई कि मिलना उन्हीं की तरफ़ से बन्द हुआ था–"सब कसूर तेरा है," मौसी कहती रही, "कहता है तुम लोगों का कसूर है–ज़रा इसकी बात सुनो। सुन रही हो बहन, सुन रही है न, कहता है हम लोगों का कसूर है...कसूर है, हाँ, हम लोगों का कसूर है–हमारा पेट जो है। कसूर हमारा नहीं तो किसका है?"

और मामा मौसी को कोस रहे थे। वही इधर-उधर आ-जा रही थी, आदेश दे रही थी, चीज़ें रखवा रही थी, और सबको कोस रही थी, "आप हैं यहाँ बैठने के लिए। हाथ न हिल जाए। मैला हो जाएगा। बैठे हैं। तमाशा हो रहा है, देख रहे हैं। मैं इनकी चाकर हूँ। जिधर जाय, मौसी, जी काम कर, मौसी। ये सेठ-साहूकार हुक्म दे रहे हैं। वे सेठ-साहूकारियाँ गप्पें हाँक रहे हैं।"

कितने ही व्यक्ति बरसों के बाद मिले। रामजी की वह हँसी नहीं सुन पड़ी। पर उनकी बातों का विश्वास और वह युक्ति ज्यों-की-त्यों थी। ताया जी उनकी बातें सुन रहे थे और कुढ़ रहे थे। रामजी हिन्दू विवाह पद्धति की वैज्ञानिकता बता रहे थे– खट्टे में मीठे की घोंट लगाई जाय तो मीठा चल पड़ता है–पर ठीक घोंट लगे। उसके लिए चार चीज़ें आवश्यक हैं–जन्म...समय। विवाह में भी यही क्रम है। एक व्यक्ति घड़ा लेकर खड़ा होता है–यह जन्म आवश्यक है क्योंकि इस समय, गोत्र परिवर्तन के समय विद्युत का प्रवाह होता है–जल विद्युत को समा लेता है। नहीं तो क्रंट लग सकता है–" इत्यादि। शास्त्रीजी उनकी युक्तिपरकता का आँखों से गम्भीर समर्थन कर रहे थे। राम जी आँखों से दूसरों पर हो रही प्रतिक्रिया का जायज़ा भी लेते जा रहे थे।

एक कोने में दीवान लेटा था। परिवार का निष्कासित जुआरी, जो हर ज़रूरत के मौक़े पर मेहनत के काम करने के लिए बुला लिया जाता है। दीवान हमेशा की तरह बोला, "मैं अगले महीने तेरे पास जालन्धर आऊँगा। माँ नहीं मिली?...वह दिन याद है जब कहता था माँ मुझसे यह कहती है? दीवान तेरी मदद के लिए तब भी था, अब भी हैं। तू अपना बेटा है।...अब तो माँ कुछ नहीं कहती?"

और वह खाँसने लगा। उसे भी सारी दुनिया की तरह फ्लू हो रहा था। दीवान की दाढ़ी की सफ़ेदी के अतिरिक्त उसमें और कोई ख़ास परिवर्तन नहीं था। वही उसकी वेषभूषा थी, वही बोलचाल, वही ज़िन्दगी।

"आजकल काम क्या करते हो?" मैंने पूछा।

"वही खट्टे छोले लगाता हूँ।"

"और?"

"और..." और वह हँसा, "और काम मेरे करने के नहीं हैं–जिन कामों की वज़ह से घर-बार से निकाले हुए हैं।"

दीवान कभी कविता भी किया करता था। नमकमंडी चौक में बड़े-बड़े मजमों में वह कविता सुनाता था–"सिर लिश्कदा बाटे दे बूट वांगू...अर्ज़ किया है..."

"तुम्हारी कविता का क्या हाल है?

"वह अच्छे ज़माने की बात थी। आजकल साली कविता सूझती है?"

एक और व्यक्ति जो बहुत प्यार से मिला, वह था लालचन्द दलाल–तारो का पति। देखते ही आकर साथ लिपट गया और रोने लगा, "बेटे तू मिल गया तो मेरा यार करमचन्द मिल गया। उसे किन आँखों से रोऊँ? किस ज़बान से उसके गुण गाऊँ?...वह मेरा यार था। वह मेरा प्राण था।"

लालचन्द भी दुबला हो रहा था। चेहरा मांस कम हो जाने से पहले से नुकीला हो गया है। ठुड्डी नीचे को ज़्यादा निकल आई है। ऊपर का भाग चौकोर-सा हो गया है। बातों-बातों में लालचन्द की भाव-भंगिमा और उसके स्वर का उतार-चढ़ाव देखने

योग्य था। लालचन्द एक अच्छा एक्टर हो सकता था। आज चौंसठ साल की उम्र में भी उसकी बातों में बहुत जीवन था, "पहले भी लड़की ब्याही जाती थी, पहले भी दहेज जाता था—पर दोनों घरों को एक दूसरे का लिहाज़ होता था, ख़्याल होता था। पहले भी समधी लिहाज़ नहीं करता था...पर वह आरी चलाता था। कुछ बूर इधर गिरता था, कुछ बूर उधर गिरता था—मगर अब—अब चलाते हैं ऐसा...काटो और अपनी तरफ़, काटो और अपनी तरफ़। ब्याह रह गया है? यह डकैती है डकैती...सरासर डकैती।...सरकस में एक आदमी जान मुट्ठी में लेकर ऊँची तार पर चलता है...गिर जाए तो हड्डियाँ टूट जाएँ। पर नीचे खड़ा जोकर मुँह बना देता है कि कुछ नहीं। यही हाल यहाँ है। लड़की वाला साला रस्सी पर नाच करता है और लड़के वाला मुँह बिचकाए जाता है कि कुछ नहीं। और हम लोग अब भी साले, मुँह खोलकर तमाशा देखते हैं"...सहसा भाव बदल गया, चेहरा चढ़ गया और बात पूरी हुई..."धिक्कार है बाबूजी। धिक्कार है हम सबको, धिक्कार है इस समय को। हम लोग कोई इन्सान हैं..."

7-7-57

रात लिखते-लिखते राजेन्द्रपाल आ गया था। वह कुछ देर बच्चों की तरह बातें करके चला गया।

...लालचन्द को तब हमारे घर में लालू कहा करते थे। वह पिताजी के उन दोस्तों में से था, जिनके साथ उनका जवानी के दिनों का उठना-बैठना था, खाना-पीना था। लालचन्द तरह-तरह से पिताजी की प्रशंसा करता रहा—"स्वामी ने कहा हमारे साथ खाता-पीता क्यों नहीं? आसव पी लेता है तो इसमें क्या डर है?...आसव तू समझता है? अंगूर का रस निकालकर बनाते हैं...मगर नहीं। करमचन्द बस हँसता रहा। दोनों का बोलचाल बन्द हो गया। साल भर दोनों नहीं बोले।"

साल भर नहीं, दस साल तक उनका बोलचाल बन्द रहा, यह वह भूल चुका था।

रात भर ब्याह की हलचल रही। आधी रात तक जागकर अपने फ़र्ज़ सरअंजाम दिए। अच्छी कवायद हुई। संस्कार के अवसर पर तायाजी और किशन ने ख़ामख़ाह कुछ शह भर दी। पंडित पर गर्म हो गए। इस लड़के को तायाजी की शह ने ख़ासा बददिमाग़ बना दिया है। यह न जाने अपने को क्या समझने लगा है?...परिवार का जीनियस। हीरो। यही इस लड़के के जीवन की ट्रेजेडी है। छोटे-मोटे काम की ओर इसकी अभिरुचि ही नहीं होती—ये लोग न जाने इतने secretive क्यों हैं? तायाजी, ताई, किशन और कैलाश चारों एक जैसे हैं। विमला और शकुन्तला कुछ भिन्न हैं।

तायाजी रुपया ख़र्च करने के मुकाम पर इस तरह संकोचपूर्ण व्यवहार करते रहे कि सभी को बुरा लगा। ब्याह पर इतना सब ख़र्च हुआ—दस-बीस रुपए में क्या हो जाता?

रात को चार बजे के बाद तायाजी के घर जाकर सोए। सबेरे उठकर ननिहाल चले गए और साढ़े आठ बजे तक फिर तैयार होकर आ गए। डोली साढ़े ग्यारह बजे हुई। इसी समय चलकर जालन्धर आ गए। आते हुए फिर माँ से घर आकर रहने का अनुरोध किया।

दो बजे जालन्धर पहुँचे। प्लाज़ा से खाना खाकर घर आ गए। साढ़े तीन के क़रीब र...आई। उसकी वेशभूषा चमत्कृत कर देनेवाली थी। नीली साटन की फूलदार कमीज़ और सफ़ेद इंग्लिश जाली का दोपट्टा। साढ़े पाँच के करीब वह चली गई। वह 1 तारीख़ को मद्रास चली जाएगी। उसका अजब हठ था कि हम उसके जाने के बाद ही जालन्धर से जाएँ।

शाम को प्रेम जोशी मॉडल टाउन मार्केट में मिल गया और प्लाज़ा चले गए। काँगड़ावाले के ढाबे से खाना खाकर घर चले आए। पिछली रात की नींद बाक़ी थी, यूँ भी शरीर शिथिल हो रहा था, इसलिए जल्दी सो गए। वीरेन्द्र व्यथित के घर की चाबी खो गई थी, वह भी यहीं सोया।

सबेरे आठ बजे अम्माँ अमृतसर से आ गईं और उन्होंने बेड टी देकर उठाया। दोपहर तक शिथिल रहे। आसन में खारिश की बहुत तकलीफ़ थी। अम्माँ ने पाउडर-आउडर लगा दिया। माँ को एक चिट्ठी भी लिखी–अम्माँ से भी लिखाई। फिर ख...के यहाँ चले गए। वहीं चाय पी और छह बजे के क़रीब चले आए। घर आने पर नरेन्द्र आ गया। वह स्वर्ण को अश्क के पास डलहौज़ी ले जाने के लिए गाँव से ले आया था। उसे अपनी राय बताई। नरेन्द्र का मन डाँवाडोल हो गया। उसके जाने के बाद मार्केट में घूमकर घर आकर खाना खा लिया और देर तक डायरी लिखते रहे। राजेन्द्र पॉल के जाने के बाद ही सो गए।

जालन्धर : 8-7-57

कल सुबह उठते ही 'टाक' लिखने का भूत सवार हुआ। दोपहर भर बैठकर 'टाक' लिखी। प्रेमी और मोती आ गए। बियर शॉप के लिए निकले तो सत्यपाल आनन्द और रवीन्द्र कालिया रिक्शा में आते दिखाई दिए। वे अपनी तरफ़ ही आ रहे थे। प्रेमी एंड पार्टी को छोड़कर उनके साथ लौट आए। आनन्द के साथ रस्मी क़िस्म की साहित्यिक गुफ़्तगू हुई। उसे साथ बियर शॉप ले गए। Writer's co-operative की चर्चा हुई। डेढ़ घंटा बैठकर बियर शॉप से उठ गए और उन लोगों से विदा लेकर प्लाज़ा आ गए। साढ़े सात बजे लोकेन्द्र आ गया और उसके साथ उसके घर चले गए–खाना वहीं था। काफ़ी पुरतक़ल्लुफ़ खाना बना था। खाने के बाद लोकेन्द्र की अम्माँ के दर्शन किए। बहुत ही सौम्य आकृति है उनकी। देखकर ही लगता है उन्होंने बहुत-बहुत कष्ट सहे हैं। 'टाक' के लिए रेडियो स्टेशन पहुँचने की जल्दी थी, इसलिए ज़्यादा देर उनके पास

नहीं बैठ सके। पैदल रेडियो स्टेशन की तरफ़ चले—कोई रिक्शा नहीं मिला। ठंडी खुली और एकान्त सड़क बहुत सुहानी लग रही थी। टप-टप हमारे जूतों की आवाज़ हो रही थी। 'टाक' का वक़्त होता जा रहा था। ख़ूब तेज़ चले—पर रेडियो स्टेशन अभी एक मील और था। एक साइकिल वाले से रिक्वेस्ट करके उसके कैरियर पर बैठ गए और किसी तरह 'टाक' से पाँच मिनट पहले रेडियो स्टेशन पहुँचे। प्रेमी नर्वस हो रहा था। 'टाक' के बाद प्रेमी और मोती को बियर शॉप ले गए और काफ़ी देर से लौटे। रात को देर तक गर्मी की वजह से नींद नहीं आई।

आज सुबह ही कोच्छड़ ने जगा दिया। उसे गाली देते हुए उठे। नहाकर कॉलेज जाने का निश्चय किया—resignation के सिलसिले में प्रिंसिपल से बात करने। प्रिंसिपल के सामने अपनी demands फिर रखीं। उसने demands से सहमति प्रकट करते हुए resignation press न करने के लिए कहा।

कॉलेज से लौटने पर मोती घर आया हुआ था। उसके जाने के बाद आनन्द और कालिया आ गए और पाँच बजे तक रहे। कल की तरह ही गुफ़्तगू होती रही। आनन्द में अभी कैशोर्य बाक़ी है।

"मेरी सूरत कुछ-कुछ धर्मवीर भारती से मिलती है!" आपने एक सवाल पूछा।

"क़दरे मिलती है," मैंने जवाब दिया।

"मुझे बहुत लोगों ने ऐसा कहा है।"

फिर वह अपनी पढ़ी हुई किताबों की फ़ेहरिस्त सुनाता रहा। टैगोर ने boy in puberty का जैसा ज़िक्र किया है—साहित्यिक दृष्टि से सत्यपाल आनन्द की कुछ वैसी ही स्थिति है।

सत्यपाल और कालिया के जाने के कुछ देर बाद ही उ...आ गई। वह दो घंटे रही। इस दौरान उसके कई सवाल हल किए। लड़की अपनी स्मार्टनेस के बावज़ूद बहुत भोली है, जैसे अक्सर पहाड़ी लड़कियाँ होती हैं। उसके फीचर्स पर और उसकी movements पर कश्मीर का काफ़ी असर दिखाई देता है।

कल रात छावनी से रेडियो स्टेशन की तरफ़ आते हुए फिर वीणा की याद ताज़ा हो आई थी।

उ...के जाने के बाद पता चला कि वीरेन्द्र बाहर आकर बैठा रहा है। उस शख़्स ने भी अच्छी बेतकल्लुफ़ी अख़्तियार कर रखी है।

शाम को नहाकर डॉक्टर मदान के यहाँ चले गए और वहाँ से प्रेमी के यहाँ—फिर घूमते हुए लौट आए।

कल शीला का पत्र आया है कि नीत की तबीयत ख़राब है। उस नन्हें के लिए मन बहुत उदास होता है। क्या करें आख़िर?

जालन्धर : 9-7-57

सुबह-सुबह बारिश ने बाहर से खदेड़ दिया। बरामदे में आ लेटे पर नींद नहीं आई। जल्दी ही उठकर नाश्ता कर लिया। अख़बार लेकर बैठे थे कि ज्ञानचन्द भाटिया तथा चार और आदमी चन्दाग्रहण मिशन पर पहुँच गए। ग्यारह रुपए देकर निस्तार पाया।

मदान के दिमाग़ से हर चीज़ दो ख़ानों में विभक्त हो जाती है—अच्छी और बुरी, और वह हर चीज़ के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया की घोषणा ऐसे विश्वास के साथ करते हैं जैसे दूसरा मत हो ही न सकता हो।

खोसला ज़्यादा दुखी था। उससे उठा नहीं जा रहा था। किसी तरह उठना हुआ, घर पहुँचे।

आज कई दिनों के बाद ठंडी तेज़ हवा चली है। मेंढकों की आवाज़ें फिर वातावरण में फैल रही हैं। मेंढक मुझे कितने जघन्य लगते हैं—यह स्वर उतना ही आकर्षक लगता है। न जाने क्यों?

जालन्धर : 11-7-57

कल सुबह से दस तक पंजाबी मुहावरे के अनुसार 'चाइयाँ माइयाँ' डालते रहे। दस बजे घर से निकले। कुछ देर नरेन्द्र के साथ प्लाज़ा में बैठे। फिर बाज़ार जाकर रजाई और दुलाई का कपड़ा खरीदकर शर्मा को बनवाने के लिए दिया। एक रेनकोट और होलडाल भी लाए। पहाड़ जाने की मानसिक तैयारी हो चुकी थी। दो बजे घर लौटकर आए। कौशल्या भाभी का पत्र मिला, जिसमें उन चीज़ों की लम्बी सूची थी, जो वे चाहती थीं कि मैं साथ डलहौज़ी लेता आऊँ। लिस्ट पढ़ते ही फ्लैट हो गए। ध्यान आया कि अगर ये सब चीज़ें साथ ले जानी हों तो अपना पहाड़ जाना सम्भव नहीं है। मतलब डलहौज़ी जाना सम्भव नहीं है। भाभी को पत्र लिख दिया कि लिस्ट देखकर अपने देवता कूच कर गए हैं—डलहौज़ी नहीं आ रहे।

शाम को प्लाज़ा में नरेन्द्र से बात हुई। उसने कहा कि मैं न जाऊँ तो वह स्वर्ण के हाथ सब चीज़ें भेज देगा। उससे आज निश्चित बात करने के लिए कहा।

मदन मिला। उससे दि...के बारे में बातचीत हुई। उसे बताया कि उसे क्या रवैया अख़्तियार करना चाहिए। पूरी घटना का भी उसे परिचय दिया।

प्लाज़ा से ख...के यहाँ चले गए। डेढ़ घंटा इधर-उधर की बातें होने पर खाना आया। खाने में फिर वही तकल्लुफ़ था—जिसका परिहार करने के लिए मैंने खाना खाने का इरादा प्रकट किया था। उसकी कुर्सी पर लगभग सभी उपनिषद् पड़े थे। आजकल उपनिषदों का अध्ययन हो रहा है। आसपास की सभी तस्वीरें, जिनमें स्त्री-पुरुष के युगल चित्र हैं, या उत्कंठारत प्रतीक्षा करनेवाली नारियों के चित्र हैं, एक

ख़ास मानसिक स्थिति का पता देती हैं—एक अधूरी वासना का। अपनी बढ़ती हुई उम्र की consciousness उसे भी बहुत है। अपने को youngish बनाने की चेष्टा भी स्पष्ट थी। उससे आत्महत्या के इरादे की बात सुनकर बड़ा अजब लगा। देर तक उससे बातें कीं—ज़िन्दगी की उपयोगिता के बारे में—प्राप्ति और वासना की निरर्थकता के बारे में—व्यक्तित्व के महत्त्व के बारे में।

जिस समय चले, पौने ग्यारह बज चुके थे। बाहर सुनसान सड़क पर पहुँचकर बहुत अजब लगा। इतनी देर तक बैठे रहना शायद उचित नहीं था। पर—खाना जो इतनी देर से लाया गया था।

रिक्शावाला बहुत धार्मिक आदमी मिला। जीवन की नश्वरता और भवितव्यता के बारे में क़िस्से सुनाता रहा।

घर आकर उमस के मारे बाहर ही रहे, कमरे में नहीं आए। सोने की चेष्टा की, पर नींद नहीं आई। आधी रात को कमरे में आ गए। पंखा छोड़कर फिर सोना चाहा, पर नहीं सोया जा सका। लिहाज़ा इसी तरह सुबह हो गई और उठ बैठे।

जालन्धर : रात्रि 11-7-57

सुबह दस बजे प्लाज़ा पहुँचे। नरेन्द्र से मिलकर निश्चय किया कि डलहौज़ी चले ही जाएँ। ज़्यादा बोर हुए तो चार-छह रोज़ में भाग आएँगे।

वहाँ से रेडियो स्टेशन चले गए। तीन बजे तक मुश्किल से डिस्कशन रिकार्ड हुई। आते हुए शर्मा के यहाँ से रज़ाई ले आए। नरेन्द्र और स्वर्ण घर पर आए थे। सुबह कश्मीर मेल से जाना तय किया। उनके जाने के बाद सो गए। उठकर नहाकर डॉक्टर के यहाँ गए। उसे टाँगों पर निकले हुए धक्कड़ दिखाए। डॉक्टर से दवाई की चिट लेकर शहर गए और दवाई ले आए। पेन और कुछ स्टेशनरी ख़रीदी। घर आकर पता चला कि ड्राई क्लीनर के यहाँ से कपड़े नहीं आए तो लौटकर कपड़े लाने गए। आकर बिस्तर बाँधने लगे तो पेटियाँ छोटी निकलीं। बिस्तर बाँधते हुए बेहाल हो गए। किसी तरह अब सामान तैयार हुआ है। रात के साढ़े बारह बज चुके हैं। सबेरे तीन बजे उठकर फिर तैयार होना होगा। जाने नींद आएगी भी या नहीं। उम्मीद तो नहीं। यह भी डर है कि कल जाते ही अश्क दम्पत्ति से लड़ाई न हो जाए।

बहरहाल, जालन्धर से तो निकलेंगे।

डलहौज़ी : 14-7-57

11 की रात को नहीं के बराबर सो पाए। यह चिन्ता सवार थी कि गाड़ी मिस न हो जाए। सवा-तीन साढ़े-तीन बजे उठ गए और चाय की प्याली पीकर रिक्शा लाने निकल पड़े। गली के कुत्तों को शायद ग़लतफ़हमी हुई कि यह शरीफ़ आदमी

नहीं, कोई चोर उचक्का है। भौंक-भौंककर तबीयत परेशान कर दी। मार्केट में चक्कर लगाए पर कोई रिक्शा दिखाई नहीं दिया। गुरुद्वारे से रिक्शा लाए। अम्माँ ने बड़े प्यार से विदा किया...अम्माँ की वत्सलता के सामने अपना आप कितना Crude, कितना भद्दा प्रतीत होता है?

स्टेशन पर पहुँचकर बहुत प्रतीक्षा की, पर नरेन्द्र और स्वर्ण दिखाई नहीं दिए। आख़िर गाड़ी के वक़्त पर टिकट लिया और गाड़ी में सवार हो गए। पठानकोट तक ऊँघते आए। पठानकोट से कुछ फल खरीदे और बस में सवार हो गए। दुनेरा तक पहुँचते-पहुँचते दिमाग़ की गर्मी निकल गई। दुनेरा पठानकोट से अट्ठाईस मील और डलहौज़ी से बाईस मील के फ़ासले पर 2220 फुट की ऊँचाई पर है। दुनेरा में दोनों तरफ़ की गाड़ियाँ आकर गेट के इधर-उधर रुक जाती हैं। ग्यारह बजे गेट खुलता है तो गाड़ियाँ छूटती हैं। वहाँ डाकख़ाने में बुड्ढे और बहरे डाक बाबू के कानों में चिल्ला-चिल्लाकर डलहौज़ी तार दिया। इस उम्र का आदमी सरकारी नौकरी में किस तरह बहाल है, समझ नहीं आया...वहाँ एक घटिया-सी शॉप की बेंच पर बैठकर चाय पी। चाय पीते हुए कई साल पहले की बात याद आई। वहीं दुनेरा में ही एक बुड्ढे व्यक्ति से मुलाक़ात हुई थी, जिसने बताया था कि उसने नई कार ख़रीदी थी मगर उसके दोस्तों ने उसकी कार का इतना नाजायज़ फ़ायदा उठाया कि आख़िर उसने कार बेच दी। जो भी मिलता, कहता, भइया ज़रा पठानकोट तक तो छोड़ आना, ज़रा डलहौज़ी तक यह बिस्तर तो ले जाना। कोई रास्ता चलते रोककर एक टोकरी सेब उसमें लाद देता, कोई अपनी बहू और भौजी के निढाल शरीर बस से उतारकर कार में भर देता। वह अपने उन सब दोस्तों को गालियाँ देता रहा। थोड़ी देर में गेट खुला, एक बस डलहौज़ी की तरफ़ से आई, उसके चेहरे पर खुशी की लहर दौड़ गई, आँखें मटकाकर कि चलो पठानकोट तक जाने का सामान हो गया, कार की तरफ़ भागा और बाँह देकर उसे रोककर उसमें सवार हो गया। उसके दोस्तों ने उसे अच्छा सबक सिखा दिया था। मेरे चेहरे पर मुस्कराहट फैल गई।

गेट खुल गया और ड्राइवर ने हॉर्न बजा दिया। बस डलहौज़ी की तरफ़ रवाना हुई। बनीखेत से दो दुबली-छरहरी छोकरियाँ बस में सवार हो गईं, जिनकी अंग्रेज़ी ने सब लोगों की बातचीत बन्द करा दी। जो सफ़र में उलटे हो रहे थे, वे भी सीधे हो गए। वैलून के स्टॉप के पास सिर से पैर तक लाल कपड़ों में मलबूम एक ख़ूबसूरत लड़की अख़बार पढ़ती दिखाई दी—जैसे बस स्टॉप बस स्टॉप न होकर समुद्र तट या हैंगिंग गार्डन हो। डलहौज़ी के अड्डे पर कौशल्या जी मिलीं। चेहरे से ज़ाहिर था कि ख़ासी नाराज़ हैं। रास्ता चलते हुए बातचीत शुरू हो गई। गिला उन्हें बेहद था। घर पहुँचने पर अश्कजी का गिला आरम्भ हो गया। उन्होंने एक खत भी लिख रखा था, जिसका मज़मून ज़बानी सुनाया गया। थोड़ी देर में बात रफ़ा-दफ़ा हो गई।

अश्क के पास सेठी नामक एक आर्टिस्ट आया हुआ था। चौकोर चेहरा, खाओ पियो, मौज करो वाला भाव—और मध्यवर्गीय fastidiousness, "Oh, those places," आप ज़रा निचले दर्जे के घरों की बात करते हुए बोले, "I cannot imagine how one can put up there. It is simply impossible!"

दोपहर के खाने के बाद घूमने निकल गए। कुछ चीज़ें ख़रीदीं। कुछ पुराने लोग मिले। शाम को चाय के बाद फिर घूमने निकल गए—कौशल्या भाभी से शीला के बारे में बातें होती रहीं।

रात को अश्क और कौशल्या भाभी 'दीवाने गालिब' की ग़ज़लें गाते रहे। जहाँ भाभी की आवाज़ सुर में होती, वहाँ अश्क भी साथ अपनी आवाज़ मिलाकर उसे बेसुरा बना देते थे।

रात को ख़ूब ज़ोर की बारिश हुई। तेरह को सुबह ही नरेन्द्र का तार मिला कि स्वर्ण दोपहर की बस से पहुँच रही है। बेलून से कुछ चीज़ें ख़रीदने के इरादे से भाभी के साथ निकले। हरबंस बेरी के घर गए तो पता चला कि वह बस स्टॉप पर अपनी बीवी को लाने गया है। बस स्टॉप पर गए तो वही लाल कपड़ोंवाली लड़की बदस्तूर अपनी जगह पर अख़बार पढ़ती दिखाई दी। पता चला कि वह प्रसिद्ध जनरल मर्चेंट डी. पी. खन्ना के संचालकों की कोई बहन-वहन है। उसका भाई दीक्षित पहले सड़क पर मिल चुका था। बस स्टॉप पर एक बस खड़ी थी। स्वर्ण भी उस बस में थी। बेरी की बीवी नरेन्द्र भी। स्वर्ण को बस में आगे भेज दिया, क्योंकि अश्क डलहौज़ी के अड्डे पर इन्तज़ार कर रहे थे। हरबंस बेरी से दो-अढ़ाई बजे इन्तज़ार करने का कहकर मिलिट्री अस्पताल को जानेवाली सड़क पर चल दिए। पहले समझ नहीं आया कि भाभी क्यों अस्पताल की तरफ़ जाना चाहती हैं। वे बेरी के साथ एक दिन बैलून के जंगल एरिया में अकेली जाने की बात भी कह रही थीं। रास्ता चलते-चलते हल्की-हल्की बूँदें पड़ने लगीं। भाभी का चेहरा बहुत भावुकतापूर्ण हो उठा था। उन्होंने बताया कि उनके पिता की वहाँ पर मृत्यु हुई थी—वे मिलिट्री अस्पताल में डॉक्टर थे। वे अस्पताल देखना भी चाहती हैं—और फिर बेरी के साथ एक दिन वहाँ का श्मशान देखने जाएँगी। अश्क को वे उस सम्बन्ध में नहीं बताना चाहती थीं कि उन्हें दुख न हो।

वर्षा की वजह से एक जगह कुछ देर रुकना पड़ा। फिर चले तो एक मोड़ से मिलिट्री अस्पताल की बिल्डिंग दिखाई देने लगी। भाभी वहीं रुककर रोने लगीं। उन्हें किसी तरह सान्त्वना दी और वापस चले।

बेरी के घर पहुँचकर बैठक में जा बैठे। बैठक बहुत सुन्दर लगी। वह खुला हुआ बरामदा है जो घाटी के ऊपर पड़ता है। अपना शिमले का स्टडी रूम याद आया जो लगभग ऐसा ही था। वहाँ चाय की प्याली रखकर इधर-उधर की बातें होती रहीं।

बेरी के मेहमान भी थे–मिस्टर और मिसेज़ भवनानी। बारिश बहुत ही ज़ोर की होने लगी। काफ़ी देर वहाँ रुकना पड़ा। बेरी बहुत witty आदमी है। कई बार बहुत पुरलुत्फ़ बातें करता है। उसकी पत्नी नरेन्द्र (नरिन्दर) अपने विरले दाँतों के बावजूद सुन्दर लगती है। उसकी हँसी से चमन की बीवी सन्तोष की याद आ जाती है। वहाँ कुछ चित्रों के प्रिन्ट्स लगे थे। सोहनी-महीवाल के एक चित्र की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए बेरी क़िस्सा सोहनी-महीवाल की पंक्तियाँ सुनाता रहा। बारिश थम जाने पर वहाँ से उठे। मिस्टर भवनानी तथा उसकी भारी-भरकम पत्नी पहले ही सोने जा चुके थे। बेरी से विदा लेकर चले आए।

भूख महसूस हो रही थी, इसलिए टी शॉप की discovery की। अंडे, आमलेट कुछ नहीं मिला तो हलवाई की दुकान से जलेबियाँ और सेवइयाँ मँगवा लीं। चाय पीकर निकले तो फिर वही लड़की दिखाई दी। इस बार उसकी बड़ी और छोटी बहन (सम्भवतः) उसके साथ थीं। बड़ी बहन उतनी सुन्दर नहीं थी, क़द छोटा था और उसकी ठोड़ी आगे को निकली हुई थी। पर उसके चेहरे पर sobriety ज़्यादा थी। वह लड़की ख़ूबसूरत तो थी पर लगता था जैसे केवल animal level पर ही जीनेवाली है। वे फिर बस स्टॉप पर जाकर उसी तरह सड़क की मुँडेर पर बैठ गईं।

कुछ क्राकरी वगैरह ख़रीदकर वापस चल दिए। फिर शीला की बातें होती रहीं। I know that I cannot pass even a day with her. भाभी ने बताया कि बिसारिया उसका पक्ष लेकर मेरी निन्दा करता रहा है। I know where that man feels pinched. I can just laught it out.

घर आने पर बारिश और तेज़ हो गई। काफ़ी देर की गपशप के बाद खाना खाया और माल का एक चक्कर लगाकर लेट गए, नौकर दौलतराम भी अपने कमरे में था क्योंकि स्वर्ण के आ जाने से बन्दे की चारपाई ड्राइंगरूम में आ गई थी। दौलतराम को खाँसी हो रही थी। वह रात भर खाँसता रहा और अपने को ज़रा देर नींद नहीं आई।

आज सुबह उठने पर जिस्म शिथिल हो रहा था। नाश्ते के बाद अश्क के उपन्यास 'पत्थर-अल-पत्थर' की पांडुलिपि पढ़ डाली। दस-ग्यारह पृष्ठ कल पढ़े थे। खाने के पहले उपन्यास पढ़कर समाप्त किया और अश्क को अपने सुझाव दिए। खाने के बाद माल पर निकल पड़े। सड़क पर जगह-जगह रेंगते हुए snails के कारण बहुत अर्चकचाहट हुई। कई और पुराने चेहरे और बाबूसिंह हलवाई आदि मिले। भाभी ने डॉक्टर से इंजेक्शन लिया और कुछ मिठाई आदि लेकर लौट आए।

अश्क ने प्रबोध और उसकी मिसेज़ आदर्श को चाय पर बुला रखा था। थोड़ी देर में वे पति-पत्नी आ गए। वे लोग अपने एक्स मिनिस्टराना अन्दाज़ में बातें करते रहे। धीरे-धीरे प्रबोध एक हिन्दी कन्वेंशन के मसले पर आ गए। कुछ सुझाव दिए। विशेष

बातचीत के लिए कल का दिन तय किया। कल इस सिलसिले में उनके यहाँ खाना खाने जाएँगे। कैरों के बारे में जो बातें सुनी जाती हैं, प्रबोध ने भी उनका समर्थन किया। वह सरदार की आन्तरिक corruption के क़िस्से सुनाता रहा। अश्क अपनी और अपने नाटकों की प्रशंसा करते रहे, भाभी चाय की प्यालियाँ बनाती रहीं और बन्दा तटस्थ भाव से हर मसले पर theorise करता रहा। जाते हुए अश्क ने उन्हें अपनी किताबें का सेट भेंट किया। उसकी चर्चा उनके आते ही आरम्भ हो गई थी।

प्रबोध और उसकी मिसेज़ के जाने के बाद अश्क और मैं घूमने निकल गए। थोड़ी दूर जाते ही बेदी और मिसेज़ बेदी मिल गए। उन्हें घर भेजकर स्वयं चक्कर पर निकल गए। प्रबोध की स्कीम की टीका-टिप्पणी होती रही। एक-दो जगह अश्क के प्राकृतिक सौन्दर्य प्रेम ने जोश मारा। रास्ता चलते लोगों को रोककर उन्होंने घाटी में दिखाई देते हुए दरियाओं के नाम पूछे। वे थे व्यास, चक्की और रावी। चेयरिंग क्रॉस पर कृष्णा वडेरा मिल गई। उससे वे बातें करके ठंडी सड़क से चल दिए। रास्ते में प्रोमिल मिली, अपनी अम्माँ के साथ। अश्क प्रकाशन के सम्बन्ध में तथा पुस्तकों के प्रचार के सम्बन्ध में अपने नुस्खे बताते रहे। डाकख़ाने के चौक में बेदी मिल गया। वहाँ से चले तो अश्क जान-बूझकर सामने से आती हुई एक महिला से point blank range पर जा भिड़े। महिला ने ख़ून-आलदा नज़रों से देखा। अश्क ने ठहाका लगाया। सामने से आती हुई कौशल्याजी ने मातृत्व गर्व के साथ दृष्टि उन पर डाली और सबकी ओर देखकर मुस्कुराई। सब लोगों ने वहाँ गोलगप्पे खाए और घर आकर कॉफ़ी पी। कॉफ़ी पीते हुए लतीफ़ाबाज़ी होती रही। बेदी ने एक अच्छा लतीफ़ा सुनाया–एक सरदार जी ड्राइंग रूम में कच्छा पहने और पगड़ी बाँधे बैठे थे। किसी ने पूछा कि वे केवल कच्छे में क्यों बैठे हैं, कोई आ जाय तो? तो बोले कि अपना घर है, आराम से खुले हुए बैठे हैं, ख़ामख़ाह बँधकर क्यों बैठें? पूछनेवाले ने फिर पूछा कि पगड़ी क्यों बाँधे हैं तो बोले, कि क्या पता कोई आ ही जाय।

अश्क ने भी कई पुराने घिसे-पिटे लतीफ़े सुना दिए, उन लोगों के चलने पर उन्हें छोड़ने के इरादे से फिर निकल पड़े और मोटर स्टैंड की तरफ़ उतरनेवाली सड़क तक छोड़ आए।

खाने के बाद थकावट हो रही थी, फिर भी डायरी निकाल ली और जुट गए। अब जब कि घर के सब जीव सो रहे हैं; केवल अपनी ही जान को जागने और लिखने का रोग लगा है।

डलहौज़ी : 15-7-57

रात ख़ूब मजे की नींद आई। सुबह उठकर अम्माँ को चिट्ठी लिखी। घूमने जाने की तैयारी में थे कि मिसेज़ शास्त्री भाभी से मिलने या किराया उगाहने आ गईं।

बाज़ार जाना स्थगित हो गया। साढ़े ग्यारह पौने बारह बजे प्रबोध के यहाँ गए। वहाँ और विस्तार से बात हुई–प्रादेशिक साहित्य समारोह के आयोजन का निश्चय हुआ।

16-7-57

रात सख़्त नींद आई–कुछ लिखना-लिखाना नहीं हुआ।

प्रबोध बहुत धीमी आवाज़ में बात करता है। साहित्य समारोह या हिन्दी से उस शख़्स को दूर से भी मतलब नहीं हो सकता। यह स्पष्ट है कि वह आदमी कोई राजनीतिक चाल चलना चाहता है। उसका मुद्दआ शायद कैरों को थोड़ा disgrace करके स्वयं popularity हासिल करने का है। हिन्दी आन्दोलन की आड़ लेकर वह अपने लिए एक ख़ास स्थिति हासिल करना चाहता है।

उसकी बीवी बड़ी बनावटी मुस्कुराहट मुस्कुराती है, जैसे अपने से छोटों से बात कर रही हो।

कल बाद दोपहर घूमने निकल गए और चेयरिंग क्रॉस में बेंचों पर बैठकर पकौड़े खाए और चाय पी। वहीं शेव भी कराई। लोगों को अपनी शराफ़त पर ख़ासा सन्देह हुआ।

घर आते हुए कृष्णा वडेरा और उसका देवर मिल गया। वे साथ घर आए। चाय से पहले अश्क कृष्णा से मज़ाक करते रहे। फिर बेरी और उसकी बीवी आए। अश्क का प्रकृति प्रेम जागा और वह सबको बुला-बुलाकर सूर्यास्त में चमकती बर्फ़ दिखाने लगे। कृष्णा चली तो उसे छोड़ने चेयरिंग क्रॉस तक चला गया। वह अपनी उदासी और अकेलेपन का ज़िक्र करने लगी। जब-जब पाल की बात हुई, वह सहसा ख़ामोश हो गई। उसके डलहौज़ी में तीन महीने बिताने के कार्यक्रम का उस episode के साथ ही शायद कुछ सम्बन्ध है।

कृष्णा पास से देखने पर ज़्यादा अच्छी लगती है। उसमें sophistication काफ़ी है। वह जिस तरह एकान्त ज़िन्दगी काट रही है, उससे सहानुभूति होती है। वह अगर बुज़दिल न होती तो इस सबसे न गुज़रता। पाल उसे अपनाने के लिए कितना उत्सुक रहा है।

कृष्णा को छोड़कर तेज़ क़दमों से घर आया। खाने के बाद फिर थोड़ी दूर टहलने निकल गए। लौटकर सो गए।

आज सुबह ही भाभी की तबीयत ख़राब हो गई। भाभी का हृदय कितना सम्पूर्ण है, पर वे ज़रा-ज़रा-सी बात पर चिड़चिड़ा जाती हैं, वे दूसरों को कब क्या करना चाहिए, इस सम्बन्ध में अपना एक कोड रखती हैं और जब दूसरा उस कोड के अनुसार व्यवहार नहीं करता तो ख़ामोश रूप से नाराज़ हो जाती हैं।

नौकर के साथ जाकर सब्जी लाए, नहाए, खाना खाया और सो गए। घूमने निकल गए। लोअर सर्कल में घूमते हुए अश्क भाभी की आलोचना करते रहे कि "She harrasses me terribly. I have to fight to find time to do every bit of writing. She wants to bind me down to her own writing."

चेयरिंग क्रॉस पर कृष्णा और उसके देवर मिल गए। वे साथ-साथ चक्कर पर आए। अश्क फ़िल्म कम्पनी के क़िस्से सुनाते रहे। हम कृष्णा को वापस चेयरिंग क्रॉस तक छोड़ आए। वह फिर अपनी boredom की बातें करती रही।

घर लौटने पर भाभी हमारी रज़ाई पर खोल चढ़ा रही थीं। खाने के बाद अश्क से 'पत्थर अल पत्थर' के बारे में बहस होने लगी। उस पुस्तक में ख़ामख़ाह की टूरिस्ट डिटेल भरकर उसे बड़ा किया गया है। मगर अश्क अपना डिफ़ेंस देते रहे कि irrelevant matter is tolerable in a novel. बाद में अश्क खीझकर ridicule करने पर उतर आए। ताव में हमने भी दो-एक उल्टी-सीधी कह दीं। एक ठहाके के साथ सभा विसर्जित हुई।

डलहौज़ी : 17-7-57

रात ठीक नींद नहीं आई, इसलिए सुबह दिमाग़ काफ़ी उलझा। तबीयत भी ख़ामख़ाह उदास थी। नाश्ते के बाद तक भारीपन छाया रहा। नाश्ते के बाद सतधारा और पंजपुला की तरफ़ जाने का निश्चय हुआ, टोकरी में आम लेकर छड़ी से पीठ पर लटकाए चल दिए। गुरदासपुर से उमा का पत्र आने से, जिसमें उसने लिखा था कि वह अपनी माँ के साथ ही सात दिन के लिए आ सकती है, अश्क बहुत उदास हो गए थे। रास्ता भर कोई ख़ास बातचीत नहीं हुई। सतधारा को देखकर बहुत निराश हुई—सात पानी की टूटियाँ और उनमें से भी चलती हुई एक ही। पंजपुला अलबत्ता अच्छी जगह लगी। पहले भी एक बार मैं यहाँ हो गया था। पंजपुला के झरने के पत्थरों पर बैठकर आम खाए, सिगरेट पिया और लौट पड़े।

घर आकर खाना खाने के बाद अश्क सो गए। भाभी माया के क़िस्से और अपने दुःखों की दास्तान सुनाती रहीं। "I say I am a fool, yes, I know I am a fool. Those whom I love, for them I can do anything, I say, anything. You can believe me, because you understand me. Fool I am, but one should make me do things through love. Love and affection. If one has love for me, I can give my life for him, yes, my life. Such a fool I am. But if one does not love me why should I do anything for him? I will not do. Because I am so sensitive. You understand me. I should have been very happy I say, if I were not so sensitive. But how can I help it? I am what I am, and I am not sorry for it. Because I am not evil at heart, I tell you. I tell you, there is a way of getting things done by me. One should only know. The fool that I am, I can sacrifice any comfort for anybody."

चाय के बाद भाभी को साथ लेकर डॉक्टर घई के गए...भाभी को इंजेक्शन लेना था। डॉक्टर के आने से पहले भी भाभी उमा की चिट्ठी, माया की प्रवृत्ति और अपनी पन्द्रह वर्ष की ज़िन्दगी की बातें करती रहीं।

अश्क माया के पंजमनी आने का तथा अन्य क़िस्से सुनाते रहे। उनसे पुष्पा और उषा के सम्बन्ध में बात हुई। अश्क की उषा के सम्बन्ध में राय काफ़ी अच्छी प्रतीत हुई। काफ़ी देर तक ज़िन्दगी की राज़दारी की बातें होती रहीं।

खाने के बाद टहलने निकल गए। सुनसान सड़कों पर टहलना बहुत अच्छा लगता है, ख़ासकर रात को। अश्क और कौशल्या जी से कल जालन्धर जाने के सम्बन्ध में कहा था। चाहता हूँ कल जाऊँ...तीन-चार दिन वहाँ रहकर...वहाँ के काम पूरे करके फिर वापस चला आऊँ।

डलहौज़ी, प्रातः–18-7-57

इन्सान स्वप्न क्यों देखता है?

मैं अभी-अभी देख रहा था...एक पुस्तक मुझे चाहिए, उसे ढूँढ़ने की चेष्टा में मैं एक विद्यालय में जाता हूँ...वहाँ शंकरदेव, राधारमण और एक और आदमी (शायद राय जी) ये तीन बुज़ुर्ग ताश खेल रहे हैं और बहुत अश्लील बातें कर रहे हैं। (शंकर देव और राधारमण को मैंने 15 बरस से नहीं देखा।) राधारमण के चेहरे को देखकर मैं सोचने लगा कि यह शख़्स अब तक ही वैसा क्यों है? अभी बुड्ढा क्यों नहीं हुआ।

और मैं एक तंग ज़ीने से उतरता हूँ, जो आगे जाकर बहुत ढालू हो जाता है। जीने को सहारा देनेवाली लकड़ियों में मैं खोजता हूँ कि कौन-सी लकड़ियाँ हमवार नहीं हैं। फिर आगे से निराश होकर मैं पीछे को लौटता हूँ। ऊपर जाने के लिए मैं टाँगें ऊपर किए हुए यन्त्रचालित-सी पीछे से किसी शक्ति से (या अपनी ही शक्ति से) धकेला जाता हूँ। ऊपर वही मंडली जमी है। मैं फिर सोचता हूँ कि राधारमण अभी बुड्ढा क्यों नहीं हुआ? कुछ पुस्तकें मुझे दी जाती हैं। फिर मैं एक कक्षा में पढ़ाने चला जाता हूँ। साथ की कक्षा में एक फंक्शन है। मुझे ध्यान आता है कि हलवाइयों का और निमन्त्रण पत्रों का प्रबन्ध करना है। पढ़ाते-पढ़ाते क्लास छोड़ देनी पड़ती है। साथ की कक्षा का फंक्शन आरम्भ हो रहा है। कोई चिल्लाता है..."शनिवार को पाँच बजे सब लड़के आकर फार्म भर जाएँ।" मेरा मन नहीं करता। फिर भी मैं कर्त्तव्य पालन के लिए कहता हूँ, "हाँ पाँच बजे, शनिवार को। नहीं साढ़े पाँच बजे, शनिवार को।" कोई दोहरा देता है, "साढ़े पाँच बजे शनिवार को।"

और जब मेरी नींद खुलती है तो मैं अपने को यह सोचते हुए पाता हूँ कि There can be no faith without reason. Where there is little reason, there is enough faith; where there is enough reason there is little faith. Where there is all reason, there is no faith. यह बात 'आहार-निद्रा-भय-मैथुनानि' को लेकर मन में उठी थी।

आज पहली बार यहाँ औरों से पहले जागा हूँ। बाहर वह चिड़िया बोल रही है जिसकी आवाज़ शिमला में मुझे बहुत मधुर लगती थी। कस्तूरा नाम है इसका शायद। एक पहाड़ी कौआ रह-रहकर बोल उठता है...काय-काय-काय-काय-काय।

दोपहर

चाय के वक़्त भाभी का चेहरा उतरा हुआ था—शायद इसलिए कि रात को देर तक, शायद अढ़ाई बजे तक, अश्क उनसे सिर की मालिश कराते रहे। भाभी अपनी बीमारी की वजह से वैसे ही चिड़चिड़ी हो रही हैं। जब वे नाराज़ होती हैं तो उनके होंठ बँध जाते हैं, भवों पर तनाव आ जाता है, चेहरे की लकीरें गहरी हो जाती हैं, और वे बुढ़िया लगने लगती हैं। उनका must और must not का एक विधिवत् कोड है, जिससे ज़रा भी कोई digression हो तो वे बहुत कुढ़ जाती हैं, पर etiquette की demands उन्हें साफ़-साफ़ कुढ़ने नहीं देतीं, इसलिए वे अन्दर-अन्दर कुढ़ती हैं, उनका expression तराशे हुए पत्थर का-सा हो जाता है और वे बात करना लगभग बन्द कर देती हैं। अगर वे कोई polite सी बात formal ढंग से कहती भी हैं तो लगता है, सौ मन के पत्थर के नीचे से बोल रही हैं, और पास बैठा हुआ आदमी भी गहरे बोझ से नीचे दबने लगता है।

अश्क भी उमा के पत्र की वज़ह से परेशान थे। नाश्ते से पहले ही उन्होंने तीसरा version लिखा, जो डेढ़-दो घंटे में पूरा हुआ। इन दोनों की परेशानी से अपना मन हो रहा था कि तुरन्त घर छोड़कर भाग जाएँ।

स्वर्ण की भी अजीब परिस्थिति है। उसे अपना आप awkward भी लगता है, भाभी के standard पर वह पूरी उतर नहीं पाती, पर...इस वातावरण और खानपान का लोभ भी वह नहीं छोड़ सकती। किसी क्षण उसे लगता है कि उसे जालन्धर चली जाना चाहिए, पर दूसरे क्षण लगता है कि नहीं जाना चाहिए। घर से वह दिन भर सबसे लगभग cut off सी रहती है। मैंने पहले ही नरेन्द्र से कहा था कि उसे उस परिस्थिति से गुज़रना पड़ेगा।

नाश्ते के बाद अश्क और मैं ऊपर टहलने निकल गए। बैंक से निकलकर मैंने सुझाव दिया कि चन्द मिनट कृष्णा के यहाँ चलकर बैठा जाए। कृष्णा की बालकनी मुझे बहुत अच्छी लगी। घाटी के ऊपर बनी हुई बालकनी मुझे हमेशा बहुत आकृष्ट करती है। घर में सामान-आमान कुछ नहीं था। एक नन्हीं चारपाई, चार साधारण कुर्सियाँ (जिन पर भाभी के कटाक्ष मैं पहले सुन चुका था), एक मेज़, जिस पर खादी का प्रिंटिड मेज़पोश बिछा था। कृष्णा पीछे के कमरे से निकलकर आई। वह नाइट सूट और स्वेटर पहने थी। उस ड्रेस की वजह से वह अधिक छोटी और मेकअप न होने के कारण ज़्यादा अच्छी लग रही थी। बालकनी की दीवार पर

उसके चार छह कोट लटक रहे थे। लगता था, वह अपने साथ यही कुछ सामान लेकर आई है।

"मैं भी आपकी आदत लेकर देर से नहाने लगी हूँ," कहती हुई वह आकर बिना किसी संकोच या तकल्लुफ़ के बैठ गई। मैंने उसके bohemian flat की प्रशंसा की। अश्क भाभी की fastidiousness के क़िस्से सुनाने लगे।

"Down there I am also fastidious."

वह बोली, "पर यहाँ आकर मैंने अपने को खुला छोड़ दिया है, बस..."

"Which is your natural self—this or that?" मैंने कहा।

"You guess which is."

"I can guess all right but I'd better not tell."

अश्क के क़िस्से चलते रहे...कान्तिचन्द्र सोनरिक्सा और भगवती प्रसाद वाजपेयी के episodes. कौशल्या जी के तौलिए, साबुन, लंच टाइम, डिनर टाइम, places for things, कौशल्या जी के fastidious—मामाजी की बीवी...देर तक हँसते-हँसाते रहे।

"यह सब होने पर भी वह बहुत भोली है and I love her!"

चलते हुए मैंने कृष्णा से अपनी गुंडई टोपी के बारे में पूछा कि कैसी लगती है तो उसने flat कर दिया।

"I wear it only with one purpose," I said, "and that is to look a little villainish."

"Your face is too innocent for that," उसने कहा।

मैंने हँसते हुए thanks कहा और वह दरवाज़ा बन्द करके अन्दर चली गई।

मुझे आज पहली बार एहसास हुआ कि पाल इस लड़की को इतना क्यों चाहता रहा है।

घर आने पर भाभी का चेहरा पहले से कहीं सख़्त हो रहा था। लंच खाते समय वातावरण में बहुत स्ट्रेन रहा। खाना खाकर उठने लगे तो उन्होंने मुझसे पूछा, "उधर निचले चक्कर पर घूमने चले गए थे?"

"नहीं," मैंने कहा।

"बैंक से सीधे ही चले आए हो?"

"नहीं," मैंने कहा।

"तो कहाँ गए थे?"

"थोड़ी देर कृष्णा के यहाँ बैठे रहे थे," मैंने कहा।

भाभी का चेहरा और भी सख़्त हो गया।

अश्क चुपचाप अपना तख़्ता और काग़ज़ लेकर बरामदे में चले गए और काम

करने लगे। मैं ढलान के मोड़ पर कुर्सी ले आया और घाटी के सिरे पर बैठकर 'Desiree' पढ़ने लगा। फिर अख़बार और डायरी उठा लाया।

मीलों में फैली हुई घाटी यहाँ से बहुत ख़ूबसूरत लगती है। टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियाँ और जहाँ-तहाँ बिखरे हुए घर जैसे घाटी को सजीव बना देते हैं। हवा चीड़ों और देवदारों में भरभरा रही है। मेरे पैरों के नीचे मरे हुए पत्तों का ढेर फड़फड़ा रहा है। मुझसे बहुत नीचे, परन्तु घाटी के समतल से बहुत ऊपर वहीं बीच में बादल तैर रहे हैं। अभी थोड़ी देर पहले सड़क पर 'होइ हो' की आवाज़ें सुनाई दे रही थीं। रात एक तार का खम्भा गिर गया था, जिसे फिर से खड़ा किया जा रहा था। बेलचों से ज़मीन पर चोटें पड़ रही थीं। चार आदमियों की 'होई हो', 'होई हो' लगातार चल रही थी। एक आदमी दूसरे से कह रहा था, "ज़ोर लगा, और लगा भैण के, तू ब्राह्मण नहीं है, राजपूत है, राजपूत, राजपूत नहीं—यूँ ढीला-ढीला मत रह..."

और पास से गुजरती हुई लड़कियाँ हँस रही थीं।

पहाड़ का वातावरण बहुत रूमानी है। इन्सान पूरे abandon के साथ अपने को खुला छोड़ दे तो इस रूमान के हर स्पन्दन का सही अनुभव कर सकता है। लगता है शाम बंसरियों की आवाज़ के साथ आसमान से उतरेगी और सारी फिज़ा में और तंग कोठरियों में बादल-ही-बादल भर जाएँगे और हर चीज़ में एक सिहरन फैल जाएगी।

हवा तेज़ हो रही है, मन होता है कि डाइनिंग टेबल पर बैठकर दूर की snow covered peaks को देखते हुए चाय पी जाए, पर...

भाभी चेहरा सख़्त किए न जाने कुछ बुन रही हैं, या सो रही हैं या सिर्फ़ कुढ़ रही हैं...जब तक भाभी का मूड ठीक नहीं होता, चाय ख़ाक पी जाएगी!

कस्तूरा फिर बोल रही है, ज़मीन से मीठी-मीठी बास उठ रही है, आसपास छोटे-छोटे काले कीड़े मँडरा रहे हैं, पत्तियों पर ऐसी आवाज़ हो रही है, जैसे हल्की-हल्की बूँदें पड़ रही हों...पत्तियाँ भी वैसी आवाज़ करती हैं—लेकिन बूँदें हैं कहाँ? मुझ पर तो एक भी बूँद नहीं पड़ती।

रात

भाभी को खुश होते भी देर नहीं लगती। चाय पीते हुए दो-एक इधर-उधर की बातों से ही उनका मूड बदल गया, और उन्होंने फ़ैसला कर लिया कि वे रात को अपने हाथ से रोटी बनाकर खिलाएँगी। उनके कहने पर उनके साथ जाकर सब्जी ले आए। भाभी की उदारता के अक्षय भंडार खुल गए।

सैर करने निकलने पर पहले सेठी परिवार मिल गया, फिर कृष्णा और उसका देवर। वे लोग तेज़ चलकर आगे निकल गए। कुछ देर बाद फिर एक हवाघर में बैठे हुए मिले और हमारे साथ चलने लगे। चेयरिंग क्रॉस पर सोमेश मिल गया। सबको

छोड़कर उसके साथ अकेले गप एक्सचेंज में चले गए। वहाँ अपने judicial separation के केस की बात होती रही। तय हुआ कि गुरदासपुर से केस किया जाए...जिस दिन मैं जालन्धर से लौटूँ उस दिन सोमेश मुझे पठानकोट में मिल जाएगा।

छोटे चक्कर से होकर आए। आते हुए रणजीत चेयरिंग क्रॉस से साथ हो लिया। रणजीत ने भी मणि महेश की यात्रा की सलाह दी। पहले बेदी ने भी कहा था। रास्ते में भाभी और स्वर्ण मिल गईं। घर आकर भाभी ने सचमुच खाना आप बनाया। खाना ज़्यादा खाया गया इसलिए भाभी बहुत प्रसन्न हो गईं।

घंटा भर बरामदे में टहलते रहे। कुछ लतीफे हुए, कुछ ज़िन्दगी के लतीफ़ेनुमा क़िस्से सुने-सुनाए गए, कुछ मोटी-मोटी गालियाँ उच्चरित की गईं, लोक निन्दा हुई, अश्क ने अपनी पुस्तकें लोकप्रिय बनाने के अपने method पर प्रकाश डाला और ultimately कॉफ़ी पीकर सोने के लिए चले आए।

मगर आँखों में ज़रा भी नींद नहीं है। इसलिए और बकवास लिखने की बजाय 'Desiree' ही पढ़ा जाए।

कल जालन्धर जाना लगभग निश्चित है। लगता है, लौटने में एक सप्ताह से कम नहीं लगेगा।

जालन्धर : 19-7-57

आज डलहौज़ी से यहाँ पहुँच गए। सुबह सोमेश बस के अड्डे पर छोड़ गया था। न जाने किस ज़माने की दकियानूसी बस थी। हर एक मिनट के बाद पेट्रोल का धुआँ सारी बस में भर जाता था। दुनेरा तक पहुँचते-पहुँचते दम घुटने लगा। वहाँ बाहर निकलकर किसी तरह दम-में-दम आया। दुनेरा से पठानकोट तक ज़्यादा परेशानी नहीं हुई।

सुबह नाश्ता करते हुए ही राजेन्द्र यादव का पत्र मिला था। पढ़कर तबीयत ख़ामख़ाह परेशान हो गई। आप chivalry दिखाने पर उतरे हैं। शीलाजी से आपको सहानुभूति है। लिखते हैं, क्यों उस बेचारी इतनी अच्छी लड़की का सत्यानाश कर रहा है? साले—हर मामले में तीसमारखाँ बनते हैं। जिस शख़्स की अपनी और उसके बच्चे की ज़िन्दगी stake पर है उससे ज़्यादा आप इस मसले को समझते हैं?

पठानकोट तक पहुँचते-पहुँचते तबीयत कुछ बहाल हुई। कश्मीर मेल चींटी की चाल चलती हुई और अपने 'मेल' होने पर लानत भेजती हुई किसी तरह जालन्धर पहुँची। रास्ते में interest की चीज़ थी दूर-दूर फैली हुई हरियाली, घासपत्तों और वृक्षों के रूप में, जिसने ख़ाकी का एक चप्पा भी नहीं छोड़ा था, और कम्पार्टमेंट में बैठी हुई कसरती सरदारनी, जो अपनी विगत ख़ूबसूरती के गुमान पर अपने पति को ख़ूब डाँट-फटकार रही थी...

जालन्धर स्टेशन पर पहुँचकर एहसास हुआ कि घर पहुँच गए हैं। टुन-टुन-टुन-टुन करते रिक्शा में घर आ गए। अम्माँ से मिलकर अपना आप भर गया। कल से चार-छह दिन दुनियादारी के धन्धे करने होंगे।

जालन्धर : 20-7-57

सुबह देर से उठे और जब नहा-धोकर तैयार हुए कि बैठकर लिखें तो ध्यान आया कि घर में काग़ज़ ही नहीं है।

बड़ा धर्म-संकट पैदा हो गया। धूप और उमस घर से निकलने की इजाज़त नहीं देती थी, और जल्दी जालन्धर से छुटकारा पाने के लिए काग़ज़ लाना आवश्यक था। किसी तरह मन मारकर निकल पड़े। रिक्शा अभी-अभी मॉडन टाउन की हद्द से निकला ही था कि मन हो आया कि रेडियो स्टेशन होते चलें। रिक्शा उधर मोड़ दिया। प्रेमी हस्बमामूल कुर्सी पर टाँगें रखे बैठे मिले। यार लोगों ने कुछ इस तरह से दुआ-सलाम की जैसे बरसों बिछुड़े रहने के बाद मिल रहे हों।

प्रेमी ने 'नये बादल' पर डॉ. मदान के रेडियो रिव्यू की एक कॉपी दी। हालाँकि उसमें अपनी प्रशंसा-ही-प्रशंसा थी, पर–संग्रह की तीनों अच्छी कहानियों–'मंदी', 'मलबे का मालिक' और 'उसकी रोटी' में से एक का भी उल्लेख नहीं था। दोनों टाइप शुदा पृष्ठ ज़ेब में डाले और वहाँ से चल दिए।

हीरा गेट से काग़ज़ खरीदते हुए बियर पीने को मन हो आया। कुंडली में धनराशि नहीं मिली। प्रेमी हिन्दी भवन से दस रुपए उधार पकड़ लाए, और चार बजे तक दोनों आदमी चार-चार गिलास चढ़ा गए। बियर पीते हुए प्रेमी को अक्सर रोने का मूड सवार हो जाता है। आज अश्क की चर्चा करते हुए ही रो दिए। उन्हें इस बात का सख़्त गिला है कि अश्क ने उन्हें अपना गुरु तसलीम नहीं किया–हालाँकि उन्होंने अश्क को खड़ा करने के लिए इतना कुछ किया था।

बियर ज़्यादा नहीं पी थी, फिर भी अपने दिमाग़ में चढ़ गई।

शाम तक सोये रहे। नहाकर प्लाज़ा की तरफ़ चले तो प्रेमी सपत्नीक उसी बस में आ सवार हुए। लड़की कन्धे पर थी। उस समय बेचारे बहुत ही भद्रमूर्ति, बिलकुल गोवंशी से लग रहे थे। प्रेमी जब भाभी के साथ बाज़ार में चलते हैं तो लगता है, कोई शहीद फाँसी पर लटकने के लिए जा रहा है। उस समय वे मिलनेवाले की तरफ़ इस भाव देखते हैं जैसे कह रहे हों कि भाई, याद रखना, अभी जान से जाने का इरादा तो नहीं था, मगर क्या किया जाए...

पुअर प्रेमी!

एक घंटे की सड़क-सवारी और रेस्तराँबाज़ी के बाद घर चले आए।

तय है कि डलहौज़ी जाएँगे तो होटल में अलग फ्लैट लेकर रहेंगे। साथ रहने

में सौ तरह की सुविधा है, मगर लिखने-पढ़ने के लिए मन में जो उन्मुक्तता चाहिए, वह नहीं आ पाती। भाभी ने अपने मन में रहने खाने के 'कोड' को लेकर एक निश्चित फ्रेम बना रखा है। जितने दिन वहाँ रहे, उस फ्रेम में अपने को फिट करने का भरसक प्रयत्न करते रहे, मगर कोई-न-कोई नोक या कोना उस फ्रेम से बाहर चला ही जाता। भाभी को उतने के लिए भी कोफ़्त होती। अपने को भी कोफ़्त होती। भाभी यह बात क़तई भूल जाती हैं कि बन्दा उनका अज़ीज़ ही नहीं, एक लिखने-पढ़ने का शौक रखनेवाला इन्सान भी है। यह बात उनकी समझ में ही नहीं आती कि जो बात उन्हें ठीक लगती है, वह दूसरे को ठीक क्यों नहीं लगती? उनकी नज़र में इन्सान रोज़ गिरते-चढ़ते रहते हैं। जो उनकी रुचि के अनुकूल व्यवहार करता प्रतीत हो, वह नज़र में चढ़ जाता है, जो न हो, वह गिर जाता है। हर नए दिन नई व्यवस्था होती है। अश्क कभी-कभी उस फ्रेम में छटपटाते हैं, फिर अपने कोने समेट लेते हैं। वे बार-बार यह कहकर सन्तोष कर लेते हैं कि जो कुछ कौशल्या करती है, वह मैं पहले से मन में प्लान करके स्वयं उससे कराता हूँ—वह भोली यह समझती है कि मैं उसकी इच्छा के अनुसार चल रहा हूँ, जबकि वास्तव में मैं उसे अपनी इच्छानुसार चलाता हूँ। किसी स्थिति का कोई परिणाम हो, उन्हें लगता है कि यह तो उन्होंने पहले ही सोच रखा था। जो हो जाता है, उसका होना सोच रखा था और जो नहीं होता, उसका न होना सोच रखा था। गोया कि कुछ नहीं होता जो उन्होंने पहले न सोच रखा हो। फिर न जाने क्यों वे इस तरह दुःखी होते और छटपटाते हैं। मैंने आज जो उन्हें लिखा है कि मैं अलग फ्लैट में रहूँगा, वे ज़रूर कहेंगे कि यह भी उन्होंने पहले ही सोच रखा था, और कौशल्या से कह दिया था कि राकेश आएगा तो अब यहाँ नहीं रहेगा। कहते हुए उनके ओंठों पर एक 'सेल्फ कम्पलीमेंटरी' मुस्कुराहट आ जाएगी...

तब मैं यह चाहूँगा कि यह डायरी का पन्ना उनके सामने कर दूँ।

जालन्धर : 21-7-57

दिन भर 'मिट्टी के रंग' शीर्षक कहानी को रद्दोबदल करके टाइप किया—मगर तसल्ली नहीं हुई।

नरेन्द्र अब अपनी आर्थिक समस्या से परेशान है। अपने मध्यवर्गीय संस्कारों से वह अभी तक मुक्त नहीं हो पाया—मुक्त होना आसान भी कहाँ है? मगर अपने और भाइयों से वह कितना भिन्न है? शायद अपने सारे परिवार में वह अकेला ही है, जिसमें इतनी humility है।

शीला को मैंने कितना समझाने का प्रयत्न किया था? वैवाहिक प्रक्रिया को छोड़कर हम लोगों के सम्बन्ध का और कोई भी तो आधार नहीं है! वह आत्मतुष्ट

भाव से जी लेती है, इसलिए उसे शायद यह समझ ही नहीं आता कि इस विवाह ने मुझे इतना अस्थिर और असन्तुलित क्यों कर दिया?...काश कि उस लड़की ने मुझे वह fateful पत्र न लिखा होता।

जब भी इस विषय में सोचने लगता हूँ, मन बहुत अशान्त हो जाता है। मगर जीवन भर इस अशान्ति को ढोए जाने से क्या होगा? निर्णय होना ही चाहिए। शारीरिक रूप में हमारा सम्बन्ध नाममात्र को ही रहा है। दो वर्ष से वह भी नहीं। मानसिक सम्बन्ध मेरी ओर से कभी भी नहीं बन पाया। फिर विच्छेद के लिए तो कानूनी कार्यवाही के अतिरिक्त कुछ भी अपेक्ष्य नहीं है।...मगर बच्चे के साथ तो शरीर, मन, और आत्मा का सम्बन्ध तोड़े से नहीं टूट सकता। अश्क ने कहा था, "गैट मैरिड, प्रोड्यूस टू मोर चिल्डरेन एंड फोरगेट एबाउट इट!" यदि इस बात पर अमल करना इतना ही आसान होता!

...मगर एक बात ठीक है। मन के अनिश्चित रहने से किसी का भी उपकार नहीं होगा—न उसका, न अपना, न बच्चे का। निश्चय करना आवश्यक है, बहुत आवश्यक। और निश्चय अभी होना चाहिए...

यह बात सच है कि ज़िन्दगी बहुत छोटी चीज़ है। कुछ गिने हुए बरस—जिनमें से कई अमूल्य बरस केवल तड़पने और करवटें बदलने में कट गए हैं। इतनी गहरी यन्त्रणा में शायद टूट भी जाता। हर चीज़ का स्वाद फीका पड़ गया था। अपना स्वभाव तेज़ी से बदल रहा था। गुमसुम रहना और बात-बात पर चिड़चिड़ा जाना...यह परिस्थिति और अधिक दिन बनी रहती तो ज़रूर कोई वहशियाना हरकत कर बैठता। कितना चाहा था मैंने कि शीला इस परिस्थिति को समझ जाए। लेकिन उसने समझकर भी समझना नहीं चाहा। नतीजे के तौर पर मैं जैसा था, अब वैसा नहीं रहा। परिवर्तन अच्छा रहा या बुरा, उसका निर्णय आज कैसे करूँ?

बच्चा बड़ा होकर इस परिस्थिति को ठीक समझ सके तो मुझे खुशी होगी। न समझ सके तो भी दुख नहीं होगा। बच्चे की ग़लतफ़हमी उसकी माँ को सान्त्वना दे सके तो मैं उसे उस सान्त्वना से वंचित नहीं करना चाहूँगा।

मन बार-बार उन दिनों में लौट जाता है, जब यह विवाह नहीं हुआ था। यदि यौवन के प्रथम चरण में ही यह कालरात्रि आरम्भ न हो जाती...

बार-बार मन को मारा है। बार-बार अपने को और दूसरों को धोखा दिया है। बार-बार यह चाहा है कि इस दुःस्वप्न की परिणति मंगलमयी हो...

मेज़ पर पड़ी हुई इन ढेर-ढेर चिट्ठियों का क्या करूँ? किस-किसको पत्र लिखूँ? किस-किसको न लिखूँ? दिनों से जमा हुई ये चिट्ठियाँ भी पुराने कर्ज़ का-सा एहसास कराती हैं।...न जाने क्यों लोग रस्मी क़िस्म का पत्र-व्यवहार करते रहते हैं? बहुत कम पत्र ऐसे आते हैं जिनमें निजता हो, आन्तरिकता हो। लगे कि किसी घनिष्ठ से बात

कर रहे हों। अधिकांश पत्रों में कुछ वैसा ही casual अन्दाज़ होता है, जैसे रास्ता चलते कोई घड़ी का वक़्त पूछ लेता है!

जालन्धर : 22-7-57

बहुत बरस भटकता रहा हूँ।

सन् बयालीस में जब मैं लाहौर होस्टल में दाख़िला हुआ था तो मैं जीवन में और साहित्य में अपने लिए मार्ग तराशने का प्रयत्न आरम्भ कर चुका था। अपनी परिस्थितियों और अपने आसपास के माहौल को देखने-परखने की दृष्टि विकसित हो रही थी। मैंने उन दिनों गद्य और पद्य लिखने के जो प्रयत्न किए थे, वे अब भी मेरी स्मृति में ताज़ा हैं। ठीक दिशा में चलता जाता तो अब तक ज़रूर मैंने कुछ लिख लिया होता।

मगर उन दिनों एक व्यक्ति के प्रभाव ने जीवन और साहित्य के सम्बन्ध में मेरी दृष्टि को बहुत बदल दिया था। वह व्यक्ति था ज्ञान।

ज्ञान को मैंने बरसों तक अपना सबसे घनिष्ठ दोस्त माना है—आज भी मैं उसे अपना अन्यतम मित्र मानता हूँ। परन्तु इस सम्बन्ध का विकास मैत्री के रूप में बाद में हुआ, पहले पहल मैंने उसे स्पर्धा की दृष्टि से देखना आरम्भ किया था।

ज्ञान हमारे सहपाठियों में सुविधासम्पन्न था,—सर मनोहरलाल, जो उन दिनों अविभाजित पंजाब के वित्तमन्त्री थे, उसे दत्तक पुत्र के रूप में पाल रहे थे। ज्ञान हम सबमें अधिक चतुर, अधिक सुपठित और हर दृष्टि से अधिक accomplished था। वह लम्बा-ऊँचा ख़ूबसूरत जवान था, बैडमिंटन का बहुत अच्छा खिलाड़ी था और टेबल टॉक में अपना सानी नहीं रखता था। अध्ययन में भी बहुत नियमित था और प्रायः सबसे आगे रहता था। हम सब पर वह जितना ख़र्च कर सकता था, हममें से कोई उस पर नहीं कर पाता था। परीक्षा के दिनों में जब सर मनोहरलाल की कार उसे छोड़ने आती थी तो बहुतों की आँखें ईर्ष्या से फैल जाती थीं। ज्ञान का व्यवहार सबके प्रति बहुत सौजन्यपूर्ण होता था, यद्यपि उस सौजन्य की तह में कहीं गहरी उपेक्षा छिपी रहती थी। वह बहुत सूक्ष्म और अनायास ढंग से हर एक को अपनी स्थिति के अन्तर का बोध करा देता था। यह चेतना उसमें शायद इसलिए भी थी कि वह अपने जन्म के सम्बन्ध में फैले हुए अपवाद को अच्छी तरह जानता था, और उससे उसके दूसरों के साथ व्यवहार में एक स्वाभाविक प्रतिशोध भावना का स्पर्श आ जाता था।

और लोगों की तरह मैं भी पहले-पहल उसके प्रभाव से आक्रान्त हुआ था—यद्यपि कैलाश सन्त और दूसरे कुछ लोगों की तरह मुझे कभी उससे ईर्ष्या नहीं हुई। परीक्षा

की दृष्टि से स्पर्धा अवश्य थी, यद्यपि अंग्रेज़ी कमज़ोर होने से मुझे अपनी मजबूरी का अहसास भी था। ज्ञान एम.ए. में फर्स्ट रहा था, और मेरी यूनिवर्सिटी में चौथी पोजीशन आई थी।

हमारी मित्रता का विकास एम.ए. कर चुकने के बाद हुआ और मुझे कहना चाहिए कि ज्ञान के initiative से ही हुआ। एम.ए. का परिणाम घोषित होने से पूर्व ही मुझे यूनिवर्सिटी से रिसर्च स्कॉलरशिप मिल गया था। यह मुख्यतया डॉ. लक्ष्मणस्वरूप की वज़ह से हुआ था, क्योंकि वे मुझे बहुत मानने लगे थे। मैं उन दिनों यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी में अपनी रिसर्च टेबल पर बैठा करता था। ज्ञान ने लॉ ज्वाइन कर लिया था, पर कक्षाओं में उसका दिल नहीं लगता था और वह अक्सर मेरे पास चला आता था। फिर हम दोनों वहाँ से उखड़कर कॉफ़ी हाउस या चाइनीज़ लंच होम में चले जाते थे। मुझे उन दिनों कॉफ़ी का शौक़ नहीं था, कॉफ़ी कड़वी लगती थी। वहाँ ज्ञान प्रायः अपने अन्य-अन्य मित्रों से परिचय कराया करता था, जिनमें से कुछ कॉलेज के विद्यार्थी थे, कुछ स्थानीय अदीब और अख़बारनवीस थे। उसकी महफ़िलों में शरीक होकर मुझे अपने बहुत से बन्धन टूटते महसूस होते थे।

अब ज्ञान से स्पर्धा का सवाल नहीं रहा था। एम.ए. के परिणाम ने और सामान्य जीवन में ज्ञान की बेहतर स्थिति ने उसके प्रति मेरी दृष्टि को एक निश्चित रूप दे दिया था। मेरे हृदय में उसके लिए सौहार्द ही नहीं, आदर का भाव भी था। वह जो कुछ भी करता था, उसे मैं अवचेतन रूप में अनुकरणीय मानने लगता था। आरम्भ से वैष्णव संस्कारों के दायरे में पोषित होने के कारण और कई-कई तरह की कुंठाओं और मानसिक ग्रन्थियों में जकड़े रहने के कारण मुझे ज्ञान की सहचर्या आदम के निषिद्ध फल की तरह आकर्षक लगती थी। ज्ञान के साथ ही मैंने शराब पीना सीखा। मुझे याद है कि पहले-पहल उसने स्टैंडर्ड होटल में मुझे जिमलेट पिलाई थी—यह कहकर कि यह लाइट लेडीज़ ड्रिंक है। उस लाइट लेडीज़ ड्रिंक का मुझ पर कुछ असर नहीं हुआ। शायद इसलिए कि उसने कह दिया था कि वह लाइट है। तो उसने मेरे लिए जिन या ह्विस्की मँगवाई। ह्विस्की पीते हुए मुझे अपने हाथों की उँगलियाँ बहुत हल्की लगने लगी थीं, मैं बार-बार उँगलियों को हिलाता था, जैसे चिड़ियाँ पंख मारती हैं, क्योंकि उस हिलाने में लगता था कि आयास ही नहीं पड़ता। मन में कुछ सन्तोष, कुछ आश्चर्य और कुछ आह्लाद लिए हुए मैंने अनुभव किया था कि मेरे बचपन के संस्कारों की बहुत बड़ी मज़बूत दीवार ढह गई है। उँगलियाँ नचाते हुए विस्मय के साथ सोचा था कि क्या यही नशा है? तभी स्टैंडर्ड के पर्दे खिंच गए थे, हाल एक गहरी पीली रोशनी में आलोकित हो उठा था, सब आँखें बीच की ओर घूम गई थीं और एक गोरांग युवती, जिसके शरीर का तीन चौथाई भाग नग्न था,

बाल सुनहरी थे, चेहरा अंडे की शक्ल में तराशा हुआ था, जैसे किसी आसमानी दुनिया से टूटकर वहाँ नाचती हुई उतर आई थी। नशे की एक मानसिक कल्पना मेरे अन्तर में पहले से बनी हुई थी, मगर बिजली की तरह थिरकते हुए उन अंगों का वह दृश्य मेरे लिए कल्पना ही था...

उसके बाद ज्ञान के साथ अक्सर शराब पी, कई बार उसके साथ कैब्रे देखने भी गए। धीरे-धीरे यह सब कुछ जीवन में स्वाभाविक हो चला। एक दिन आया जब यह सोचकर निराशा हुई कि इस नवीनता का क्षेत्र भी सीमित है, आगे और-और नया-नया देखते जाने की सम्भावना अनन्त नहीं है। बहुत शीघ्र ही विराम स्थल पर पहुँच गए।

लेकिन ज्ञान के व्यक्तित्व को लेकर जो संस्कार हृदय में घर कर गए थे, वे संस्कार अपने आगे के विकास में बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुए। सन् 52 तक लाहौर, बम्बई और शिमला में रहते हुए जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के सम्बन्ध में सोचने-समझने में ज्ञान की दृष्टि के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाया। यहाँ तक कि विवाह का निश्चय करते समय भी मस्तिष्क में ज्ञान का ही एक वाक्य मँडरा रहा था :

"I wouldn't marry a raw girl. I would rather marry a woman—mature and understanding."

अपनी प्रवृत्ति को परखता तो मैं एक अपक्व लड़की से ही विवाह करना पसन्द करता। परन्तु अपनी प्रकृति और अपनी दृष्टि के अधिकार को मानता कौन था? अपने में ज्ञान के व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित किए हुए ही विवाह कर लिया था, परिणामतः अपनी प्रकृति विद्रोह करने लगी, और अन्त में वह धारण किया हुआ बाना तार-तार हो गया।

जीवन की इस ट्रेजेडी का परिणाम कई बरस भुगतना पड़ा।

साहित्य-रचना के क्षेत्र में भी इससे मिलती-जुलती घटना ही हुई। ज्ञान नीत्शे का बहुत प्रशंसक था। अज्ञेय की वाक्य-रचना और खांडेकर की सूक्ति-पद्धति उसे बहुत प्रिय लगती थी। रामकुमार वर्मा के 'औरंगज़ेब की आख़िरी रात' पर वह फिदा हो गया था। हमारी बैठकों में अक्सर 'पूँछ लूँ मैं नाम तेरा' का पाठ हुआ करता था।...इससे उन adolescent दिनों में मेरे वाक्य-रचना के मोह को बहुत पुष्टि मिली। परिणामतः 'इन्सान के खँडहर' की कई एक कहानियाँ लिखी गईं। बाईस-चौबीस साल की उम्र तक जितनी परिपक्वता आ जानी चाहिए थी, उतनी मुझमें नहीं आई थी। हाँ, अपने आपको खुदा समझने की प्रवृत्ति ज़रूर आ गई थी। नतीजा यह हुआ कि जीवन और संसार के अध्ययन से हटकर एक तरह के pseudo intellectualism में बह गए।

विवाहित जीवन की कटुता ने धीरे-धीरे उस pseudo intellectualism की दीवार को भी तोड़ा।

और आज मैं दोनों ही क्षेत्रों में जैसे हाथ झाड़कर अपने को आश्चर्य से देखता हूँ। आज भी मेरी भूमि वही है, जो सन् बयालीस में थी। जीवन का कुछ अनुभव अवश्य हाथ लगा है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध की वास्तविक सार्थकता का कुछ अनुभव केवल पिछले दो साल में ही हो पाया है, और साहित्य के क्षेत्र में भी जीवन की धमनियों का उष्ण स्पर्श—कुछ-कुछ—इन्हीं वर्षों में प्राप्त हुआ है।

लिखने की चाह मुझे बहुत बचपन से है, और बहुत कुछ लिखने की चाह है—परन्तु उस चाह की पूर्ति के लिए आवश्यक उपादान मेरे पास कितने हैं, इसकी अब मुझे नए सिरे से परीक्षा करनी है।

ज्ञान को मैं आज भी प्यार करता हूँ। इन दिनों, मेरे इस भूमि पर लौट आने से कई बार अनायास ही उसका अहं मेरे साथ टकराया है। मैंने कभी उसे चोट पहुँचाना नहीं चाहा, फिर भी उसे चोट पहुँचती है—जैसे ट्रेनर का पाला हुआ जानवर फिर जंगल में चला गया हो। वह आज भी अपनी उस ट्रेनिंग स्टिक का जादू मुझ पर परखना चाहता है। वह जादू नहीं चलता तो उसे खीझ होती है, दुःख होता है, निराशा होती है। वह कभी-कभी गाली भी दे देता है। अपने अहं को assert करने के लिए महीनों चिट्ठी नहीं लिखता। जालन्धर आकर भी नहीं मिलता। मुझे खेद अवश्य होता है, लेकिन आज की इस दूरी में भी मेरे हृदय की निकटता में अन्तर नहीं आया।

कभी-कभी मशीन की तरह लिखने का काम करना होता है। आज 'बहुत बड़ा सवाल' शीर्षक रेडियो नाटक का ख़ाका कुछ इसी तरह बनाया।

अपनी हर रचना को यथार्थ की भूमि पर ले आने के और-और प्रयोग करना चाहता हूँ।

ख...का जीवन कितना नीरस है? उसे देखकर बहुत बार तरस आता है। उसे शायद स्वयं भी इस बात का अहसास है कि उसका शरीर अब ढलने लगा है। माता-पिता दोनों लगभग अपाहिज हैं। उसके आदर्शवादी संस्कार उसे उन दोनों की सेवा के लिए बाध्य करते हैं। हालात की मजबूरी भी है। उसकी बातों से और उसके चेहरे से यह स्पष्ट झलकता है कि वह जो कुछ भी करती है, अब आन्तरिक प्रेरणा से नहीं करती, केवल कर्त्तव्य-भावना से करती है। जीवन से अपने अस्तित्व को, अपने 'स्व' रूप में सार्थक बनाने के लिए वह कितने desperate प्रयत्न करती है? सितार सीखती है, मित्र बनाना चाहती है, कभी कहानियाँ भी लिखती रही है। फिर वह पुरुष के प्रति

अपनी नारी का अर्पण भी चाहती है, जिसे उसके संस्कारों ने एक निश्चित मर्यादा का रूप दे रखा है। घंटों उसके पास बैठे रहो, वह ख़ामोश और अन्तर्मुख भाव से बैठी रहती है। उसे जो कुछ कहना होता है, वह उसका वातावरण कहता है–घुटा हुआ तंग कमरा, जिसमें पड़ा हुआ पुराना सोफ़ासेट साधारण खादी के गिलाफ़ों में ढका हुआ है, मैंटलपीस पर पड़े हुए गौतम बुद्ध और अर्द्ध-नारीश्वर के बस्ट, वृक्ष की डाली के नीचे प्रतीक्षा करती हुई रमणी का चित्र, राधाकृष्ण के और पक्षियों के युगल चित्र, टैगोर की तस्वीर, शीशे पर बना हुआ काला ताजमहल, सितार केस, तबला, सरगम की कॉपी, ड्राइंग की कॉपी, बहन और उसके पति का सह-चित्र, उनके बच्चे का चित्र, मिट्टी की मैना और कपड़े की मुर्गी जिसके पेट में अंडे गर्म रखे जाते हैं। वह ख़ामोश बैठी रहती है, बात सुनती रहती है, शादोनादर कभी मुस्कुरा देती है, अन्यथा ऐसे गम्भीर रहती है, जैसे–अभी-अभी किसी का शाप लगा हो। उठने लगो तो बैठने की याचना करती है, हठ करती है, और बैठ जाओ तो फिर उसी तरह ख़ामोश बनी रहती है। वह उपनिषद् पढ़ती है, बर्ट्रेंड रसैल की 'द कांक्वेस्ट ऑफ़ हैपीनेस' पढ़ती है, डचेस ऑफ़ विंडसर की 'दि हार्ट हैज़ इट्स रीज़न्स' पढ़ती है। विवाहित स्त्रियों का साथ अक्सर उसे पसन्द नहीं आता। वह स्त्रियों में spinsters को अधिक पसन्द करती है...और चलते समय जब वह नमस्कार करती है तो हाथ जोड़ते हुए उसकी आँखें ऐसे मुँदती हैं जैसे गहरी यन्त्रणा में अपनी सहिष्णुता का परिचय दे रही हों...

वह जब कहती है कि उसे मिठाई खाना बहुत पसन्द है तो मुझे हँसी आ जाती है।

उसके आसपास के लोगों ने, रिश्तेदारों, गली-मुहल्ले की सहेलियों ने उसे एक ऐसा बड़प्पन का रोल दे रखा है, जिससे उसके चेहरे की लकीरें और गहरी हुई जा रही हैं।

ये बरसाती रातें प्यारी भी बहुत लगती हैं और तंग भी बहुत करती हैं। क्षितिज के किसी भी कोने में बिजली चमकती हो तो मन उड़ने लगता है। शीत की सिहरन तो पुलकित करती ही है, उसकी कल्पना भी पुलकित कर देती है। परन्तु इन पुलकों को सँजोए हुए जब बिस्तर पर बेहोश पड़े होते हैं तो ऊपर से नन्हीं-नन्हीं बूँदें पड़ने लगती हैं, बादल दो-एक बार ज़ोर से गरज जाता है, अम्माँ उतावली हो जाती है कि ज़ल्दी करो चारपाइयाँ अन्दर ले चलो, और अन्दर पहुँचते-पहुँचते बूँदें थम जाती हैं, बादल उड़ जाता है और थोड़ी देर में हवा भी रुक जाती है और दम घुटने लगता है। बरसात का मौसम दरअसल भीगने के लिए है, छत के नीचे सोने के लिए नहीं। भीगने की बात याद आती है तो साथ पीले-पीले आमों के ढेर आँखों के आगे आ जाते हैं। बचपन में घर में कितने आम आया करते थे।

जिस तरह 'सैलर' में शराब बरसों mature होती रहती है, उसी तरह छोटी-छोटी घटनाएँ बरसों दिमाग़ में mature होती रहती हैं। उन्हें फिर लिपिबद्ध करने में पुरानी शराब का-सा ही नशा हासिल होता है।

जालन्धर : 23-7-57

कल अपने और ज्ञान के सम्बन्ध की बात सोच रहा था और आज ही उसका पत्र आ गया। उसका पत्र पाकर वास्तव में आन्तरिक खुशी हुई, क्योंकि मेरे पिछले पत्र से वह काफ़ी नाराज़ भी हो सकता था। मन होता है कि दो-चार दस दिन उसके पास धर्मशाला जा रहूँ...मगर जब तक आज का द्वन्द्व समाप्त नहीं हो जाता, समस्या पूरी तरह हल नहीं हो जाती, तब तक उसके पास जाते मन शंकित होता है। मुझे डर है कि वह आज भी मुझ पर छा सकता है।

इसलिए अभी दो तीन चार महीने और गुज़र जाने चाहिए।

अपना मर्ज़ लाइलाज है।

जो दो चेक डलहौज़ी से यहाँ जमा कराने के लिए लाए थे, वे न जाने वहीं रह गए हैं, या रास्ते में गुम हो गए हैं। आज सारे कागज़ात उथल-पुथल करके देख लिए परन्तु वे दोनों चेक नहीं मिले। वहाँ चार-छह दिन दिमाग़ पर यह बोझ रहा कि चेक ज़ेब में पड़े हैं—कहीं रह न जाएँ, कहीं गिर न जाएँ। अपने जाने उन्हें बहुत सँभाल-समेटकर यहाँ ले आए थे। जाने वे क्या हुए? फिलहाल तो यही लगता है कि यह सागवान की मेज़ उन्हें निगल गई।

थोड़ी देर हुई मदान, प्रेमी और खोसला, मदान के बरामदे में खुशगप्पियाँ कर रहे थे। ये तीनों जीवन की धुरी से हिले हुए प्राणी हैं। मदान को पैंतालीस-पचास बरस की बैचलर लाइफ ने सिनिक बना दिया है—वह किसी भी मामले में राय देता है तो इस तरह जैसे ध्रुव सत्य की घोषणा कर रहा हो। आज आप 'नए बादल' पर अपने रिव्यू की 'स्थापनाओं' पर प्रकाश डाल रहे थे। खोसला हारा हुआ आदमी है। नौकरी में उसे जो सेटबैक हुआ था, उसने उसकी जीवन सम्बन्धी दृष्टि को बुरी तरह डिस्टर्ब कर दिया है। वह हर चीज़ को अविश्वास और सन्देह की दृष्टि से देखने लगा है और हर ऐसी परिस्थिति में, जो निर्णय की अपेक्षा रखती है, उसका निर्णय होता है—'लैट इट गो टु हेल!' प्रेमी ने कभी 'अग्नि गान' लिखे थे—पर आज वह ठेठ सुविधापरस्त है, और कुछ नहीं। वह जिसके पास बैठ जाता है, उसी के मनोनुकूल बात करने लगता है। सामने का व्यक्ति जिसकी निन्दा करता है, उसकी वह भी निन्दा करता है, जिसकी स्तुति करता है, उसकी वह भी स्तुति करता है। हर समुदाय में

जो व्यक्ति सामाजिक स्टेटस की दृष्टि से बड़ा होता है, वह उसी का हो जाता है। एक विशेष समुदाय में वह एक व्यक्ति से बहुत घनिष्ठ हो जाएगा और दूसरे समुदाय में उसी व्यक्ति से उपेक्षापूर्ण व्यवहार करने लगेगा। उस बीच, जिस किसी तरह, अवसर निकालकर, वह अपने प्रति श्रद्धांजलि भी अर्पित कर लेगा। उदयशंकर भट्ट का ज़िक्र होने पर प्रेमी की ईर्ष्या विशेष रूप में जागृत हो उठती है और वह अपनी तुलना में भट्ट की हीनता प्रमाणित करने का कोई प्रयत्न शेष नहीं रहने देता...।

ख...के हर व्यवहार से उसका व्यक्तित्व रोगी प्रतीत होता है। उसमें वह स्वस्थता, वह ताज़गी कभी नाममात्र को भी नहीं दिखाई देती, जिससे उसका साहचर्य अपेक्षित हो सके।...एक स्वर बार-बार मेरा पीछा करता है, मुझे haunt करता है। उस स्वर से जुगुप्सा होती है। फिर भी उसके भाव में इतनी करुणा रहती है कि उसके प्रति कठोर नहीं हुआ जाता।

थोड़ी देर से मन अनायास उदास हो रहा है। जब मन इस तरह उदास होता है तो अपने आसपास के वातावरण की पकड़ ढीली पड़ जाती है, दृष्टि बहुत 'सब्जेक्टिव' होने लगती है, और जिस किसी घेरे में हों, उससे निकल भागने को मन होता है...

आज नाटक के केवल दो ही पृष्ठ टाइप किए। मुझे कुछ भी लिखने के लिए बहुत वक़्त चाहिए। जल्दी-जल्दी मुझसे नहीं लिखा जाता। क्या कर सकता हूँ?

जालन्धर : 25-7-57

कल दिन भर लिखते-लिखते कमर टूट गई और जो कसर थी वह आज पूरी हुई। जिस किसी तरह 'बहुत बड़ा सवाल' पूरा हुआ। मुसीबत ढोकर लिखने में बेहद कोफ़्त होती है, लेकिन कुछ सिलसिला ऐसा चल रहा है कि बिना मजबूरी के आसन जमता ही नहीं। गले में फाँसी न लगी हो तो हमेशा काम आने वाले कल पर टलता जाता है।

अपने शेल्फ़ में कई एक पुस्तकें नदारद हैं—बारह चौदह पुस्तकें कॉलेज लाइब्रेरी की और अपनी पुस्तकें कितनी, इसका ठिकाना नहीं। पुस्तकें उधार माँगकर पढ़ने की तरह पुस्तकें उधार देना भी एक बीमारी है। हज़ार बार मन में निश्चय करते हैं, प्लेकार्ड तक लिखकर रखते हैं कि पुस्तकें उधार नहीं देंगे। पर जब उधार लेनेवाला बड़े मासूम ढंग से यह पूछता है—''मुझे भी नहीं' तो इनकार करना बड़ा मुश्किल हो जाता है। अन्दर-ही-अन्दर कुढ़ते हुए और बाहर सहज विश्वास का जामा ओढ़े हुए

कह देते हैं, "नहीं-नहीं—आप शौक़ से ले जाइए...लेकिन यह है कि आप ही याद रखिएगा कि पुस्तक लौटानी है, क्योंकि मुझे तो याद-वाद रहता नहीं कि कौन-सी पुस्तक किसके पास गई है।" उधार लेनेवाला तुरन्त आश्वासन दे देता है कि वह अवश्य याद रखेगा और जितने दिन किताब उसके पास रहेगी, वह अपनी किताब की तरह सँभालकर रखेगा। दोनों पक्षों की उस समय के लिए तसल्ली हो जाती है। बाद में रखनेवाला ज़िन्दगी भर के लिए उसे अपनी किताब की तरह सँभालकर रख छोड़ता है।...आज शेल्फ़ में 'अन्ना करेनिना' के न मिलने का बहुत खेद हुआ।

डलहौज़ी : 26-7-1957

सुबह बारिश में भीगते हुए घर से चले—धरती के गुरुत्वाकर्षण को कोसते हुए क्योंकि हाथ में लिया हुआ चमड़े का बैग बाँह तोड़ने को आ रहा था। बस में सवार होकर तबीयत कुछ बहाल हुई।

बस में साथ की सीट पर एक महिला आ बिराजीं। साथ एक लड़की थी—पतला चेहरा, बड़ी-बड़ी आँखें और भरे हुए ओंठ। महिला का चेहरा गोल था, चश्मा लगाए थीं, बहुत कीमती साड़ी पहने थीं और बात करती थीं तो लगता था कि उपदेश दे रही हैं। उनके गले की आवाज़ कुछ मरदाना-सी थी, जैसा कि अक्सर अध्यापिका वर्ग की स्त्रियों की हो जाती है। चेहरे की भाव-भंगिमाओं में भी वही बेबाकी थी। बस से बाहर एक दुबला-पतला यतीम लड़का खड़ा था, जो उनका लड़का था या शायद छोटा भाई था। वे लगातार उसे आदेश पर आदेश दिए जा रही थीं कि वह बाग़ में अमुक क्यारी के फूल निकलवा कर दूसरे लगवा दे, अमुक क्यारी में दवाई छिड़कवा दे, अमुक को एक-एक फुट गहरा करा दे, इत्यादि। लड़का बहुत बरखुरदारी से सिर हिलाता जा रहा था—जैसे सिर हिलाकर अनुमोदन कर देने से ही उसका पूरा उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता हो। बाग़ और फूलों के सम्बन्ध में आदेश समाप्त होने पर वे उसे चिड़ियों और कबूतरों के सम्बन्ध में आदेश देने लगीं, फिर गर्म कपड़ों के बारे में और फिर किताबों के शेल्फ़ों के बारे में। बरखुरदार बदस्तूर बरखुरदारी से सिर हिलाता रहा। जब उससे यह कहा गया कि वह लुधियाना जाकर कुछ बीज ले आए और आचार्य जी को टेलीफ़ोन करके पूछ ले कि उन्हें तो कुछ बीज नहीं चाहिए और उनसे यह न कहे कि वह आप लुधियाना जा रहा है बल्कि कहे कि नौकर जा रहा है, तो भी वह उसी तरह मुस्कुराता और सिर हिलाता रहा।

बस का रास्ता ख़तरनाक था—जालन्धर से पठानकोट तक भी और पठानकोट से डलहौज़ी तक भी। बारिश ने सड़क कई जगह से तोड़ दी थी। डलहौज़ी के रास्ते में कई जगह से पहाड़ गिर गया था। एक जगह आध पौन घंटा रुकना पड़ा। बेलचे वाले मजदूर सड़क से मिट्टी पत्थर खड्ड में डाल रहे थे। एक आदमी बेलचा चलाता

था, दो आदमी रस्सियों से खींचते थे और मिट्टी खड्ड में जा गिरती थी। वहाँ प्रतीक्षा करना ज़्यादा बुरा नहीं लगा क्योंकि जगह बहुत सुहानी थी। चारों तरफ़ पहाड़ से छोटे-छोटे दूधिया झरने खड्ड में गिर रहे थे। सड़क के किनारे खड्ड के सिरे पर पड़ी हुई एक बोरी पर बैठकर सिगरेट फूँकते रहे। बस जब चलने को हुई तो बल्कि निराशा हुई। मन था कि कुछ देर और इसी तरह बैठे रहते और उस बुड्ढे एक्स-ड्राइवर की आलोचनाएँ सुनते रहते जो रास्ता भर सबको हँसाता आया था।

रास्ते में एक डायरिस्ट से वास्ता पड़ा। आप जालन्धर से हमारे साथ आए थे और जहाँ कहीं भी उतरकर डायरी लिखने लगते थे। जिस तरह वे एक-एक चीज़ पर नज़र डालकर कलम घिसने लगते थे, उससे लगता था कि वे हर जगह आसपास की चीज़ों की लम्बी-चौड़ी फेहरिस्त तैयार करते हैं। एक-दो बार उन्होंने बन्दे को भी गौर से देखकर अपनी डायरी में कुछ नोट किया। अपनी तबीयत साफ़ हो गई।

शाम नरेन्द्र और स्वर्ण की बातें करते हुए कटी। रात कृष्णाजी के क़िस्से और बिज़नेस के झगड़े में।

डलहौज़ी : 27-7-57

लिखना बहुत कुछ चाहता हूँ पर शायद लिख नहीं पाऊँगा, क्योंकि बहुत-बहुत थका हुआ हूँ। सुबह बेलून से काफ़ी नीचे पिकनिक पर गए। शाम को होटलों में अपने लिए जगह देखते रहे और रात को बियर पीने के इरादे से निकल गए। इस तरह कुल मिलाकर बारह-चौदह मील का चक्कर लगा लिया। इस समय दिमाग़ बिलकुल ही काम करना नहीं चाहता। जो कुछ लिखना चाहता हूँ, कोशिश करूँगा कि कल लिख सकूँ।

डलहौज़ी : 28-7-57

यह अहसास कि हम ज़िन्दा हैं, कितना गुदगुदा देता है? ज़िन्दा होने की अनुभूति में ही सुख है—यही सुख विभिन्न संवेदनों में रूप बदल-बदलकर व्यक्त होता रहता है। मानव चेतना अपनी इस संवेद्यता को पहचान लेती है, उससे उस सुख में अतिरेक आ जाता है।...और ज़िन्दा होने की अनुभूति फिर व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रहती, अपने से बाहर हर चीज़ के स्पन्दन में, उसकी निरन्तर परिवर्तनशीलता में भी वही ज़िन्दा होने का भाव व्याप्त प्रतीत होता है। लगता है, हम ज़िन्दा हैं क्योंकि आसपास की हर चीज़ ज़िन्दा है—पेड़, पौधे, घास, मिट्टी। अणुओं का संघर्ष चल रहा है—वे और से और बनने की दिशा में निरन्तर प्रयत्नमान हैं।...और महसूस होता है कि

बियाबान बियाबान नहीं है—जीवन का समुद्र वहाँ भी ठाठें मारता है। अपना आप फैलता जाता है—वह सारे वातावरण का अंग बन जाता है। अपना आप खो जाता है, क्योंकि अपना आप बहुत बड़ा हो जाता है और लगता है कि मृत्यु कुछ भी नहीं है, मृत्यु कभी सम्भव ही नहीं है। हम गल नहीं रहे हैं, जर्जर नहीं हो रहे हैं, क्षीण नहीं हो रहे हैं—हम हर क्षण अधिक सबल, अधिक सुन्दर और अधिक युवा हो रहे हैं—हम अर्थात् हम—ये ग्रह—हम—यह विश्व।

कृष्णा का देवर क्या उसकी पहरेदारी करने के लिए ही उसके साथ है? कल की घटना बार-बार दिमाग़ में उभर आती है। पिकनिक से लौटते हुए वह मेरे साथ औरों से ज़रा आगे निकल आई थी। मैं उससे पाल के बारे में बात करना चाहता था, और वह भी इसी इरादे से आगे बढ़ आई थी। मगर बहुत जल्दी तेज़-तेज़ डग भरता हुआ वह हमसे आ मिला। उससे तेज़-तेज़ चला नहीं जाता इसलिए वह पसीना-पसीना हो रहा था। साँस उसकी फूल गई थी, वह देखने में तो पूरा पका हुआ आदमी लगता है। अपने परिवार के और लोगों की तरह ही उसका चेहरा और शरीर के अनुपात में बड़ा है—ऐसे लगता है जैसे ग़लत चेहरा उन कन्धों के ऊपर लगा दिया गया हो। चेहरे की हड्डियाँ काफ़ी चौड़ी, नीचे ठुड्डी में खम, मोटे-मोटे ओंठ और उन पर तराशी हुई मूँछें। बाल ज़रा विरले—भावी गंजेपन का संकेत देते हुए। भवें गहरी और आँखों के ऊपर छाई हुईं। मगर यह मर्दज़ात बातचीत और व्यवहार बच्चों की तरह करता है। अधिकतर चुप रहता है। जब बोलता है तो लगता है कि बड़ा प्रयत्न करके बोल रहा हो। कृष्णा आकार-प्रकार में उससे बहुत-बहुत छोटी लगती हुई भी उसे बच्चों की तरह बुलाती, थपथपाती है। वह भी ऐसे अवसरों पर चेहरे पर बड़ा अज़ीज़ाना भाव ले आता है। साधारणतया उसका attitude यही लगता है, जैसे उसे हाथ में बन्दूक देकर एक ऐसे घर की रखवाली का भार सौंपा गया हो जिससे उसे डर लगता हो।

उधर कृष्णा में अपने परिवार और पारिवारिक मूल्यों के प्रति उपेक्षा का एक निश्चित भाव है—उसके व्यवहार बोलचाल आदि में एक कलात्मकता है—और उसके साथ उसमें एक निश्चित restlessness है। उसके चेहरे का नृत्याकार रूप, ऊपर उठी हुई नाक, उसे एक विशेषता दे देते हैं। उसके चेहरे में भव्य एक्सप्रेशन भाव है, उसके ओंठ...ओंठों को वह बात पर जिस तरह से मोड़ देकर दबाती है, उसमें उनकी self consciousness भी झलकती है और दूसरे को प्रभावित करने की दबी इच्छा भी। जब वह ओंठ इस तरह बन्द करती है तो साथ उसका चेहरा ज़रा बाईं ओर को हिलता है—जिसमें अपेक्षित प्रभाव पैदा कर पाने का सन्तोष झलकता है। उसकी आँखें उस सन्तोष से एक बार झुकती हैं और फिर फैल जाती हैं। बहुत बार

जब मज़ाक में भी उसके सौन्दर्य की प्रशंसा की जाती है तो उसके चेहरे पर वही प्रतिक्रिया होती है।

30-7-57

उस दिन अर्थात् 28 की शाम को ही मोती टिब्बा पर मिस महाजन के यहाँ चाय पीने गए थे।

मजलिस टूटने पर मोती टिब्बा के राउंड पर निकल गए। वहाँ अश्क और भाभी मिस महाजन के कान्वेंट में अपनी किताबों का सेट बेचने के बारे में बात करते रहे। उस राउंड से डलहौज़ी और बैलून, अँधेरे में जगमगाते हुए बहुत भले लग रहे थे। घाटी से आकर डलहौज़ी को घेरते हुए बादल ऐसे लग रहे थे जैसे सुहानी सन्ध्या के नशे में वे उन्मत्त होकर झूम गए हों। वातावरण में बहुत-बहुत ताजगी थी। अँधेरा गहरा हो रहा था, जब कोरस में गालिब की ग़ज़ल 'दिल ही तो है न दर्दे दिल, दर्द से भर न आए क्यों?' गाते हुए नीचे चेयरिंग क्रॉस की तरफ़ उतरे।

कल सारा दिन कृष्णा के साथ बीता। उसने इतना पुरतक़ल्लुफ़ खाना खिलाया कि अपने देवता कूच कर गए। खाना खाकर चलना मुश्किल हो गया। कृष्णा को अपने हाथ के खाने का बहुत गुमान है और हालाँकि गुमान बुरी चीज़ है, फिर भी उसका गुमान ज़रा भी ग़लत नहीं। इस बीच उससे पाल के बारे में बात करने का अवसर भी मिल गया। ज़ाहिर है कि यह बहुत कमज़ोर लड़की है और जितनी शिद्दत की उसकी चाहत है, उसके मुताबिक उसमें हौसला नहीं है। उसने प्रेम जोशी की जो बात बताई (कि उसने कहा था कि उसमें और पाल में ग़लतफ़हमी पैदा कर रहा हूँ) वह मन को बहुत चुभी। लेकिन उस शख़्स को मैं पहले ही जान चुका हूँ, इसलिए ज़्यादा दुःख नहीं हुआ।

आज दोपहर की बस से वह चली गई। बाद दोपहर हम सामान उठवाकर मैट्रो होटल में चले आए। डलहौज़ी में पहली बार मन में हल्केपन का अनुभव हुआ। स्नो व्यू में रहते सब आराम होते हुए भी मन आज़ाद नहीं था। यहाँ आकर मन को बहुत विश्राम प्राप्त हुआ। कुछ चिट्ठियाँ लिखीं और घूमने निकल गए। स्नो व्यू से अश्क और भाभी को साथ ले लिया। रास्ते में हिन्दी उर्दू की पचास चुनी हुई कहानियाँ संकलित करने की योजना बनाते रहे। रास्ते में धुन्ध फैली थी। नन्हीं-नन्हीं बूँदें बरसने लगीं। भागकर अपने कमरे में आए। डाइनिंग हाल में खिड़की के पास बैठकर बरसते मेह और सुनसान चेयरिंग क्रॉस को देखते हुए खाना बहुत अच्छा लगा।

इन दिनों कई बार शीला की बातें हुई हैं।

डलहौज़ी : 1-8-57

कल दिन-भर चिट्ठियाँ लिखने के सिवा कुछ नहीं किया। शाम को अश्क और भाभी के साथ घूमने निकले तो अपने वैवाहिक असन्तोष के सम्बन्ध में भाभी के एक रिमार्क से तबीयत बहुत उखड़ गई। अश्क और भाभी दोनों ने मन को सुस्थित करने का बहुत प्रयत्न किया। अश्क फिर अपना और सोबती का क़िस्सा सुनाते रहे। अश्क जिस किसी का भी ज़िक्र करें, उसमें तुलनात्मकता आ जाती है और वे आत्मश्लाघा किए बिना नहीं रह सकते। उनका विश्वास है कि यह आत्मश्लाघा की प्रवृत्ति ही उनकी ख़्याति का मूल है। उस ख़्याति की वास्तविकता तक वे नहीं पहुँचना चाहते। सोबती के क़िस्से में सोबती के whims और moods की चर्चा हुई, उसकी enthralling मुस्कुराहट और बातचीत की चर्चा हुई, उसके व्यक्तिगत frustrations का उल्लेख हुआ, उसके उपन्यास के मुद्रण, पुनर्मुद्रण प्रसंग को लिया गया, बार्नेट और सारनाथ प्रसंग दोहराए गए, दे...versus सोबती और दे...और सोबती versus कौशल्या—इन प्रसंगों के delicate पहलुओं पर प्रकाश डाला गया, और धीरे-धीरे हम लोग स्नो व्यू पहुँच गए। सोचा, कॉफ़ी पीकर होटल में लौट आएँगे मगर वर्षा कुछ इस तरह आरम्भ हुई कि रात वहीं रह जाना पड़ा। सबेरे नाश्ते के बाद लौटकर आए।

रात को देर तक फिर शीला की चर्चा होती रही। मन में वह सारी वितृष्णा फिर ताज़ा हो आई। मन था कि उसे फिर एक पत्र लिखूँ, फिर उसके दिमाग़ में बैठाने का प्रयत्न करूँ कि विच्छेद अनिवार्य है—उसे बदमज़गी से स्वीकार करने की बजाय हँसकर स्वीकार कर लिया जाए तो कहीं अच्छा है। मगर अश्क और भाभी इससे सहमत नहीं हुए। परिणामतः अश्क ने ही उसके पत्र का उत्तर लिखा।

भाभी के चरित्र की एक विशेषता है कि वे हर बात अश्क को केन्द्र में रखकर ही सोचती हैं। उनका हर कार्य, हर शब्द और हर संकेत, इसी आधार से प्रेरित होता है। उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व, जो उत्तेजना के क्षणों में कभी-कभी उद्भाषित होने लगता है, जैसे अपनी पूरी हार मान चुका है। इसीलिए भाभी अश्क की झुँझलाहट, अहम्मन्यता, आदि को भी अपना अर्थ देकर सन्तोष किए रहती हैं। कभी कोई छोटी बात वे कह दें, तो उसे भी विनोद के रूप में ग्रहण कर लेती हैं। वे अपने यौन सम्बन्धों का बखान करने लगें तो अपनी विद्रोह और तिरस्कार की मुद्रा को दबाकर हँस देती हैं—हालाँकि कभी-कभी उस हँसी के खोखलेपन को ढाँपती हुई चेहरे की कठिन रेखाएँ उनकी वितृष्णा को व्यक्त कर देती हैं। परिणामतः भाभी अश्क के व्यक्तित्व की कमज़ोरियों के मामले में जितनी उदार हैं, दूसरों की कमज़ोरियों के मामले में उतनी ही अनुदार हैं—वे उनके सम्बन्ध में झट असहिष्णु हो आती हैं। पर कभी-कभी उन्हें यह चेतना हो आती है कि एक parallel परिस्थिति में ही वे अपने

पति का पक्षपात कर अपनी उदारता प्रकट कर रही हैं और उसी परिस्थिति में दूसरे के प्रति अनुदार हो रही हैं तो वे कुछ conditional clause लगा कर दूसरे को भी क्षमा कर देती हैं, या दूसरे की जस्टीफ़िकेशन को बर्दाश्त कर लेती हैं। और जब यह ज़रा-सा एहसास मन में रह जाता है कि उन्होंने किसी के साथ थोड़ा अन्याय कर दिया है, तो क्षतिपूर्ति के लिए उनके स्नेह के द्वार खुल जाते हैं–वे उस व्यक्ति के लिए एक साथ बहुत कुछ करना चाहती हैं। यदि वह व्यक्ति उस समय मानसिक रूप से उस स्नेह से आप्लावित होने की स्थिति में न हो तो वे अपने को तिरस्कृत अनुभव करती हुई फिर कठिन हो जाती हैं।

कहीं थोड़ी कुंठा भी है, क्योंकि जिस किसी प्रसंग में अपने किसी के साथ भी जाने-आने या घूमने की चर्चा करते हुए वे अवश्य कहती हैं—"Now I am old, nobody can say anything. But who can hold anybody's tongue? Therefore I have to be very careful. In those days I had to be very very particular. You see, people could say anything. And they did say..."

भाभी वास्तव में बहुत सेन्सिटिव भी हैं और काफ़ी भोली भी। भाभी के सम्बन्ध में लिखी हुई अश्क की कविता क़दरे अच्छी थी।

होटल आकर दो पत्र मिले। एक पत्र अम्माँ का था–दूसरा कानपुर की किसी माया बोस का। आपने कहानियों की तारीफ़ की थी adolescent अन्दाज़ में कुछ सवाल पूछे थे, कानपुर आने का निमन्त्रण दिया था और लिखा था कि वे रात के ग्यारह बजे बैठकर पत्र लिख रही हैं। जालन्धर के प्रो. बिब्रा उस वक़्त साथ बैठकर कॉफ़ी पी रहे थे। उन्हें पत्र सुनाया। ख़ासी दिल्लगी रही। एक उम्र होती है जब लेखकों आदि को पत्र लिखकर पुलक का अनुभव होता है। माया बोस शायद उसी उम्र में से गुज़र रही हैं। लेखक की भी एक उम्र होती है जब उसे ऐसे पत्र पाकर अच्छा लगता है। बन्दा उस उम्र में से गुज़र रहा है।

अपने कमरे के आगे का terrace बहुत अच्छा है। दोपहर की ठिठुरन के बाद (क्योंकि सामने की रेंज पर बर्फ़ पड़ने से बहुत ठंड हो गई थी) शाम की चाय के वक़्त terrace पर कुर्सी डालकर बैठ गए। Terrace चेयरिंग क्रॉस के ठीक ऊपर पड़ती है। नीचे चेयरिंग क्रॉस पर कुछ परिचित और कुछ अपरिचित चेहरे आ-जा रहे थे। हर क्षण किसी-न-किसी ओर से कुछ नए रंग आँखों के आगे आ जाते थे, और कुछ नई ध्वनियाँ कानों में पड़ने लगती थीं। बहुत से लोग किनारे की बेंचों पर बैठे सामने से गुज़रती दुनिया को देख रहे थे। मैं डायरी लिख रहा था। सामने बैठा हुआ एक जोड़ा ख़ामख़्वाह conscious हो रहा था कि मैं उसके बारे में लिख रहा हूँ। मुझे उस डायरिस्ट की याद आई जिसने

मुझे ऐसी consciousness में डाल दिया था और मैं मुस्कुरा दिया। सेक्रेड हार्ट्स की लड़कियाँ और उस्तानियाँ घूमने के लिए निकल आई थीं। उनकी वज़ह से और भी बहुत से लोग चेयरिंग क्रॉस पर जमा होने लगे थे। फर्नीचर वाला खन्ना (जूनियर) और मेट्रो का मालिक सरदार हरबंस सिंह पास आकर बातें करने लगे। दोनों का महाराजा चम्बा पर काफ़ी रुपया निकलता है। सरदार का शायद छह-सात हज़ार रुपया है। खन्ना बताता रहा कि वह आदमी अब भी अपनी पुरानी चाल पर ही चल रहा है और उसके जल्दी ही बिल्कुल बर्बाद हो जाने में कोई सन्देह बाक़ी नहीं। चेयरिंग क्रॉस पर भीड़ बढ़ रही थी। बन्दे की मेज़ और कुर्सी पर हर एक की आँख अटक जाती थी। अँधेरा होने लगा था। उठकर लैस हुए और सैर को निकल गए।

आज दिन में उपन्यास की कुछ रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। काफ़ी देर तक यही सोचा किए कि र...की छोटी डायरी का उपन्यास में किस रूप में उपयोग किया जा सकता है।

अपने दैनिक कार्यक्रम में कुछ तब्दीलियाँ करनी होंगी, जिससे रात को नींद जल्दी गालिब न होने लगे।

डलहौज़ी : 4-8-57

तीन दिन ख़रमस्तियों के सिवा कुछ नहीं किया। रात को बारह-बारह एक-एक बजे एक घूमते रहे। जालन्धर के कई परिचित यहाँ मिल गए—पुराने परिचितों में कालीचरण मिला। वह धार में नियुक्त है, चम्बा जा रहा था मिंजरों के मेले पर, एक दिन के लिए ठहरा था। कल पाल के नाम बारह पन्ने का पत्र लिखा था, पर अभी पोस्ट नहीं किया। आज दोपहर भर बिब्रा ने अपना हाथ देखा। साधारणतया वही बातें उसने बतलाईं जो अक्सर लोग बता दिया करते हैं। एक उसने यह कहा कि छत्तीसवें बरस तक हम लोगों का विच्छेद होगा—और कि सात-आठ बरस तक पुनर्विवाह सम्भव नहीं। इति श्री पद्मपुराणे द्वितीये खंडे तृतीयोऽध्यायः।

डलहौज़ी : 10-8-57

इन छह दिनों का इतिहास बहुत लम्बा नहीं—परन्तु इतने अर्से में कितना कुछ कितने नाटकीय ढंग से घटित हुआ है?

पाँच तारीख़ सोमेश अचानक पठानकोट से आ गया था। उसने कहा कि सम्बन्ध विच्छेद के लिए फारगती का रास्ता सबसे आसान और उपयुक्त है।

पहले मन नहीं माना कि इस मार्ग का अवलम्बन किया जाए। आधी रात तक अश्क और भाभी से बात होती रही। कई पुरानी घटनाएँ एक-एक करके दोहराई गईं।

अन्त में निश्चय हुआ कि सुबह ही शीला को तार देकर बुला लिया जाए, और उसके सामने यह प्रस्ताव रखा जाए।

दूसरे दिन सुबह जल्दी उठ गया और शीला को तार दे आया। रात तक तार के उत्तर की प्रतीक्षा की। 'एक्सप्रेस रिप्लाई पेड' तार था, पर लाइन ख़राब थी। तार आ-जा नहीं रहे थे। रात तक पता करते रहे। कोई उत्तर नहीं मिला। दूसरे दिन सुबह फिर जल्दी उठकर डाकख़ाने गया। तार आ गया था। शीला ने लिखा था कि वह उसी दिन आ रही है।

भाभी को जाना था। अपना ओरिजनल प्रोग्राम उनके साथ जालन्धर तक जाने का था। मगर तय हुआ कि उन्हें पठानकोट से गाड़ी चढ़ा आएँ, और वहाँ से खुद फारगती के सम्बन्ध में सारी स्थिति का पता कर आएँ, तब तक अश्क शीला से इस सम्बन्ध में बात करेंगे। जाने से पहले शीला की बस आ गई। बच्चे को एक आँख देखकर चल दिए। रास्ता भर वही बातें होती रहीं। भाभी कश्मीर मेल से चली गईं। शाम को सोमेश के जीजाजी से मशविरा किया। उन्होंने फारगती का मज़मून लिख दिया। सुबह पाँच बजे की बस से लौटना था, इसलिए रात दो बजे तक बियर लेकर बैठे रहे। चार बजे होटल के बैरे ने जगा दिया।

डलहौज़ी : 12-8-57

ऊँघते हुए बस का सफ़र किया और साढ़े आठ-नौ बजे डलहौज़ी पहुँचे। अश्क तब तक शीला से काफ़ी बातें कर चुके थे। फारगती का मज़मून लेकर उन्होंने फिर शाम तक बातें कीं–रात तक फिर हम तीनों में और शीला के साथ अपनी अकेले में बातें हुईं। यह तय हुआ कि दूसरे दिन सुबह पाँच की बस से ही चला जाऊँ–वहाँ जाकर काग़ज़ात तैयार करा रखूँ–अश्क शीला के साथ नौ बजे की बस से चलकर एक बजे पहुँच जाएँगे।

पठानकोट में सुबह से रात तक ज्वराक्रान्त से सब काम करते रहे। अदालत में जाकर स्टाम्प पेपर ख़रीदा, मज़मून टाइप कराया, अश्क और शीला को रिसीव किया, उन्हें होटल ले गए, वहाँ नहाना-धोना, कुछ देर नीत के साथ खेलते रहे। काग़ज़ पर शीला हस्ताक्षर करने लगी तो नीत उसका हाथ पकड़कर रोकता रहा। सोमेश ने उसे ले लिया तो रोने लगा। उसी समय एक चिड़िया बिजली के पंखे की चोट खाकर चारपाई पर आ गिरी। मैं कुछ देख नहीं रहा था, केवल दिमाग़ में कुछ शब्द गूँज रहे थे–

"हाय-हाय, चिड़िया मर गई!"

"चिड़िया नहीं, चिड़िया का बच्चा है।"

"नहीं, चिड़िया है!"

"मरी नहीं है, केवल चोट लगी है।"

"इसे उठाकर एक तरफ़ कर दो।"

"इधर मत करो, बच्चा उसे मसल देगा!"

"नहीं, कभी नहीं मसलेगा, वह उससे दूर रहेगा!"

"बाहर निकाल दो।"

"पड़ी रहने दो, क्या कहती है?"

फारगती पर सबके हस्ताक्षर हो गए तो सब लोग निकलकर कोर्ट की तरफ़ चले। शीला आगे थी, अच्छा नहीं लगा, उससे आगे जाकर दरवाज़ा खोल दिया। अदालत में जाकर पता चला कि रजिस्ट्रेशन का समय निकल चुका है। तहसीलदार इस समय रजिस्ट्रेशन करने के लिए तैयार नहीं है। तहसीलदार उस समय ख़ज़ाने में था। लोहे के सीखचों के दरवाज़े खुलते और बन्द होते दिखाई देते थे। सब लोग सशोपंज में थे कि क्या होगा।

अन्ततः तहसीलदार निकला। शीला ने उसके पास जाकर रिक्वेस्ट की कि वह आगरा से आई है, रुक नहीं सकती, अगले दिन रक्षाबन्धन है, फिर इतवार है, इसलिए वह उसी दिन रजिस्ट्रेशन कर ले। तहसीलदार ने सिर हिला दिया। क्लर्क ने अपने कमरे में ले जाकर एन्ट्रीज कीं, फिर कोर्ट में पहुँचे। एक वकील केस 'आर्ग्यू' कर रहा था—"हजूर, यह मुलजिम कैसे हो सकता है? यह बयान में कहती है कि पता नहीं कौन आया जबकि यहाँ कहती है कि यही शख़्स आया—भला, इस पर एतबार कैसे हो सकता है...फिर दो औरतों से क्या यह आदमी तगड़ा है? और क्या यह सूरत से डाकू नज़र आता है?"

...Argument के बीच तहसीलदार ने सिर उठाया, "मदन मोहन कौन है?"

"मैं!"

"जो कुछ इसमें लिखा है, ठीक है?"

"ठीक है।"

"और शीला देवी?"

'मैं हूँ!"

"यह सब ठीक है?"

"ठीक है।"

तहसीलदार सिर झुकाकर हस्ताक्षर करने लगा और उसने कहा, "जाओ।"

कश्मीर मेल से शीला चली गई। मन बहुत भारी हो गया। होटल में लौटने तक बुरी तरह डिप्रेशन छा गया।

रात को अश्क एक कामरेड के सामने कम्यूनिस्ट पार्टी की छीछालेदर करते रहे।

डलहौज़ी लौटकर भी दो दिन डिप्रेशन छाया रहा। कुछ काम करने को मन नहीं हुआ। कुछ पत्र लिखे, ख़ूब सैर की, रोज़ थककर चूर होते रहे, बातें कीं, कहकहे भी लगाए, लेकिन...लेकिन मन का भारीपन दूर नहीं हुआ।

पाल का पत्र कई दिन से पोस्ट नहीं हुआ। आज पोस्ट कर दूँगा। पत्र की नकल अपने पास रख रहा हूँ।

डलहौज़ी : 13-8-57

प्रो. एस.पी. मलहोत्रा ने लाला ज्ञानचन्द प्रिंसिपल के वक़्त का एक क़िस्सा सुनाया—गोडसे द्वारा महात्मा गांधी की हत्या कर दिए जाने पर कॉलेज के विद्यार्थियों में बहुत हलचल मची। जनसंघी विद्यार्थी गोडसे को हीरो मानते थे, कांग्रेसी उसे देशद्रोही समझते थे। होस्टल के कॉमन रूम में सावरकर का एक चित्र लगा था। कांग्रेसी विद्यार्थियों का हठ था कि उसे उतार दिया जाए जबकि जनसंघी विद्यार्थी किसी भी हालत में उसे उतारने न देना चाहते थे। पहले बहसबाजी हुई, फिर हाथापाई पर नौबत आ गई। दोनों ओर के ग्रुप गर्मी खाए हुए थे, प्रिंसिपल ज्ञानचन्द ने और कोई चारा न देखकर उनके क़दमों में अपनी पगड़ी बिछा दी और कहा कि यह उनकी इज़्ज़त का सवाल है, लड़के जैसे भी हो उनकी इज़्ज़त रखने के लिए शान्त हो जाएँ। लड़के शान्त तो हुए पर झगड़ा नहीं मिटा। अन्त में फैसला हुआ कि तस्वीर उल्टी लटका दी जाए। अगर ट्रिब्यूनल ने गोडसे से हक़ में फैसला दिया तो तस्वीर सीधी कर दी जाएगी, उसके विरुद्ध फैसला किया तो तस्वीर हटा दी जाएगी। तस्वीर उल्टी करने से पहले कपड़े में बाँधी गई तो जनसंघी विद्यार्थियों ने उसमें कुछ फूल बाँध दिए। उस पर फिर हंगामा हुआ और कपड़ा खोलकर फूल निकाले गए। जिस दिन अदालत का फ़ैसला आया, उस दिन तस्वीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिए गए।

पठानकोट में सोमेश चौधरी ने निकल्सन का क़िस्सा सुनाया। निकल्सन को रोज़लीन बक नामक लड़की से प्रेम हो गया था, जो सेक्रेट हार्ट्स स्कूल में अध्यापिका है। सर्दियों में रात के बारह-बारह बजे वह बर्फ़ लाँघकर बैलून से उसकी कोठी में आया करता था। यह मुहब्बत बहुत अर्सा चलती रही। आख़िर रोज़लीन के गर्भ रह गया।

रोज़लीन का बाप पादरी थी। उसे पता चला तो बहुत परेशान हुआ। इससे पहले कि वह इस मामले को लेकर कुछ करता, निकल्सन ने उसके पास जाकर कन्फेशन कर लिया। पादरी बाप गुनाह स्वीकार करने वाले ईसाई बेटे के गुनाह मुआफ करने के लिए मजबूर था।

पादरी ने निकल्सन से अनुरोध किया कि वह रोज़लीन से शादी कर ले। मगर निकल्सन ने अपनी ग़रीबी की तरफ़ संकेत करते हुए अपनी असमर्थता प्रकट की। पादरी ने उसे अपनी तरफ़ से दो हज़ार रुपया देने को कहा तो निकल्सन ने इस आधार पर इनकार कर दिया कि चर्च को देना उसका धर्म है, चर्च से लेना नहीं—वह ऐसा अधर्म का काम कभी नहीं कर सकता।

अन्ततः रोज़लीन को अबार्शन करानी पड़ी।

आजकल निकल्सन चाहता है कि किसी तरह यह शादी हो जाए क्योंकि रोज़लीन के अपने नाम से बीस हज़ार रुपया जमा है। इस मकसद से माउंट व्यू के चड्ढा ने परसों रोज़लीन की माँ को चाय पर बुलाया था। जब उसने उसके सामने निकल्सन का यह प्रस्ताव रखा तो रोज़लीन की माँ ने मुलायमी के साथ कहा, ''लड़का अच्छा है, उसका ख़ानदान भी अच्छा है। मगर पिछले दिनों ख़ामख़ाह लोगों ने उसके साथ लड़की का नाम लगाकर झूठी अफ़वाह फैला दी थी—इसलिए लड़की नहीं मानेगी...और कोई बात नहीं, यूँ वे ज़रूर उसके साथ लड़की की शादी कर देतीं, मगर...''

यहाँ के एक पहाड़ी नौकर का यह क़िस्सा सुनने में आया है कि उसे शादी करने के लिए रुपया जमा करना था, सो वह सात साल कड़ी मज़दूरी करता रहा, नौकरी करता रहा। अन्त में रुपया जमा करके उसने शादी की तो उसकी बीवी दो दिन बाद ही किसी के साथ भाग गई।

चार दिन हुए एक तेरह बरस की लड़की—जो पागल और गूँगी थी, सहसा सड़क के चक्कर पर कहीं गुम हो गई थी। चार दिन की तलाश में वह कहीं नहीं मिली। उसकी माँ बेहद परेशान हो गई थी। आज वह लड़की बकरोटा में ज्ञान निवास के नीचे खड्ड में गिरी मिली। वह चार दिन भूखी-प्यासी वहाँ बेहोश पड़ी बारिश में भीगती रही। शाम को उसे चारपाई पर डालकर घर लाया गया। (वे लोग वहीं ठहरे हैं जहाँ पहले कृष्णा रहती थी)। कहते हैं, लड़की के सारे चेहरे पर नीले दाग पड़ गए हैं।

बारह बरस के बाद आज एक कविता लिखी—'मिट्टी और पत्थर।'

डलहौज़ी : 15-8-57

कल डॉ. प्रेमनाथ के यहाँ तीन-चार घंटे कई विषयों पर बातचीत होती रही। हम लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आज की डेमोक्रेसी तथा totalitarian state दोनों समाज के स्वस्थ विकास के लिए सहायक नहीं है। दोनों systems ने healthy mind

की ग्रोथ को अवरुद्ध कर दिया है। हम लोग जो जीवन जी रहे हैं, वह नितान्त अवरुद्ध जीवन था। डॉ. प्रेमनाथ समझदार आदमी हैं, उसकी बीवी भी अच्छी है, पर वह अंग्रेज़ी तरज़ से हिन्दी बोलती है, यह मुझे अच्छा नहीं लगता।

रात देर तक ड्रिंक करते रहे, इसलिए सुबह देर से उठे। सोमेश रात साथ ही सोया था। स्वतन्त्रता दिवस के उपलक्ष्य में सुभाष चौक (चेयरिंग क्रॉस) में विशेष कार्यक्रम आयोजित था, जो सिवाय लाउडस्पीकर की आवाज़ के और कुछ भी नहीं था। शहीदे-आज़म भगतसिंह के बड़े भाई ने लीडराना भाषण दिया जिसमें गांधी जी के धर्म की व्याख्या की, प्रधान ने उनकी प्रशंसा की, किसी और ने प्रधान की प्रशंसा की। बच्चों का कार्यक्रम हुआ जिसमें कुछ वच्चे खबरें सुनाते-सुनाते भूल गए और कुछ इस तरह की खबरें सुनने को मिलीं—24 सितम्बर—तात्या टोपे...तात्या टोपे...पर... लालक़िले...लालक़िले ने क़ब्ज़ा कर लिया।...एक ब्लैक मार्केटियर सरदार प्रधान के आसन पर अकड़े बैठे थे। बच्चे बेहद शोर कर रहे थे और और लोग सुनने के अतिरिक्त हर काम कर रहे थे।

बाद दोपहर पंजपुला में छित्र (कुश्ती) देखने चले गए। वहाँ थोड़ी देर के हल्ले गुल्ले के बाद पहाड़ी पट्टी से बग़ैर पत्ती की चाय पीकर चले आए।

लौटकर प्रमिला शर्मा के यहाँ चले गए, छह नम्बर फ्लैट में। उसकी माँ और आंटी बोलने में अपना सानी नहीं रखतीं। अपने विवाहित जीवन के मसले को लेकर दोनों अपनी-अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करती रहीं। उसकी माँ self complacent है और आंटी सिनिक।

रात चेयरिंग क्रॉस पर आवारा घूमते रहे। सरदार हरबंस सिंह के अनुरोध पर उसके साथ रम पीने बैठ गए।

डॉ. प्रेमनाथ ने कल प्रो. परसराम (एफ.सी. कॉलेज) की एक बात बताई थी। प्रो. परसराम का आर्य समाज के उद्भव के सम्बन्ध में विचार था कि अंग्रेजों के राज में जब बहुत से लोग बाबू भरती हो गए, और उन्हें रोज़-रोज़ जूते पड़ने लगे तो उन्होंने यह एक ढंग निकाला। छह दिन तो वे आराम से जूते खाते और सातवें दिन आर्यसमाज मन्दिर में जमा होकर बाँहें उठाकर कहते, 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।'

कल से अब लगकर काम करना चाहिए।

डलहौज़ी : 16-8-57

मन सहज स्थिति पर है—यह सम्बन्ध-विच्छेद आवश्यक था और स्वाभाविक था। मस्तिष्क उलझा हुआ था, अब सुलझ रहा है। There is a lot of peace in the

mind. I feel more energetic, more serious, more confident and above all, very fresh.

I have done some work today. Shall work regularly now onwards.

But I must make adjustments in my food habits.

The only thing that can justify this divorce is to do hard work...consistent hard work. That is a must.

डलहौज़ी : 17-8-57

अभी थोड़ी देर पहले हम लोग नीचे मैट्रो होटल के डाइनिंग रूम में बैठे थे। दो पठानकोट से आए हुए नौजवान थे, जिनमें से एक श्रीनगर का टिम्बर मर्चेन्ट है। उस आदमी को यह वहम है कि उसे दिल की बीमारी है। डॉक्टर बताते हैं कि उसे कोई सीरियस बीमारी नहीं, बल्कि कोई बीमारी ही नहीं, मगर वह चौबीस साल की उम्र में अब उस वहम के मर्ज़ का शिकार है सो है, वह विश्वास कर चुका है कि उसका मर्ज़ ला-इलाज है। यही बीमारी बहुत बरस अपने मामा सरदार महिन्द्र सिंह को रही है। शिमले में कुछ दिन हमें भी ऐसा ही वहम हुआ था। एक और बुजुर्गवार जो वहाँ बैठे थे उनके लड़के को भी यही बीमारी है–

यह शौक़िया बीमारी भी ख़ूब चीज़ है!

आज जैसी तेज़ बारिश पहले डलहौज़ी में नहीं हुई। बार-बार चकाचौंध कर देने वाली बिजली चमकती है और बादल की गरज से हर चीज़ काँप जाती है। पानी बरस नहीं रहा, उड़ेला जा रहा है। अश्क के घर से आते हुए बरसाती कोट के बावज़ूद बुरी तरह भीग गए थे। अब जगह-जगह से छत चूने लगी है। रात कैसी कटेगी, खुदा ही जानता है। काग़ज़ों का डर है कि ये न भीग जाएँ। किताबें पड़ी हैं, और अपना आप है! पानी दो-चार जगह से और बरसने लगा तो रात भर कमरे में शतरंज खलेंगे– चीज़ें यहाँ से हटाकर वहाँ और वहाँ से हटाकर यहाँ रखते रहेंगे। जहाँ बिस्तर बिछा है उस दिन वहाँ से छत चूती रही थी। आज भी टप-टप होने लगी तो...खुदारा, यह बिजली, यह गरज है या मुसीबत है। अभी ऐसा तेज़ धमाका हुआ है जैसे कई शक्तिशाली विस्फोटक एक साथ फूट पड़े हों। और यह धाराधार मेह–सर्रा...की तेज़-आवाज़, फिर बिजली, फिर कड़क...यह वर्षा कभी थमेगी भी? अब छत से टपकती हुई बूँदें बाँह और कन्धे पर पड़ रही हैं। दूर झाड़ियों की ओट में छिपी हुई दुनिया के लिए शायद वर्षा संजीवनी हो–लेकिन इस समय इन्सान के लिए उसने रात को कितनी वाइल्ड और भयानक बना दिया है?

जब बिजली चमकती है तो आकाश की ओर देखता हूँ। क्षण भर के लिए दूर-दूर तक का विस्तार आलोकित हो उठता है जिसमें घने सफ़ेद बादलों की कुछ आकृतियाँ परिलक्षित हो उठती हैं। यह विस्तार की रेखाओं का उभरना हृदय को पुलकित भी करता है। लगता है यह विस्तार ही सत्य है, इससे नीचे किन्हीं भी सीमाओं में बद्ध होकर रहना छोटापन है, उन सीमाओं में सोचना हल्कापन है। इतने बड़े विस्तार में व्यक्ति की नगण्य सत्ता ही क्या है? क्या सचमुच इस विस्तार के उपभोग के रूप में व्यक्ति की सत्ता है। इन्सान ने विस्तार की इन सीमाओं पर काबू पाकर भी कितना काबू पाया है? प्रकृति के आवेश के सामने वह आज भी कितना निरीह लगने लगता है। बिजली का एक आघात इन्सान के शताब्दियों के प्रयत्न और मनसूबों को बरबाद कर देता है।

...यह महावृष्टि–यह अणु और उद्जन बम परीक्षणों का ही परिणाम है। यह भी तो सम्भव है कि धरती के एटमासफियर में और किसी ग्रह की विकसित शक्तियाँ अपने परीक्षण कर रही हों–जैसे कि हम चाँद पर परीक्षण करना चाहते हैं।

विस्फोट के बाद विस्फोट, विस्फोट के गर्भ से ही फूटता हुआ दूसरा विस्फोट–यह रात भुलाने वाली रात नहीं है। बल्कि यह रात तो सन्देह में डाल देने वाली है कि उसके बाद सुबह होगी भी या नहीं–सुबह होगी अवश्य–किसी एक या किन्हीं हज़ार व्यक्तियों के लिए भले ही न हो...और उन व्यक्तियों में एक यदि...

अमाँ, यहाँ बैठे डायरी लिख रहे हो, वहाँ सारा बिस्तर भीग गया है!

डलहौज़ी : 21-8-57

कई दिनों से आकाश में पुच्छल तारा (धूमकेतु) दिखाई दे रहा है। सड़क पर चलते हुए लोग रुककर उसे देखने लगते हैं। फिर चलते हैं, फिर रुक जाते हैं और फिर देखने लगते हैं। कहते हैं कि जब-जब यह तारा दिखाई देता है, कोई-न-कोई विपत्ति आती है, युद्ध होता है, भूकम्प आता है या तूफ़ान आते हैं। लोग टोलियाँ बाँधकर इस बात की चर्चा करते हैं कि आज दुनिया भर में हो रही अतिवृष्टि और सब जगह फैल रही बीमारी का कारण यह पुच्छल तारा ही है।

हम लोग भी आज ठंडी सड़क के एक कोने पर खड़े होकर उस तारे को देखते रहे। पुच्छल तारे से कुछ उधर शुक्रतारा चमक रहा था और उसके कुछ ही पीछे एक और तारा। आकाश साफ़ होने के कारण दूर-दूर तक बिखरे हुए असंख्य तारे अपनी हल्की-हल्की लौ में टिमटिमाते प्रतीत हो रहे थे। दाईं ओर आकाश गंगा का विस्तार था। असंख्य तारक मंडल को देखते-देखते बुद्धि पथराने लगी। कितना अच्छा था वह ज़माना जब इन्सान यह विश्वास करके जी लेते थे कि ये तारक केवल कुछ आत्माएँ

हैं, जिनके उज्ज्वल कर्मों ने उन्हें आकाश में जगह दे दी है। बचपन में हम भी इस विश्वास से चालित थे। बड़े हमें झुठलाते थे, पर हम सच्चे हृदय से मानते थे कि अमुक तारा हमारी परनानी का है, अमुक तारा हमारे बाबा का है और अमुक देवीदयाल मामा का। जब मामी की मृत्यु हुई थी, तो हम आकाश में उसका तार ढूँढ़ते रहते थे, क्योंकि उसकी सच्चरित्रता के कारण हमें तो सन्देह ही नहीं था कि आकाश की बिरादरी में उसे निश्चित स्थान प्राप्त हुआ होगा।

परन्तु कुछ भ्रम अध्यापकों ने तोड़ दिए, कुछ वैज्ञानिकों की छानबीन ने और आज हम पहले से कहीं अबोध हैं, क्योंकि यह विश्वास करने के लिए मज़बूर हैं कि हर तारा एक दुनिया है—और इस दुनिया से कहीं बड़ी दुनिया—कई बार कई हज़ार गुना बड़ी दुनिया। और इतनी दुनियाओं का यह विश्व क्या फिर भी एक सूत्र, एक ही निर्मातृ शक्ति द्वारा चालित है—वह शक्ति अपने प्रति चेतन हो या अचेतन।

"It is too much! How to stand the feeling of such vastness and such multitude?"

बार-बार यह exclaim करते हुए आगे चल दिए। मन बहुत उदास हो गया। इतनी-इतनी दुनियाएँ—और हमारी चिरन्तन और शाश्वत सत्य सम्बन्धी बातें। कितनी नगण्यता है?

गर्म सड़क से सौ-डेढ़ सौ मील का मैदान का विस्तार देखा जा सकता है। पहाड़ी शृंखलाएँ ज़रा छोटी होकर एकदम समाप्त हो गई हैं, फिर ज़मीन के हल्के-हल्के उभार हैं जैसे थाट के प्रदेश में दिखाई देते हैं। बीच में एक आड़ी-सी ख़ाकी रेखा है। यह नदी चम्बी है। चम्बी पठानकोट तक बिलकुल सीधी जाती है, और वहाँ से एकदम बाएँ हाथ को मुड़ जाती है। चम्बी से काफ़ी बाएँ को हटकर टेढ़ा-मेढ़ा बिखरा हुआ व्यास का विस्तार है। व्यास ज़रा बाईं ओर को उठता हुआ गया है और आगे जहाँ चम्बी उसमें आ मिलती है तो उसका पाट चौड़ा हो जाता है, वहाँ से वह ख़ासी बाईं करवट ले लेता है और फिर उसी तरह बाईं ओर को झुकता-सा लगभग सौ का कोण बनाकर अपने फैलाव से एक अर्धचन्द्र की सृष्टि कर देता है। दूर क्षितिज को छूकर फिर उसका पाट बहुत चौड़ा होकर चमकता है। उसके आगे पानी की रेखा दिखाई नहीं देती।

चम्बी के दाईं तरफ़ रावी है, जिसमें इन दिनों ख़ूब बाढ़ आ रही है। रावी कई छोटी-छोटी धाराओं में बँटती, फिर एक धारा में आती, फिर बँटती हुई बहुत नीचे पहाड़ियों के पीछे गुम हो गई है, थोड़े व्यवधान के बाद उसकी लकीर फिर आगे निकलती है और जैसे व्यास से दूर रहने के लिए दाईं ओर को करवट लेती जाती है। कुछ आगे एक और ख़ाकी लकीर उसमें आ मिलती है, यह कहना कठिन है कि

यह भी पानी ही है या केवल मिथ्या भ्रम! बहुत आगे जाकर वैसी ही एक और रेखा उसमें आ मिलती है।

पहाड़ से नीचे तीन दरियाओं के इस विस्तार को देखते हुए हृदय बहुत पुलकित होता है। रात के समय पानी की रेखाएँ गुम हो जाती हैं तो पहाड़ दूर-दूर बिखरे हुए कुछ और ही समाँ बाँधते हैं और मैदान में दूर-दूर के नगरों की बत्तियाँ चमकने लगती हैं। बकलो, पठानकोट, नूरपुर—वगैरह की बत्तियाँ तो साफ़ locate हो जाती हैं। पठानकोट के तो सिनेमा की बत्ती भी अलग नोट की जा सकती है। पठानकोट की बत्तियाँ अपेक्षतया बहुत पास नज़र आती हैं। उनमें बहुत पीछे रावी के बाईं ओर तक व्यास के दोनों ओर बत्तियों की मद्धम-मद्धम रेखाएँ दिखाई देती हैं। अनुमानतः रावी के किनारे दिखाई देनेवाली बत्तियाँ लाहौर की हैं और व्यास के किनारे दिखाई देनेवाली अमृतसर और जालन्धर की। और इन रोशनियों के और अपने बीच के विस्तार में कभी-कभी जुगनू चमक आते हैं, जो सारे दृश्य के प्रभाव को accentuate कर देते हैं।

होटल के खाने से ऊबकर आज सामान अपना ख़रीद लाए और खाना बनाने का काम छोटे लड़के के सुपुर्द कर दिया है, जो चार दिन से अपनी सेवा में है। यह अरेंजमेंट भी नहीं रुचा तो चुपचाप एक दिन बिस्तर बाँधकर बस के अड्डे की तरफ़ रवाना हो जाएँगे। इसी सिलसिले में दो-तीन दिन लिखने-पढ़ने से क़तई नाकारा रहे।

जी.सी.बी. की लड़की का चेहरा देखकर ही लगता था कि वह बीमार है। अमीचन्द की बात में कुछ तथ्य ज़रूर था कि कोई ख़ास वज़ह है जो उसे यहाँ लाया गया है और वह पेट पर बोतल रखे सारा दिन बिस्तर में पड़ी रहती है और कि डॉ. फ़क़ीर चन्द कहता था कि...

चर्चा है कि डॉ. भार्गव को फिर पंजाब के केबिनेट में लिया जा रहा है। यह वही आदमी है, जिसे पाँच एक बरस पहले ही कांग्रेस की मेम्बरशिप से भी अलग कर दिया गया था। इसके साथ ही पृथ्वीसिंह आज़ाद का नाम भी पंजाब की राजनीति से निकल गया था। पर आज शतरंज के खिलाड़ियों को फिर इस मोहरे की ज़रूरत महसूस हो रही है। अब अढाइवे घर मार करनेवाला मोहरा क्या गुल खिलाएगा, यह अभी देखना रहता है।

उधर परसों की ही तो ख़बर थी कि शायद शेख अब्दुल्ला को रिहा कर दिया जाए। बख़्शी और सादिक की कशमकश में वह सीधी और तिरछी मार करनेवाला बड़ा मोहरा क्यों लाया जा रहा है?

राजनीति है!

A game of thick-skinned people, who corrupt religion in the name of religion, violate virtue in the name of virtue, assail truth in the name of truth, outrage humanity in the name of humanity. It is the game of people who keep just one shutter of their minds open—

राजनीति?

A game where the Truth and Beauty are just the tools and not the ends!

डलहौज़ी : 23-8-57

रात कुछ देर मिस्टर वर्मा के गप एक्सचेन्ज में बैठे रहे।

मिस्टर वर्मा उन आदमियों में से हैं जो अपने को man of consequence समझते हैं और जिन्हें ज़िन्दगी से हमेशा शिकायत रहती है कि उन्हें उनकी योग्यता का मूल्य नहीं मिला। पहले मिस्टर वर्मा मिलिट्री में थे। वहाँ से रिटायर होकर डलहौज़ी में होटल खोल लिया। हर साल होटल में घाटा देते रहे। उनके होटल के बारे में यह बात मशहूर है कि उनके नौकर टर्किश टॉवल से कड़ाहियाँ साफ़ किया करते थे।

एक दिन मिस्टर वर्मा ने स्वयं ही यह क़िस्सा सुनाया–

"साहब, हिन्दुस्तानी आदमी को होटल में जाकर बैठने की तमीज़ कहाँ है? एक ज़माना था जब यहाँ ठंडी सड़क पर सिर्फ़ अंग्रेज़ चलता था, हिन्दुस्तानी को सड़क पर चलने की इजाज़त नहीं थी। कोई चलता था तो सिपाही उसे बाँह से पकड़कर सड़क से हटा देता था। अंग्रेज़ राज करना जानता था, जानता था ज़िन्दगी किसे कहते हैं। अंग्रेज़ के ज़माने में आदमी चार पैसे कमा सकता था। अंग्रेज़ को इस बात में खुशी होती थी कि दूसरा उससे कुछ कमाए। वह सिर्फ़ सर्विस माँगता था। और हिन्दुस्तानी?...एक क़िस्सा सुनिए। एक बड़े अफ़सर की बहन दो साल हुए मेरे होटल में आई। तब मैं डलहौज़ी होटल चलाता था, वहाँ अब माउंटव्यू है। वो सोफ़ासेट और वो चमचम करती मेज़ें और फर्स्टक्लास बाथरूम का फ़र्श। किसी हिन्दुस्तानी का चेहरा उतना नहीं चमकता जितना वह फ़र्श चमकता था। तो साहब, वहाँ वह आई, फ़र्स्टक्लास साड़ी पहने। बैरे ने एक लेडी की तरह उसका स्वागत किया, उसे बैठाया, और उससे ऑर्डर माँगा। बोली कि एक समोसा लाओ!...वही समोसा बाबू सिंह दो आने का देता है, वही मैं दो आने का देता था–और सर्विस के साथ। बैरा मेज़ पर प्लेट रख गया, छुरी-काँटा रख गया और समोसा और साथ छोटी प्लेट में पुदीने की चटनी दे गया। आप बोली, 'टोमेटो सॉस लाओ!'

"मैं उठकर पास गया। मैंने कहा 'मैडम, चटनी बैरे ने दे दी है, उसके साथ खा लीजिए।' बोली, नहीं टोमेटो सॉस चाहिए।' मैंने कहा कि मेम साहब समोसे के साथ टोमेटो सॉस तो नहीं मिल सकती। इस पर उसके माथे पर तेवर पड़ गए। बैरे से

बोली 'अच्छा नेकपिन लाओ!' मैंने कहा कि मैडम नेपकिन भी नहीं मिल सकता। बताइए—दो आने का समोसा और दो आने नेपकिन की धुलाई! कहने लगी कि 'यू आर होपलैस'। मैंने कहा कि आप यहाँ से तशरीफ़ ले जाइए, मुझे आप जैसे ग्राहकों की ज़रूरत नहीं।''

''बताइए,'' अन्त में वर्मा साहब बोले, ''अब ऐसे-ऐसे तो लोग आने लगे हैं। मैं अंग्रेज़ के ज़माने को याद करता हूँ तो रोना आता है। वे इन लोगों को ठीक जगह पर रखते थे। रास्ते से कम्बख़्तों को गुज़रना नसीब नहीं होता था, अब दो आने के समोसे के साथ नेपकिन माँगते हैं!''

''वर्मा साहब, आप यहाँ कितने साल से हैं?'' मैंने पूछा।

''थर्टी सिक्स ईयर्स,'' वे बोले। ''जब मैं पहले पहल यहाँ आया था तो पठानकोट से यहाँ तक का भाड़ा पता है क्या लगता था? छब्बीस रुपया!''

''तब तो आपने शुरू के दिन बहुत तकलीफ़ में काटे होंगे।''

''क्यों?''

''आप कह रहे हैं कि हिन्दुस्तानी को सिपाही सड़क से गुजरने नहीं देते थे...''

"There is a difference between an Indian and Indian, my dear!"

वर्मा साहब बोले।

मुझे अपनी कहानी 'जानवर और जानवर' याद आ गई।

वर्मा साहब की ख़ूब घनी नीचे को झुककर कोनों में अकड़ी हुई सफ़ेद मूँछें हैं। लम्बे-तगड़े आदमी हैं। सारा दिन आप गप एक्सचेन्ज में अपनी कुर्सी पर बैठे ग्राहक की प्रतीक्षा करते हैं। पहले अच्छे सिगरेट रखते थे, अब सिर्फ़ तार और लैम्प का स्टॉक रह गया है। पहले मटन कटलेट्स का इश्तिहार करते थे। ग्राहक नहीं आए तो क़ीमा रोगन जोश का बोर्ड लगाने लगे। फिर भी ग्राहक नहीं आए तो बोर्ड पर चाक से 'छोले भठूरे' लिखने लगे। ख़्याल था कि हिन्दुस्तानी छोले-भठूरे पर ज़रूर मरेंगे, पर वे नहीं मरे तो छोले की परात तथा भठूरे का तवा सड़क पर निकलवाकर वहाँ बेंच लगवा दी। अब परात उठवाकर चेयरिंग क्रॉस भिजवाने की क़सर बाक़ी है।

ग्राहक अब भी नहीं आते हालाँकि वर्मा साहब मेज़ों पर इलस्ट्रेटेड वीकली, रीडर्ज डाइजेस्ट, फ़िल्मफेयर तथा दो-तीन डेली पेपर्स बिछा रखते हैं। कभी कोई भूला-भटका चाय पीने चला जाए तो बैरा जग लिए हुए किचन के दरवाज़े से हिलता है, काउंटर पर जाकर पैसे माँगता है और दूध लेने बाज़ार चला जाता है। मिस्टर वर्मा पिंजरे में बन्द शेर की तरह रेस्तराँ के अन्दर और बाहर चक्कर लगाते रहते हैं। रोगनजोश और साग-मीट अन्दर बनता ज़रूर है पर उसके खानेवाले अक्सर रात को वे आप और उनके लड़के-बच्चे ही होते हैं।

डलहौज़ी : 24-8-57

रात 'ज्ञानोदय' का संस्मरण अंक देखते हुए सहसा स्वामी ज्ञानानन्द का चित्र मस्तिष्क में उभर आया।

तब हम बहुत छोटे थे। सातवीं क्लास से स्कूल छोड़कर संस्कृत पढ़ने के लिए 'प्राज्ञ' कथा में दाख़िल हुए थे। 'प्राज्ञ' के बाद 'ओनली इंगलिश' में मैट्रिक करना था। उन्हीं दिनों अचानक एक दिन एक बंगाली महात्मा पिताजी के दफ़्तर में आ गए। उन्होंने बताया कि वे बहुत कष्ट में हैं, कलकत्ता यूनिवर्सिटी में बी.ए.बी.एल. तक शिक्षा पाए हुए हैं। और किसी की सहायता नहीं चाहते, कुछ काम करना चाहते हैं, अगर उन्हें कोई ट्यूशन-ऊशन दिला दी जाए तो वे उपकार मानेंगे। पिताजी ने तुरन्त ही उन्हें हम लोगों को अंग्रेज़ी पढ़ाने के लिए रख लिया। मेरे अतिरिक्त मेरी बहन कमला और एक और लड़का जगदीश भी उनसे पढ़ने लगे।

उनकी अंग्रेज़ी बहुत अच्छी थी, इसमें सन्देह नहीं। पर वे बिना किसी टेक्स्ट बुक के पढ़ाते थे, इससे हमें बहुत दिक़्क़त होती थी। मगर न उनसे कुछ कह सकते थे, न उनकी शिकायत कर सकते थे। वे अपने चारों ओर अजब mystery का जामा ओढ़े रहते थे। दिन के लगभग दो बजे वे आते थे—हम लोग उनके आने से पाँच-दस मिनट पहले ही बैठक के कोने में अपनी कुर्सियों पर जम जाते थे क्योंकि वे समय के बारे में बहुत 'पंक्चुअल' थे, और जब कभी ख़ुद लेट हो जाते थे तो हमारे क्लाक पर एक हिकारत और शिकायत की नज़र डालकर पढ़ाने बैठते थे। यह कभी ही होता था, वैसे हर रोज़ ठीक वक़्त पर उनकी आकृति, गेरुए कपड़ों में लिपटी, एक हाथ में काग़ज़ और दूसरे हाथ में कमंडल लिए सीढ़ियों से प्रकट होती थी। हम लोग सीधे हो जाते थे। वे आकर बैठते ही हमारे किए हुए काम की तलब करते थे और हम कभी एक-दूसरे की स्पर्द्धा में कॉपियाँ आगे बढ़ा देते थे और कभी आँखें झुकाए एक दूसरे की अपराधी भाव-भंगिमा का अध्ययन करते रहते थे। उन्हें सबसे ज़्यादा शिकायत मुझसे होती थी क्योंकि काम करने के मामले में उनके शेष दोनों शिष्य अधिक फ़रमाबरदार थे। हर सप्ताह वे हमारा टेस्ट लेते थे और उन्हें इस बात से सख़्त कोफ़्त होती थी कि टेस्ट में मैं कमला और जगदीश से अधिक अंक ले जाता था। वे कभी इसे 'फ्लूक' कह देते थे और कभी यह कहते थे कि उन दोनों के कम नम्बर भी ज़्यादा हैं, क्योंकि इनकी अंग्रेज़ी की बैकग्राउंड कमज़ोर है और मेरे ज़्यादा नम्बर भी कम हैं क्योंकि मैं पाँचवीं से सातवीं क्लास तक अंग्रेज़ी पढ़ चुका हूँ।

दसवीं के बाद कुछ दिन हम उनसे बंगला सीखते रहे। उन्होंने कलकत्ते से हमारे लिए 'राजभाषा' सीरीज की पुस्तकें मँगवाईं, बड़ी लगन और बड़े उत्साह से हमें पढ़ाया, पर हम 'आई-ऊई' से आगे नहीं बढ़ पाए। हाँ, उनकी सिखाई हुई कुछ कविताएँ ज़रूर याद कर लीं, जो सम्भवतः उनकी अपनी ही रचना थीं—

शोनो रे पागलेर चेला!
पागल हौवा नय सामान्य,
देबेर मान्य पागल भोला।
आर एक पागल
बीर हनुमान
से जे
बुक चिरिये देखाय राम नाम
छिंड़िल मुकतार माला।

मुझे याद है कि उन्होंने हमें एक अपना रचा हुआ बंगला नाटक भी लिखाना आरम्भ किया था। पर जैसा कि अधिकतर साहित्यिक प्रवृत्ति के लोगों के साथ होता है, उन्हें हमारी वय और योग्यता और ग्रहणशक्ति का ध्यान नहीं रहता था। 'अज्ञता मने करूँ आपनी ने बोलबेन न के बोलबे'—उनके नाटक का यही एक वाक्य जिस किसी तरह मेरी स्मृति में अटका रह गया है।

हमारे मैट्रिक का इम्तिहान दे चुकने पर एक बार वे निराश होकर कहीं चले गए थे, पर साल भर बाद, जब हमें 'ओनली इंगलिश' में इंटर का इम्तिहान देना था, फिर उसी तरह एक दिन नमूदार हो गए थे।

इस बार वे पहले से अधिक आध्यात्मिक बनकर लौटे थे, या हमें वे पहले से अधिक अधिकारी समझने लगे थे। वे अनुवाद में हमें रोज़ 'बाबाजी और फ़क़ीर साहब' के उच्च कोटि के आध्यात्मिक संवाद लिखाया करते थे, जिनमें बाबाजी जिज्ञासा करते थे और फ़क़ीर साहब उत्तर देते थे। अधिकांश प्रश्न न हमारी समझ में आते थे न उत्तर। हम किसी तरह सिर खुजला-खुजलाकर उनके वाक्यों का शाब्दिक अनुवाद कर देते थे, जिससे उन्हें सख़्त निराशा होती थी। वे हमारी ज़बान में वही फ्लो देखना चाहते थे जो उनकी अपनी ज़बान में था और अन्त में झल्लाकर वे सारे अंश का स्वयं अनुवाद कर देते थे। अपना किया हुआ अनुवाद पढ़ते हुए उनके ओंठों पर अनायास मुस्कराहट आ जाती थी। जब हम उनके अनुवाद की प्रशंसा करते थे तो वे हँसकर हममें से किसी एक की पीठ थपथपा दिया करते थे और फैले हुए ओंठों से जो एकाध वाक्य बोलते थे, उससे उनके मुँह का कुछ भाग कॉपियों के काग़ज़ों पर आ पड़ता था।

उन आध्यात्मिक प्रकरणों में जिज्ञासा करनेवाले बाबाजी तो वे स्वयं हैं, यह हम जानते थे पर फ़क़ीर साहब कौन हैं? यह बात उन्होंने 'माई स्टोरी' में छिपा रखी थी और हम उस सम्बन्ध में तरह-तरह से प्रश्न करके और अनुमान लगाकर हार जाते थे। आज समझ में आता है कि 'फ़क़ीर साहब और बाबाजी' एक ही व्यक्तित्व के दो पक्ष थे—पर तब हम फ़क़ीर साहब को देखने, उनसे बात करने के लिए बहुत

व्याकुल रहते थे। जब हम हठ करके उनसे कहते कि वे हमें किसी दिन ज़रूर फ़क़ीर साहब से मिला दें, तो वे हँसकर टाल देते।

'बाबाजी और फ़क़ीर साहब' के संवाद इतने बढ़ने लगे कि उन्हें अनुवाद के लिए देना लगभग असम्भव हो गया। धर्म, संस्कृति, राजनीति, कोई विषय नहीं बचा था जिस पर उनके संवाद न होते। जब वे संवाद पढ़कर सुनाते तो हम मेज़ के नीचे एक दूसरे को पैर मार रहे होते। परन्तु उन्हें अपनी उन रचनाओं में अधिकाधिक रस आने लगा था। इसलिए वे बाबाजी और फ़क़ीर साहब के संवाद काफ़ी विस्तार से लिखकर लाने लगे, जो वे हमारे पढ़ने के लिए छोड़ जाते। फुलस्केप के पन्ने बीच से आधे करके वे पेन्सिल से उनके दोनों तरफ़ लिखते थे। जब वे दूसरे दिन हमसे उन संवादों के सम्बन्ध में सवाल पूछते तो हम एकदम कोरे से एक दूसरे की तरफ़ देखने लगते। कमला फिर भी किसी तरह उनका कुछ-न-कुछ अंश पढ़ लेती थी, जिससे मुझे और जगदीश को बहुत लज्जित होना पड़ता था। अब वे हम तीनों के लिए अलग-अलग संवाद लिखकर लाने लगे। हम रोज़ निश्चय करते कि आज के काग़ज़ ज़रूर पढ़ेंगे और कल मास्टरजी के आने पर बहन को मात देंगे, पर मास्टरजी के जाते ही खेल-कूद में कुछ इस तरह मसरूफ़ होते कि दूसरे दिन दो बजे ही होश आता कि मास्टर साहब कुछ लिखकर पढ़ने के लिए दे गए थे। मास्टर साहब अब बहन के लिए तो बीस-बीस शीट लिखकर लाते और हमारे लिए चार-पाँच। हम वे चार-पाँच शीट भी रोज़ अलमारी में तह लगाकर रख देते...। मास्टर साहब से यह ज़रूर कहते कि कभी हम वे सबके सब काग़ज़ एक साथ ही पढ़ेंगे, इसलिए वे हमारे लिए लिखकर लाया ज़रूर करें, क्योंकि इस बात में हमें बहुत हेठी लगती थी कि बहन को तो रोज़ इतने शीट्स मिलें और हमें एक भी नहीं।

अब मास्टरजी हमें लम्बे-लम्बे धार्मिक पैसेज़ अनुवाद करने के लिए लिखाया करते थे। हिन्दी से अंग्रेज़ी में अनुवाद करने के लिए वे कई बार पहले संस्कृत के श्लोक लिखाते, फिर उनके अर्थ और तब उनका अनुवाद करने के लिए कहते। धीरे-धीरे वे श्लोक रासपंचाध्यायी से अधिक लिए जाने लगे और मास्टर साहब आँखें बन्द किए 'सुरतवर्द्धनम्' इत्यादि लिखकर उसका अनुवाद हमें करने को देते। कुछ संस्कृत पढ़ चुकने के कारण कई श्लोक हमें बहुत अश्लील लगते और उन्हें लिखते-लिखते हमारे कान लाल होने लगते। मास्टर साहब बड़े इत्मीनान से हमें अर्थ लिखाने लगते—"मेरे श्याम सुन्दर का मधु अधर चुम्बन जिसके साथ रात्रि भर जागरण के कारण राधा का मुरझाया हुआ मुखमंडल भी खिला हुआ-सा प्रतीत होता है—मेरे उस श्यामसुन्दर का मधु अधर चुम्बन..."

एक दिन इस अधर चुम्बन के प्रकरण में ही हमारी दादी बैठक में आ पहुँचीं। उन्होंने रूखे स्वर में मास्टरजी को आदेश दिया कि वे बच्चों को यह सब पढ़ाने की

बजाय कोई और चीज़ पढ़ाया करें। मास्टर साहब इससे बहुत व्यथित हुए और कई दिन उन पर अस्वाभाविक चुप्पी छाई रही।

हम तीनों को पढ़ाकर उन्हें महीने में कुल अट्ठारह रुपए मिलते थे, जिनमें से शायद चार रुपए वे कोठरी का किराया देते थे, और शेष से अपना गुज़ारा चलाते थे। क्योंकि उन्हें इसमें कठिनाई का अनुभव होता था इसलिए पिताजी ने कन्या महाविद्यालय की एक अध्यापिका की ट्यूशन उन्हें और दिला दी—शायद छह या आठ रुपए। पर वह अध्यापिका विधवा थी और उसका नाम था श्यामा। एक मुहल्ले में रहती थी। मुहल्ले में पीढ़ियाँ बिछाकर बैठी हुई स्त्रियों के झुरमुट में से होकर मास्टर साहब उसे पढ़ाने जाते थे। वहाँ भी शायद उन्होंने अनुवाद के लिए कोई ऐसा ही पैसेज दिया या क्या हुआ—एक दिन मुहल्ले में बवंडर उठ खड़ा हुआ। गली की स्त्रियों ने उन्हें देखते ही जली-कटी सुनाना शुरू किया, और वे श्यामा के घर तक पहुँचने से पहले ही लौट आए। उस दिन वे बहुत उत्तेजित थे। संसार के प्रति उनकी विरक्ति जैसे उस दिन चरम पर पहुँच गई थी।

वे बीमार हो गए। उनकी बीमारी के दिनों में मैं उनका खाना लेकर उनकी कोठरी में जाता और जगदीश वहीं रहकर उनकी सेवा करता। उन दिनों वे हम दोनों पर बहुत प्रसन्न हुए। उस गन्दी अँधेरी बदबूदार कोठरी में मैं जितनी देर रहता था, मेरा दिल घबराता रहता था। पर कभी उनके लिए barley water तैयार करना होता था, इसलिए काफ़ी देर वहाँ बैठना होता था। उन दिनों उन्हें अपने हिलडुल न पाने और हमें पढ़ाने न आ पाने का बहुत खेद रहता था, इसलिए वे हम लोगों के लिए बाबाजी और फ़क़ीर साहब के लम्बे-लम्बे संवाद और हमारे नाम बड़ी-बड़ी चिट्ठियाँ लिखते रहते थे जो उनका कहना था कि हम बड़े होने तक अपने पास रखें और बड़े होकर पढ़ें। मैं चिट्ठियाँ वहाँ से तो बहुत सँभालकर लाता था पर घर आकर मुझसे गुम हो जाती थीं। जो कोई बची रहती थीं, वह मैं अलमारी में रख देता था। मुझे इस बात का ग़ुस्सा ज़रूर आता था कि बहन के काग़ज़ों का ढेर छह इंच मोटा हो गया है जब कि मेरा ढेर डेढ़ इंच मोटा भी नहीं है।

बाबाजी को अभी ज्वर आता था पर ज्यों ही उन्हें अपने में उठकर चलने लायक शक्ति महसूस हुई, वे फिर पढ़ाने आने लगे। हमारी परीक्षा निकट आ रही थी। इसलिए हम भी विरोध नहीं कर सके। वे लगभग कराहते हुए-से कुर्सी पर आ बैठते और हम लोग कॉपियाँ खोल लेते। जो कुछ वे लिखाते हम लिखते जाते। वे हर आठ-दस मिनिट के बाद पानी माँगते थे। लड़की उठकर पानी लाए यह उन्हें गंवारा नहीं था। इसलिए यह काम मुझी को सरअंज़ाम देना होता था। कई बार उठकर पानी लाने में मुझे बहुत कोफ़्त होती थी। इस पर वे ख़ामोश शिकायत की नज़र से मुझे देखते थे और पानी माँगना बन्द कर देते थे। इस पर मैं ख़ुद ही बीच में उठकर सिर

झुकाए हुए पानी ले आता था। वे दो घूँट पीते और गिलास रख देते। फिर दो घूँट पीते और फिर गिलास रख देते। दादी कहती थीं कि बीमार आदमी का गिलास अलग रखो। आख़िर हमारी परीक्षा हो गई। उन्होंने यह बहुत पहले ही घोषणा कर दी थी कि हमारी परीक्षा होते ही वे वहाँ से चले जाएँगे। एक दिन उन्होंने अपना कोठरी का हिसाब किया और अपना सामान बाँध लिया। उनका कहना था कि पहले हरिद्वार जाएँगे, फिर न जाने कहाँ!

जाने के दिन वे फिर हमें पढ़ाने आए। जाते हुए उन्होंने मेरे सिर पर हाथ फेरा, जगदीश को प्यार दिया और बहन के सिर पर हाथ फेरकर उसके गालों को सहलाया और 'माई चाइल्ड' कहकर आँखों में पानी भरे हुए सीढ़ियाँ उतर गए।

जाने के कुछ दिन बाद हरिद्वार से उनका पत्र आया कि वे ऋषिकेश जा रहे हैं—वहाँ से वे आगे पहाड़ों की तरफ़ निकल जाएँगे और कभी लौटकर नहीं आएँगे। यदि सम्भव हो तो उनका बच्चा एक बार आकर उनसे मिल जाए...। पिताजी उन दिनों बीमार थे—फिर भी मैं एक मित्र को साथ लेकर हरिद्वार चला गया। वहाँ वे मिल गए। हरिद्वार जाकर गंगा तट पर घूमने और हर की पैड़ी की लीला देखने में अपना मन इतना रमा कि मास्टरजी की बात भूल गए। वे बार-बार बुलाते तो कहीं एक बार मैं उनसे मिलने जाता। मेरा साथी उन दिनों मुझे स्त्री और पुरुष के गोपन सम्बन्धों की विशद जानकारी दिया करता था और तत्सम्बन्धी अपने अनुभव सुनाया करता था।

उन्होंने एक दिन निश्चित कर रखा था—शायद एकादशी का, जिस दिन उन्हें ऋषिकेश से लक्ष्मण झूला होते हुए गरुड़ चोटी की ओर निकल जाना था। उन्होंने हमें बताया था कि गरुड़ चोटी पर जाकर वे आमरण अनशन व्रत करेंगे। अब उनके हृदय में जीवित रहने की कोई अभिलाषा शेष नहीं रही। उस दिन हम उनके साथ ऋषिकेश तक गए। कार्यक्रम लक्ष्मण झूला तक जाने का था, पर बहुत थक गए थे और ऋषिकेश में बहुत कुछ था जो आँखों को खींच रहा था, इसलिए उन्हें वहीं से विदा कर देने का निश्चय किया। मेरा साथी उन्हें छोड़ने चला गया।

सायंकाल जब साथी के लौटकर आने का समय हुआ तो देखा कि वे भी उसके साथ ही लौट आए हैं—इस चिन्ता के कारण कि पीछे मेरी तबीयत ज़्यादा ख़राब तो नहीं हुई। उन्होंने कहा कि वे दूसरे दिन सबेरे वहाँ से अकेले चले जाएँगे।

रात हम लोगों ने धर्मशाला में काटी। बहुत खटमल थे, नींद ठीक से नहीं आई। मास्टरजी और मेरा साथी दोनों सो गए तो भी मैं जागता रहा।

दूसरे दिन सुबह ही हम लोगों से विदा लेकर मास्टरजी गरुड़ चोटी की तरफ़ चले गए। हम लोग हरिद्वार चले आए।

उसके बाद उनका कोई समाचार नहीं मिला।

ज्ञानानन्द उनका केवल अपने को दिया हुआ नाम था। उनका असली नाम क्या था? वे बी.ए.बी.एल. करने के बाद घर से साधु का बाना पहनकर क्यों निकल पड़े थे? फिर कौन-सी हताशा उन्हें अनशन करके प्राण देने के लिए गरुड़ चोटी की तरफ़ ले गई?

समय के पन्नों पर वह व्यक्ति कहीं भी तो नहीं है।

आज डेढ़ मील ऊपर बकरोटा जाकर तीन मील के बकरोटा राउंड पर घूम आए। वाटर वर्क्स के टैंक के पास से लक्कड़ मंडी की पगडंडी पर कुछ दूर जाकर–हलवाई की दुकान से चाय पी। कुछ पहाड़ी लोग और वहाँ चाय पी रहे थे। किसी भी पैदल यात्रा में इस तरह टूटी हुई बेंच पर बैठकर हिलते हुए मेज़ पर गिलासों या टूटे हुए प्यालों में काली केटली से उँड़ेली गई चाय न पी जाए तो लगता है यात्रा अधूरी रही। वेसाइड की टूटी-फूटी दुकानों की चाय एक अजब ही नशा देती है।

बकरोटा राउंड के पिछले भाग में–अर्थात् ठंडी सड़क पर कितने घने वृक्ष हैं–देवदार, फर और कैल? तपस्वियों के इस एकान्त को साहब लोग क्यों पसन्द करते थे? दोनों में अन्तर इतना ही है कि तपस्वी इस एकान्त के एकान्त साहचर्य से सन्तुष्ट रह लेते थे, और साहब लोग अपनी वैयक्तिक सुख-सुविधा के सब सामान साथ ले आते थे।

प्रभात के पास अन्दर बूँदें पड़ने लगीं। फिर नीचे उतरते हुए तेज़ बारिश आ गई। किसी तरह भागते और भीगते हुए घर पहुँचे।

डलहौज़ी : 25-8-57

कितनी ज़ालिम रात है। हवा इतने ज़ोर से चल रही है, लगता है किसी भी समय कमरे की छत उड़ जाएगी। साँऽऽऽऽ हूँ ऊ ऽऽऽ हरर्र्ऽऽ वृक्षों की टहनियों को झिंझोड़ती और टीन की छतों को हिलाती हुई हवा दम भर के लिए ख़ामोश होती है। और फिर पूरे वेग और आवेश के साथ उमड़ पड़ती है। ख़िड़की के किवाड़ बार-बार खुलकर आवाज़ के साथ बन्द होते हैं। चिटखनियाँ टूटी हुई हैं, शीशे भी टूटे हुए हैं। हवा की चुभन रज़ाई में दुबककर बैठे हुए भी महसूस होती है। कमरे का वातावरण सिहर जाता है। मेज़पोश मेज़ों से उड़ जाना चाहते हैं। लैम्प का शेड जैसे ठिठुर रहा है। बाहर बूँदें भी पड़ रही हैं। आज तो सारा दिन ही बारिश रही इसीलिए अभी थोड़ी देर पहले हावर्ड व्हिस्की के साथ एक मुर्ग उड़ा गए। अश्क मिस महाजन के यहाँ से होकर आए थे, इसलिए ज़रा मूड में थे। दोनों तरफ़ से कानफिडेंसेस का आदान-प्रदान होता रहा।

र...का दिल गुर्दा सचमुच कितना बड़ा रहा होगा? आज जब वह दूर चली गई है तो मुझे और ज़्यादा महसूस होता है कि इस लड़की में अपना ही एक बड़प्पन है, जो उसे साधारण की भूमि से, एक विशेष दिशा में कहीं ऊँचा उठा देता है।

सोमेश चौधरी कभी-कभी मुझे उकता देता है। यह आदमी अभी तक कई-कई तरह की ग़लतफ़हमियों का शिकार है। वह ग़लत जगह ग़लत ढंग से अपने को assert करने की कोशिश करता है। मुझे बहुत वितृष्णा होती है। यह एक शख़्स है जिसका हित मैंने दिल से चाहा है, जिसे ऊपर उठाने की कोशिश दिल से की है। पर यह शख़्स न जाने क्यों कभी-कभी...और कभी-कभी क्यों, अक्सर ऐसा व्यवहार करता है। मुझे दुःख होता है, खेद भी होता है—परन्तु मैं इस शख़्स को इसके complexes से क्योंकर बाहर निकाल सकता हूँ?

यह शीत की सिहरन, यह शराब का नशा और यह असम्भावित भविष्य...जीवन के ये क्षण कितने मार्मिक हैं? वर्षों के बाद लगता है कि जी रहा हूँ और अपनी सत्ता से छिपा हुआ नहीं हूँ। पिछले साल इन दिनों पहलगाम में था और इन्हीं दिनों शायद गवर्नमेंट कॉलेज में मोहन चोपड़ा से लड़ाई हुई थी। He certainly is a weak man and suffers from a terrible inferiority complex.

But I am much more at peace with myself than I was a year back.

यह हवा तो जैसे प्राण ही ले लेना चाहती है। सर...र...अर र रर...र...हुऊ... ऊ...सर...र...र...वर्षा और हवा...हवा और वर्षा...मुझे उन घाटियों की कल्पना से रोमांच हो आता है जहाँ कभी मानवी चरणों में प्रवेश नहीं पाया, शायद जानवरों के पैर भी वहाँ नहीं पहुँचे, जहाँ घनी हरियाली है, पुरानी वृक्षों की जड़ें धरती से बाहर फूट रही हैं और जहाँ यह हवा, और मनहूस एकान्त इसी तरह हु...ऊ...की आवाज़ करती हुई गूँज रही है और वर्षा पड़ने पर तप-तप की आवाज़ करती पड़ रही है। मुझे बरसाती सर्दी की रातें याद आती हैं जब अपने गंडांवाला बाज़ार के घर के निचले कमरे में हम रजाई में दुबक जाते थे, पापा कोई कथा या वार्ता सुनाते थे, बहन व्याकरण पढ़ती थी, अम्माँ चाय बनाती थी—दूध में घूँट भर कढ़ी हुई पत्ती का पानी डालकर बनाई गई चाय, जिसमें 'मलाई पिस्ता और बादाम' पड़े रहते थे। वह कमरा, वह कोना, वह अपना आप कितना सुरक्षित लगता। और आज उस सुरक्षितता की कल्पना से ही मन बिदक उठता है। Today I love wilderness, I love vastness, I love adventure and I love limitlessness.'

हवा के साथ हल्की-हल्की चूरा हुई बूँदें भी मुँह-सिर को छेड़ जाती हैं। लगता है यह तूफ़ान सारी रात रहेगा।

डलहौज़ी : 27-8-57

दोपहर को बाल कटाए और दिन-भर तबीयत उदास रही...

डलहौज़ी : 28-8-57

दोनों तरफ़ की घाटी में जब बादल भरे रहते हैं, या घाटी में धूप चमकती है और ऊपर स्लेटी सुरमई सफ़ेद और तांबई बादल छाए रहते हैं तो हवा की गति से निरन्तर बदलते हुए चित्रपट का हर क्षण सुन्दर लगता है। अपनी अनायासता में बनते हुए वे रंगों और रूपों के मिश्रण किसी-किसी क्षण तो चेतना को स्तब्ध कर देते हैं। जो आँख रंगों को उनके साम्य और वैषम्य में देख लेती है, वह क्षणानुक्षण की इस रूप-माधवी पर विस्फारित होकर रह जाती है।

प्रकृति के इस रूप वैभव के सामने कला अपनी अनुरणात्मकता में कितनी सीमित और तुच्छ प्रतीत होती है। और प्रकृति की सजीवता, जिसे अनुकृति कभी प्राप्त नहीं कर पाती—वे कम्य, अनुकम्प, वह गति, अगति, वह मूर्त्त अमूर्त्तता, अस्पृश्य कोमलता...बादल पानी से बोझिल होते हैं। फिर भी स्पर्श में कितने कोमल, कितने लघु चरण, कितने वायव्य...

और हर क़दम दृश्य विस्तार को नया कोण, और नया रूप दे देता है...

जालन्धर : 30-8-57

दिन-भर के सफ़र और गर्मी के कारण सख़्त सिरदर्द हो रहा है। अभी-अभी काफ़ी देर घड़ी की वज़ह से परेशानी रही। घर-गुसलखाने में छोड़ गए थे, लौटने पर न वहाँ मिली, न कमरे में अन्यत्र कहीं—फिर सारी दुनिया में ढूँढ़ते फिरे। आख़िर पता चला कि पीछे जो सरदार लोग घर में रह रहे हैं, उनमें से एक ने उठाकर रख ली थी। नहीं तो रात भर एक सिरदर्द के साथ दूसरा और सिरदर्द रहता।

जालन्धर : 31-8-57

ख...के घर जाने पर पता चला कि उसकी माँ की मृत्यु हो गई है। प्रो. सोहनलाल शर्मा और आर.एन. चोपड़ा की वहाँ उपस्थिति के कारण ज़्यादा बात न हो सकी। औपचारिक समवेदना के चन्द शब्द कहकर चले आए। दोपहर बियर शॉप में कटी थी और बियर पिए हुए ही कहानी रिकार्ड करा आए थे—इसलिए वहाँ यह कान्श्यसनेस रही कि साँस और चेहरा कहीं betray न कर दे।

रात मोती देर तक प्रेमी के क़िस्से सुनाता रहा कि पीछे मियाँ-बीवी में किस तरह ठनती रही है और सुदर्शना किस तरह लोगों के सामने शेखी बघारती है और एक

दिन टेलीफ़ोन पर उसकी दुर्गत करती रही है और अब उसे अपने अँगूठे के नीचे किए है।

रात बख़्शी के यहाँ सोए। बारह बजे तक उसकी इन्तज़ार करके घोड़े बेचकर पड़ गए।

डलहौज़ी : 1-9-57

सुबह उठकर पता चला कि बख़्शी बेचारा घंटा भर किवाड़ खटखटाता और गली से आवाज़ें देता रहा, जिससे सारी गली जाग गई पर अपनी नींद नहीं खुली।

उठने के बाद ही निश्चय किया कि डलहौज़ी जाकर सामान उठा लाएँ, और चल दिए।

रास्ते में Elya Ehrenburg का उपन्यास 'दी था' (The Thaw) पढ़कर समाप्त किया। सोचता हूँ, जितनी पुस्तकें पढ़ी जाएँ, उन पर अपने कमेन्ट्स एक अलग डायरी में लिखे जाएँ।

जालन्धर : 16-9-57

कुछ दिन डलहौज़ी में अव्यवस्थित रहे, कुछ दिन फिर जालन्धर आकर। डलहौज़ी में वर्षा से बहुत बोर हुए। अश्कजी की वज़ह से भी ख़ासी परेशानी रही। रुपए-पैसे के मामले में मैंने ऐसा ज़टियल आदमी बहुत कम देखा है। आप चाहते हैं कि दूसरा अपने घर में तो इन पर ख़र्च करे ही, इनके घर में भी इन पर ख़र्च करे। अपना ख़र्च किया हुआ हर पैसा आपको याद रहता है, पर दूसरे के ख़र्च किए सैकड़ों को आप बड़ी सुविधा से भूल जाते हैं।

आने के समय नौकर के बीमार हो जाने से उसे पीछे छोड़ आना पड़ा। बाद में सोमेश ने उसे जिसकी देखरेख में भेजा, वह लड़का भी उससे ज़्यादा बड़ी उम्र का नहीं था।

जालन्धर आकर घर ठीक किया, पिछले बरसों के जमा काग़ज़ों की जाँच-पड़ताल की। कई टोकरियाँ रद्दी काग़ज़ फेंके–शेष काग़ज़ों को व्यवस्थित किया। कमरे ठीक किए, किताबें दुरुस्त कीं। कोशिश की कि सब जाले उतर जाएँ।

इसी बीच राजकमल प्रकाशन से तीन पुस्तकों के प्रकाशन का तय कर लिया–'जानवर और जानवर'–'कुत्तोंवाली गली'–'साहित्य का मार्केट।'

पठानकोट से जालन्धर आते हुए रास्ते में एक ख़ास कैरेक्टर मिला।

जालन्धर : 17-9-57

वीणा लन्दन से लौट आई है। र...मद्रास से लौट आई है। शीला आगरा से अलीगढ़ चली गई है। ख...अपनी माँ के फूल प्रवाहित करने हरिद्वार गई है। परसों दोपहर को उ...घंटे डेढ़ घंटे के लिए आई थी। आज उ...और न...दोनों आईं।

जालन्धर : 18-9-57

अपने से शंका होती है।

क्या सचमुच मैं 'वह' हूँ, जिसकी कभी अपने से आशा होती थी और जिसकी कुछ दूसरे अब भी आशा रखते हैं? कभी-कभी अपनी योग्यता और genuineness पर बहुत सन्देह होता है। लगता है यह सब बाहरी आडम्बर है—अपने को और दूसरों को छलने की एक विडम्बना मात्र है। अपने लिखे से और लिखने की इच्छा से वितृष्णा होती है। क्या सचमुच मुझमें वह है, जो इस कार्य के लिए होना चाहिए?

कभी-कभी बियर की एक बोतल की बेहद ज़रूरत महसूस होती है। अपनी इस कमज़ोरी से क्योंकर छुटकारा पाया जा सकता है?

गिरधारी के नाम लिखे हुए अपने कई पत्र पढ़े जो उसने चार साल पहले भेजे थे, क्या मैं वही इन्सान हूँ या बदल गया हूँ?

मैं अपने घर में अपने विवाहित जीवन का कोई भी निशान नहीं रहने देना चाहता। मेरे मन का एक कोना मेरी इस नृशंसता की आलोचना करता है। लेकिन उस आलोचना का मुझ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मैं जो कुछ कर रहा हूँ, अपने जीवित रहने के हित में ठीक कर रहा हूँ। आज सम्बन्ध-विच्छेद के इतने दिन बाद भी मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि दाम्पत्य में जो साहचर्य चाहिए, वह हम दोनों में कहीं नहीं था—कोई भी परम्परापेक्षिता नहीं थी। यह एक दुर्वह स्वप्नछाया थी, जिसे हट जाना ही चाहिए।

गिरधारी को बहुत दिनों बाद कल एक लम्बा पत्र लिखा है। यूँ, अपने में लगता है कि ज़िन्दगी के एलबम में अपने कोने निश्चित होते जा रहे हैं। क्या यह सच है?

वीणा को पत्र लिखा है। क्या वह उत्तर देगी?

जालन्धर : 19-9-57

आज शाम को प्लाज़ा के बाहर लाज मिल गया—लाज अर्थात् लाजपतराय—पीस काउंसिल का भूतपूर्व सेक्रेटरी और अब—नेशनल कॉलेज, पटियाला, का एक अदना इकनॉमिक्स का प्रोफ़ेसर।

पहले प्लाज़ा में बैठे रहे। फिर बियर-शॉप चले गए, लाज से कुछ आन्तरिक बातें हुईं। लाज ने अपने कम्युनिस्ट पार्टी से अलग होने का क़िस्सा सुनाया। मैं अर्से से हैरान था कि यह आदमी सहसा पीस काउन्सिल के सेक्रेटरी से एक प्रोफ़ेसर कैसे हो गया—ख़ास तौर पर वियना और वार्सा में यूथ फेस्टिवल में हो आने के बाद। लाज ने वही हिस्टरी सुनाई जो पहले मैं और लोगों के मुँह से सुन चुका हूँ। अपने रूस के ट्रिप में लाज ने जो कुछ देखा, मानवीय भावनाओं का जो रूप और नौकरशाही, जो करिश्मा...उससे उसे अपनी वर्तमान पार्टी लाइन से वितृष्णा हुई, आन्तरिक मतभेदों के कारण उसने पार्टी की होलटाइम मेम्बरशिप छोड़ दी और—नौकरी कर ली। अब उसकी माँ ज़िद कर रही है कि उसे शादी कर लेनी चाहिए। लाज को अपनी शादी का क़िस्सा सुनाया। लाज ने जो कुछ बताया उससे मन की वितृष्णा और बढ़ गई। कुछ लोग इतने अन्धविश्वासी हो जाते हैं कि एक विचार—बल्कि विचार का एक रूप उनके लिए धर्म बन जाता है। जो बात कट्टर सम्प्रदायवादियों के लिए सच है, वही साम्यवादियों के एक बहुत बड़े गिरोह के लिए भी सच है। इतना पक्षगत चिन्तन किसी भी समुदाय को विकास की दिशा में नहीं ले जा सकता।

होशियारपुर के श्री रत्नचन्द को रेडियो नाटक 'कर्फ़्यू' भेज दिया। शीला का पत्र आया था—नीत के आपरेशन और पुरानी चीज़ों के बारे में। उसका उत्तर भी भेज दिया।

दोपहर को र...की प्रतीक्षा थी। उसके न आने से बहुत कोफ़्त हुई। सम्भव है वह कल सुबह आए।...वीणा ने पत्र का उत्तर नहीं दिया।

जालन्धर : 20-9-57

कमरे में बेइन्तिहा कीड़े उड़ रहे हैं और उनकी वज़ह से ख़ासी परेशानी है। एक हरफ़ लिखना हराम हो रहा है।

आज 'काला घोड़ा' शीर्षक कहानी के तीन पृष्ठ टाइप किए। कल जैसे भी हो इस कहानी को पूरा करना होगा। वरना मुसीबत होगी। सोमवार तक प्रेमी को नाटक भी पूरा करके देना चाहिए।

जालन्धर : 21-9-57

मैं क्यों रोज़-रोज़ बियर पीता हूँ? क्यों पीता हूँ आख़िर? आज शाम को घर से निकला तो ऐसा कोई इरादा नहीं था लेकिन फिर भी...

सबेरे र...आई थी। बाद दोपहर उ...आई। ये दो लड़कियाँ अपनी-अपनी जगह उस सारे समुदाय से बेहतर हैं जिसे मैंने आज तक जाना है। दोनों ही intelligent नहीं हैं मगर—दोनों में ग़ज़ब की sincerity है। र...ने ज़्यादा दुनिया देखी है फिर भी उसमें ज़रा cun-ningness नहीं है। उ...यौवन के पहले चरणों की मस्ती के बावजूद बेहद मासूम है—बिल्कुल एक बच्चे की तरह बातें करती है और एक बच्चे की तरह ही शरारतें करती है।

न...की अभी ठीक से नहीं समझ पाया। आज उसने उ...के हाथ शीशे की कटोरी में आम का मीठा अचार भेजा है। उस दिन बता गई थी कि किसी कर्नल से उसकी शादी हो रही है। फिर भी उस लड़की को वो ही किचन ढंग की ज़िन्दगी का कुछ मोह है अवश्य।

शाम को प्रेम जोशी ने बताया कि सुदर्शना ने प्रेमी की नकेल बुरी तरह अपने हाथ में कर रखी है। एक दिन जोशी को डाँटती रही कि वह उसकी हुक्म-अदूली क्यों करता है। एक दिन मोती से कहती रही कि इस शख़्स को अब मैं आसानी से नहीं छोड़ूँगी। जो मेरे उसके ताल्लुकात रह चुके हैं, उनके बाद यह मुझसे शादी करे या मेरा कैरियर बनाए—यह यहाँ से बदली भी करा ले तो भी मैं इसे ऐसे नहीं छोड़ूँगी—जहाँ यह जाएगा, वहाँ मैं इसके साथ जाऊँगी!

पुअर प्रेमी!

मैं अपने वर्तमान से मुक्ति चाहता हूँ और यथाशीघ्र।...लेकिन इसकी सम्भावना कब तक है। बहुत बार अपनी नपुंसकता पर बेहद खीझ आती है।

जालन्धर : 22-9-57

सबेरे से 'काला घोड़ा' पूरा करने के पीछे पड़े हैं—पर अभी मंजिल बहुत दूर नज़र आ रही है। तहय्या तो है रात एक बजे तक बैठने का। देखें...

जालन्धर : 24-9-57

कल कॉलेज खुला, और अपने सम्बन्ध-विच्छेद के बारे में पहली whisperings सुनीं। कुछ लोगों ने रस लेते हुए सवाल भी किए।

शाम को इरादा था ड्रामा लिखने का, पर बियर शॉप जाकर धुत हो गए। लौटे तो सुबह होश आया कि कहाँ हैं।

आज सुबह से ड्रामे के पीछे पड़ गए।...अब मँझधार में हैं। रात को बारह एक तक बैठेंगे।

परसों रात को लम्बी सिटिंग लगाकर कहानी पूरी कर दी थी। सबेरे उसका टाइटल बदलकर 'काला घोड़ा' से 'काला रोज़गार' कर दिया।

आज राजेन्द्र यादव ने 'एलबम के दाम' का जो प्रशंसा-पत्र भेजा है, उसने दिमाग़ ख़राब कर दिया।

जालन्धर : 27-9-57

ऐसी मुसीबत कभी नहीं ढोई जैसे 'कुँवारी धरती' लिखने में ढोई है। 24 का सारा दिन काम किया—आधा नाटक लिखा—25 को सुबह प्रेमी को भेज दिया। 25 को पूरा करते, पर पिक्चर देखने उठ गए, घर आने पर सोमेश चौधरी मिल गए—रात नौ के बाद लिखना शुरू किया—एक बजे सोये—फिर जाग गए—सवेरे नौ बजे नाटक पूरा होकर चला गया!

अभी थोड़ी देर में ब्राडकास्ट है!

कल न...के घर में दीवारों पर लगी हुई और vases में लगाई हुई टहनियाँ बहुत ख़ूबसूरत लगीं।

परसों कॉलेज से आते हुए एक हिन्दी रक्षक आर्यसमाजी भद्रपुरुष रिक्शा में साथ थे। आप हिन्दी रक्षा आन्दोलन के सम्बन्ध में घोर चिन्ता और व्यस्तता प्रकट करते रहे, पंजाब गवर्नमेंट, सेंट्रल गवर्नमेंट तथा सिखों को गालियाँ देते रहे—कहते रहे कि यह आन्दोलन हिन्दुओं के लिए जीने-मरने का सवाल है!

कुछ देर में अपने लड़के-लड़कियों की शिक्षा की बात करने लगे। बताने लगे कि एक लड़की फ़र्स्ट इयर में दाख़िल हुई है—दूसरी एम.ए. करेगी।

"आपके कॉलेज में किस-किस सब्जेक्ट की एम.ए. है?" आप बोले, "अभी मैं सोच नहीं पाया कि लड़की को जालन्धर ही दाख़िल कराऊँ या होशियारपुर?"

"हमारे यहाँ इक्नॉमिक्स है—"

"अच्छा!"

"पॉलिटिक्स है।"

"अच्छा! हिस्टरी या इंगलिश नहीं है?"

"नहीं! पर मैथेमेटिक्स है। हिन्दी है..."

"हिः!" आपने मुँह बिचकाया, "हिन्दी नहीं। हिन्दी में क्या फ्यूचर है?...देट्स नो सबजेक्ट..."

रात बख़्शी ने बताया था कि ज्ञान काश्मीर मेल से दिल्ली जा रहा है; सो उससे मिलने स्टेशन चले गए। वह साला आज भी ज्यों का त्यों लगता है—एज़ ब्राइट एंड फ्रेश एज़ एवर!

'कँवारी धरती'—प्रोडक्शन बुरा नहीं था।

जालन्धर : 30-9-57

अट्ठाईस का दिन कॉलेज और बियर शॉप में बीता।

उनतीस का दिन घर में रमी खेलते हुए और सलूजा के घर ह्विस्की पीते हुए। तीन पेग पीकर किसी पादरी की आत्मा अपने में आ समाई और मोती और जोशी को बाक़ायदा एक सर्मन दे दिया। डेढ़ पेग और पीकर पेट सिर को आ गया।

सबेरे सलूजा के घर में ही नींद खुली।

रात को ग्यारह साढ़े ग्यारह बजे मिसेज़ ल्यूकोना ने सलूजा का दरवाज़ा खट-खटाया और ल्यूकोना को ले गईं।

आज दिन भर टाँगों और बाँहों में दर्द होता रहा।

थोड़ी देर पहले सोमेश चौधरी तशरीफ़ ले आए।

आपने एक ऐसी बेहूदा बात की कि सिर भन्ना गया।

आज रात को कुछ लिखने पढ़ने का इरादा था जो काफूर हो गया।

अब वे महाशय बाहर निद्रा-ग्रस्त हैं और बन्दा अन्दर कुढ़ रहा है।

सवेरे ये फिर पैसे माँगेंगे। तीस रुपए इन्हें उस दिन चंडीगढ़ जाते समय ल्यूकोना से लेकर दिए थे।

ये मेरे अज़ीज़ मेहमान कभी मुझे पढ़ने की कोशिश क्यों नहीं करते?

अब मुझे सो जाना चाहिए।

I must keep up my promise with Sharad Deora and send him a story by day after tomorrow.

यह अच्छा है कि कल परसों और तरसों छुट्टी है।

जालन्धर : 1-10-57

एक रुटीन दिन—'आशा' नाम की पिक्चर देखने गए। हिन्दुस्तानी प्रोड्यूसर इस कला की सम्भावनाओं का सही उपयोग करना न जाने कब सीखेंगे?

Frankness can be interpreted as cheapness sometimes. I become very frank at times, which I should not do.

Tomorrow I meet the Principal and tomorrow it should be decided if I continue at the present job.

जालन्धर : 3-10-57

कल दोपहर को भाभी का पत्र और तार मिला। स्टेशन पर भाभी को रिसीव करके बाहर आकर रिक्शा में सामान रखते हुए देखा—वीणा अपनी बेटी के साथ पास ही खड़ी है। वह भी उसी गाड़ी से आई थी। देखने में पहले से स्वस्थ और क़दरे बड़ी मालूम हुई।

रात को दो बजे तक बातें करते रहे। मेन टॉपिक्स थे शीला और उमा।

लगभग सोये ही नहीं। सोये तो पौने पाँच बजे जागे जब कश्मीर मेल के पकड़ने की कोई सम्भावना नहीं रही थी।

भाभी आठ पैंतीस की बस से गईं।

बस स्टॉप से एवरेस्ट चले गए। नरेन्द्र से उसके विवाहित जीवन के सम्बन्ध में बातचीत हुई। जो-जो अन्देशा था, वह सब सच निकला।

लाज के साथ 'Desiree' देखने गए—यूँ बैठे-बैठे सो जाने को मन हो रहा था।

दोपहर को उ...आई तो उसे वस्तुस्थिति का ठीक परिचय देने का प्रयत्न किया।

उसके जाने-जाने तक प्रोफ़ेसर रत्नचन्द चले आए और दो प्रोफ़ेसराना बातें करके चले गए।

फिर सो गए और दो अढ़ाई घंटे सोये रहे।

जालन्धर : 9-10-57

जब घटा घिरने लगती है तो घिरी ही आती है और जब घटने को होती है तो सहसा ही सबकुछ निर्मल हो जाता है।

इन दिनों में कुछ ऐसा ही हुआ है। मन कितना भरा-भरा-सा प्रतीत होता है?

वीणा आकर तीन-चार दिन रही। भाभी के जाने के अर्थात् दशहरे के दूसरे दिन वह डॉ. मदान के साथ आई। उस दिन पहले कुछ औपचारिक बातें होती रहीं। उसकी बच्ची घर भर की चीज़ों की तोड़-फोड़ करती रही। बहुत चंचल और शोख है उसकी बच्ची। डॉ. मदान कुछ देर में चले गए। फिर वीणा के चेहरे की वही अभ्यस्त मुद्राएँ देखने को मिलीं।...वह लन्दन की बातें सुनाती रही...कि वहाँ की पत्थर की इमारतों, कोलतार की सड़कों और कुहरे से आच्छादित आकाश के नीचे उसे लगता था कि वह एक graveyard में घूम रही है। वह कभी-कभी शाम को पार्क में चली जाती थी। सुरेश के साथ वही द्वन्द्व चलता था क्योंकि सुरेश को पार्क की बजाय थियेटर में शाम बिताना अधिक रुचता था...वह संशयित दृष्टि से मुझे देखती थी...उसके ओंठों से अधिक बातें उसकी आँखें कह डाल रही थीं...

उसके बैठे-बैठे लाज आया। वह उसके पति का पुराना दोस्त निकला। फिर मेंहदीरत्ता का विद्यार्थी शौनक आ गया।...फिर डॉक्टर मदान आ गए और वह चली गई।

दूसरे दिन सुबह से ही बहुत व्यस्त रहा। 'सुप्रभात' के लिए कहानी पूरी करके भेजी। इस बीच र...आ गई और आध घंटे के बाद चली गई। कॉलेज जाते हुए ट्रेनिंग कॉलेज वोट देने गया। कॉलेज में दो पीरियड पढ़ाए और–जब घर आया तो बहुत थक गया था। खाना खाकर लेटा था कि वह फिर आ गई।

काफ़ी देर बातें होती रहीं। वीणा ने अपने आपको और स्पष्ट किया। उसने संकेत से बताया कि वह इस बार आशा छोड़ आई है–पहले अदन से पत्र लिखने लगी थी, पर इसलिए नहीं लिखा कि मैंने कहा था कि...

और जो मैंने कहा था, वह झूठ नहीं था, मैंने उसे उसके जाने के बाद पत्र में लिखकर स्पष्ट भी कर दिया है। जिस प्राप्ति का तब मुझे मोह था, वह आज प्राप्ति नहीं रही। आज स्थिति बदल गई है। आज उस पुराने धरातल की स्वीकृति अपनी ही अवमानना है।

उसने कहा था कि उसने सब कुछ कह दिया है। जाते हुए रिक्शा में बैठकर उसने बच्ची से हाथ मिलाने के लिए कहा था और स्वयं मेरा हाथ दबा दिया था।...मैंने समझा था कि अब वह नहीं आएगी।

...राजेन्द्र यादव की किताब 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' आज ही आई है। मन है, पर पढ़ नहीं पाऊँगा।

नीत की तस्वीरें सामने हैं। मुझे इस बच्चे से कितना प्यार है, फिर भी...

जालन्धर : 17-10-57

दिन पर दिन बीतते जाते हैं। बहुत बार अपने में निरर्थकता की प्रतीति होने लगती है, क्योंकि चाहते हुए भी कुछ किया नहीं जाता–परन्तु करने की उत्कट कामना और न कर पाने का असन्तोष ही अपने को आश्वासन देते हैं। यूँ, अभी मुक्ति का प्रभात ही है। 10 सितम्बर सन् सत्तावन की शाम तक ज़िन्दगी कितनी tension में बीती है?...अब से नियमित काम न भी हो कम-से-कम वह बेबसी तो नहीं रही।

सात दिन–या आठ दिन–9 की शाम से 16 की रात तक अश्क दम्पति के साथ इस तरह बीते कि अपने लिए अपने पास समय ही नहीं रहा–यूँ जैसे कोई पीछे से आँखें मूँद ले और तुम्हें आगे चलाता जाए और देखने का अवसर न दे। इन दिनों में केवल खाया और जिया है–यद्यपि भाभी का स्नेह बहुत बार ख़ला को भर देता रहा है। भाभी की उपस्थिति अश्क के व्यवहार को भी बदल देती है–तब उनमें वह संकीर्णता नहीं रह जाती।

उन लोगों ने अपने काम पूरे कर लिए–कोऑपरेटिव बैंक से 14 तारीख़ को कर्ज़ा ले लिया और इन्द्रजीत और शशि के झगड़े को निपटाने का प्रयत्न कर लिया। उस प्रयत्न की सिद्धि कुछ नहीं हुई।

कल स्टेशन पर सत्यप्रकाश संगर से मुलाक़ात हुई। निहायत दुनियादार क़िस्म का आदमी प्रतीत हुआ–मीठा और मिलनसार। ज़्यादा बात नहीं हो पाई।

भाभी का रवैया स्वर्ण के प्रति इस बार बदला हुआ था–क्योंकि स्वर्ण का रवैया नरेन्द्र के प्रति बदला हुआ था।

आज दिन भर सोये रहे। अब नींद नहीं आती। इस मर्ज़ का कोई इलाज नहीं। आधी रात तक नींद नहीं आएगी। सुबह सिर भारी होगा। दोपहर को नींद आ जाएगी और रात को फिर आँखें खुली रहेंगी।

एक सिगरेट पिया जाए। फिर सोचेंगे कि नींद का क्या उपाय करें।

जालन्धर : 29-11-57

एक महीना और बारह दिन का व्यवधान।

बहुत बार सोचा कि डायरी लिखें, मगर हर बार मन कहता कि हटाओ, क्या रोज़-रोज़ का गोरखधन्धा गले में डाल लिया है? छोड़ो जी, अभी तो सिगरेट पियो, फिर लिखना।...या अभी तो बाहर चहलक़दमी करो, फिर सही।

मगर इतने दिनों में ज़िन्दगी तो रुकी नहीं रही। बल्कि काफ़ी तेज़ी से काफ़ी कुछ बदला है, या बदला नहीं, स्पष्ट हुआ है।

कॉलेज छोड़ दिया है–मतलब त्यागपत्र स्वीकार हो गया है–officially रिलीव 31 दिसम्बर को होंगे। इस प्रकरण में प्रिंसिपल को और नज़दीक से देखने और समझने का अवसर मिला है।...वही आदमी कहीं किसी पार्श्व में इन्सान भी है, यह विश्वास करना कठिन प्रतीत होता है। वह मशीन भी नहीं है, क्योंकि मशीन प्रवंचना तो नहीं करती। वह मशीन युग के कूड़े का मूर्तिमान रूप है–सोचता कुछ है, कहता कुछ है, करता कुछ है। क़ाफ़िर ए जहन्नुम रफ़्त! अब चन्द दिन–या चन्द महीने–ज़िन्दगी के मशीनी ढर्रे से निजात पाकर जिएँगे।

...हाँ, आर्थिक स्थिति कुछ ज़रूर उलझाएगी–मगर वह तो आगे की बात है। यूनिवर्सिटी स्कॉलरशिप से दाल-पानी का खर्चा तो निकलेगा। सोचा था, वरीन भाई अपनी जगह पर स्थिर रहे होंगे, मगर आप भी वहाँ से भटक चले। अब नए सिरे से बम्बई में आकर सिलसिला भिड़ाएँगे।

...और रमेश पाल के आने पर लम्बी-चौड़ी स्कीमें बनाई थीं कि मिलकर पत्रिका निकालेंगे, और (दूसरे alternative के रूप में) साथ-साथ विलायत जाएँगे। पैसा दोनों में से किसी के भी पास नहीं–और स्कीमें ऐसी पर्फेक्ट बनाईं कि कहीं कमी या कमज़ोरी नहीं।...विलायत जाने की स्क़ीम अभी तक दिमाग़ में है।

...लेखकीय मंच पर ज़िन्दगी कुछ और आगे बढ़ी है। प्रोफेशनल हुए बिना चारा नहीं दिखता...

अब इस चिन्ता से परेशान हैं कि इलाहाबाद के लेखक सम्मेलन के लिए कहानी के सम्बन्ध में एक लेख लिखना है।

आनेवाले कल की प्रतीक्षा है, और आनेवाले परसों की...।

इतने दिन निकल गए, और कुल इतनी-सी ही तो बातें हुईं।

जैसे तेज़ रफ़्तार का अमल लग गया है।

जालन्धर : 30-11-57

वह आने वाला प्रतीक्षित 'आज' नहीं आया। उसकी जगह एक घिरी हुई-सी उदास शाम, जो अपने से छिप-छिपकर रहने के प्रयत्न में बीती। और अब रात–जो धकेलकर ज़िन्दगी को पगडंडी–खाइयों की ओर जाती हुई पगडंडी–से सड़क पर लाने के लिए प्रयत्नशील है।

...अब मैं उस स्वप्न–या दुःस्वप्न–को प्रश्रय नहीं दूँगा।

परन्तु अपनी अबोधता में या खिलवाड़ में (जाने?) उसने मेरे साथ कितनी ज़्यादती की है?

...फिर भी मुझे विश्वास है कि ज़िन्दगी हमवार सड़क पर आ जाएगी, उसे पहिए भी लग जाएँगे और वह तेज़ रफ़्तार से आगे बढ़ेगी।

ज़िन्दगी की सार्थकता इसी में है कि पराजय भी आगे जाने की उतनी ही प्रेरणा दे, जितनी विजय दे सकती है।

I love life.

The people we love are just the symbols of LIFE.

Persons can betray you, but not LIFE.

Secret of life lies in keeping alive in all situations.

I know that I shall not forget—but I shall not split up either.

A greater push—a greater effort—yes!

It should not turn out to be for the worse—but for the better.

जालन्धर : 2-12-57

सुबह उठे तो गले से आवाज़ आ रही थी, जैसे ढोल फट गया हो...बुड्ढों की तरह घौं-घौं करते रहे।

कॉलेज में क्लास के अन्दर जाने तक पढ़ाने का ज़रा मूड नहीं था। गए तो पढ़ाने लगे। फिर परिषद की मीटिंग में भी बैठे रहे। कुछ बुख़ार महसूस हुआ। घर आकर सो रहे।

अभी-अभी चार-छह कहानियाँ पढ़ डालीं। अब खाँस रहे हैं, छींक रहे हैं, और सोच रहे हैं कि क्या करें? दोपहर को सो लिए, इसलिए नींद नहीं आती, सिर भारी है, इसलिए पढ़ना-लिखना हराम है, और अकेले हैं इसलिए न बात हो सकती है, न...

सौ बीमारियों की एक बीमारी है यह अकेलापन भी...हम समझ गए...अच्छी तरह समझ गए। और फिलहाल इस बीमारी का इलाज हमारे पास नहीं है।

कभी होगा, यह भी नहीं जानते।

होना चाहिए, यह हम समझते हैं।

लेकिन हमारा समझना ही तो सबकुछ नहीं है।

इसलिए, ख़ामोश छत की ओर देखेंगे। लिंटल की छत है, कड़ियाँ भी नहीं हैं, गिनते रहें।

जालन्धर : 3-12-57

रात भर की मारी, सपनों में लदी नींद...

और सुबह की टूटन और थकान।

किसी तरह घिसटते हुए नहा-धोकर तैयार हो पाए।

रमेश, मोहन और चार लड़के मिज़ाजपुर्सी के लिए आ गए। उस समय बाहर जाने के लिए तस्मे बाँध रहे थे।

पहले र...का चपरासी आकर दो मिट्टी के vase दे गया।

कॉलेज जाकर टूटे से कमरे में बैठे रहे और मशीन की तरह छुट्टी की अर्ज़ियों पर हस्ताक्षर करते रहे।

लौटने पर ख...पहले से आई हुई थी। डेढ़ दो घंटे बातचीत हुई। संशय धुल गया।

उसके जाने के बाद फिर बिस्तरदराज़ हो गए।

शाम को छह बजे जोशी आया। उसने अपना रेडियो पुराण आरम्भ किया ही था कि न...और उ...आ गईं। जोशी चला गया। वे दोनों घंटा-डेढ़ घंटा बैठीं।

मेरा विश्वास है कि न...में वे सब सम्भावनाएँ हैं जोकि होनी चाहिए।

"आप लोग खाना खाकर ही जाइएगा," मैंने कहा।

"और खाना खाकर भी न जाना चाहें तो...?"

उखड़े-उखड़े ढंग से कई बातें हुईं...उसके विवाह की, जो जनवरी में होगा, हमारे डाइवोर्स की, कॉलेज छोड़ने की, कहानियों की...

उसके जाने के बाद दो काम किए।

कुछ बार बाएँ से दाएँ करवट बदली।

कुछ बार दाएँ से बाएँ।

जालन्धर : 4-12-57

आज का दिन एक दृष्टि से बहुत रिमार्केबल दिन था।

आज practically कॉलेज की चख-चख से छुट्टी हो गई। कल से इम्तिहान होंगे। अपने ऊपर कोई ड्यूटी नहीं। हाँ...यूनिवर्सिटी क्लास के चन्द दिन और हैं...।

कल न...ने पूछा था, "कॉलेज छोड़ दिया, अब गुज़ारे के लिए..."

खीझ भी हुई थी और हँसी भी आई थी।

कुछ दिन पहले यही सवाल नि...ने पूछा था।

"कॉलेज छोड़कर अब...?"

और ऐसे सवाल सुनकर मन में ग्लानि भर जाती है कि इतने दिन भी कॉलेज की नौकरी क्यों की?

शाम को डॉ. मदान साहित्य के सम्बन्ध में अपनी थ्योरियाँ बताते रहे। ऊपर से गम्भीर, पर मन में मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए सुनते रहे।

Father forgive him, for he does not know what he is saying?

शाम को विर्क के यहाँ। उसका दोस्त धीर भी था। व्हिस्की का दौर और लौंडेबाज़ी—दोनों पक्षों—की बातें। महज़ बात—अर्थ नहीं, उद्देश्य नहीं, बस बात ही बात। सबके सब बातों के जीनियस।

कहानी, सम्मेलन, पन्द्रह रुपए, इंट्रोडक्शन लेटर, मैटीरियल, कांटेंट विद लाइफ, वेराइटी, ट्रेवल, बख़्शी, गुड टाइम, लकी नम्बर, ब्रेक, गुड स्टार्ट, स्टंट, यू एंड मी, फ्लर्टेशन, पोइट्री, क्लैरिटी, रियैलिटी, नाम, शोहरत, पठान, कहानी, पंजाबी लिट्रेचर, पैसा, कलेक्शन, लाहौर बुक शॉप, हॉरीबल, जो भी हो, ही ही ही, हो हो हो।

जालन्धर : 5-12-57

कॉलेज में रहस्यवाद पर व्याख्यान दिया—जीवात्मा और परमात्मा के तादात्म्य की व्याख्या करते रहे। सामने बैठी हुई वह बड़ी-बड़ी आँखों वाली लड़की बहुत सुन्दर लग रही थी। उसका नाम क्या है?

...घर आकर बाज़ार के लिए निकले कि नरेन्द्र मिल गया। लौट आए। नरेन्द्र पिछले दस वर्षों से कम्युनिस्ट पार्टी की पॉलिसियों में आए परिवर्तनों के विषय में बताता रहा।

फिर शौनक आ गया। इस लड़के की इतनी frequent visits से कोफ़्त होती है।

उ...और न...ज़रा देर से आईं। बीच में बिसारिया के बार-बार के अनुरोध के कारण उसके यहाँ दो मिनट के लिए हो आए। उसके लड़के का आज जन्मदिन था।

उ...और न...काफ़ी देर बैठीं। शौनक काफ़ी देर से गया। इस बीच टेबल-टॉक चलती रही।

बाद में न...ने अपनी समस्या बतलाई। सोमवार रात उसके यहाँ डिनर का तय हुआ।...उसी दिन उसके लिए किताब खरीदकर भी ले जाएँगे।

उनके जाते ही प्रेम जोशी आ गया, जो अभी तशरीफ़ ले गया है। नींद से मरे जा रहे हैं...सो इतना ही।

जालन्धर : 10-12-57

आज मन उदास है।

आज से सात साल पहले, आज ही के दिन अपना ब्याह हुआ था। वह दिन, वह एक दिन यदि ज़िन्दगी में न होता।

क्यों किया था ब्याह?

एक लड़की के कुछ पत्र...अपनी starvation और भलमनसाहत...ब्याह हो गया।

वहाँ जा रहे थे तो मन उदास था। भाँवरें हो रही थीं तो मन उदास था। और फिनैरो होटल का कमरा जब अन्दर से बन्द हो गया था, तो मन बहुत ही उदास था।

और...

पता नहीं उस रात बूँदें पड़ी थीं या नहीं।

कल ख...शायद इसलिए अच्छी लगी थी कि वह ख़ामोश रहती है। या मेरे दिमाग़ को ही कीड़ा लगा है।

कल एक दिन पढ़ाने जाने को है और कल भी पढ़ाने का मन नहीं होता।

कल कु...ने जैकेट भेज दी थी। सोच लिया था कि यह ऐसे ही होगा।

सो जा बेटे, ज़्यादा नहीं सोचते।

कश्मीर मेल (जालन्धर से दिल्ली) : 11-12-57

गाड़ी को जालन्धर से चले लगभग आधा घंटा हो गया। अपनी पेन्सिल गुम हो गई है।

चलती गाड़ी में अपना आप सहज, स्वाभाविक और भरा-भरा प्रतीत होता है।

गति...केवल गति...

छुक छुक...छुक छुक...छुक छुक

यहाँ-वहाँ एकाध बत्ती, गूँज...

अन्दर निंदियाए चेहरे...सोये फैले हुए शरीर...

पुस्तक पढ़नी चाही, पर मन पुस्तक की पंक्तियों में नहीं रमा...यहाँ से वहाँ, वहाँ से और कहीं मन भटक जाता है।

मन में दिन भर का छविचित्र चल रहा है–

सुबह बहुत गीला मौसम था। रात भर वर्षा होती रही। चारों ओर कीचड़, पानी और ऊसर से अनवरत गिरती हुई बूँदें।

एम.ए. के आज आख़िरी लेक्चर थे...मगर जाकर भी पढ़ाया नहीं...क्लास में गीत सुनते रहे। कमलेश का expression कितना modest है? She has that great quality which makes woman a woman.

कॉलेज से लौटे तो कन्या महाविद्यालय जाना था।

भीगते हुए पहुँचे। आचार्य जी द्वारा दिया गया मान कि इन्होंने डॉ ख...के कन्वोकेशन एड्रेस का अनुवाद किया था।

हँसी आई।

हॉल में गए। भाषण दिया,...''साहित्य में यथार्थवादी दृष्टिकोण!''

भाषण के बाद कमला जी के कमरे में कॉफ़ी!

बातें...पर्चे...affiliation, वाइस चान्सलर को चिट्ठी...आत्म-प्रसादन!

उसी तरह भीगते हुए रिक्शा में घर आए!

र...!

ठक्-ठक्-ठक्।

अपनी आवाज़ पर हँसी आने को हुई!

हम मूर्खता में अपना सानी नहीं रखते!

खटखटाने वाला देव बख़्शी था।

मंगती कांड से बरी होकर पहली बार आया था वह।

शान को भेजा कि रम की बोतल ले आए।

ज्यों-ज्यों रम के घूँट गले से उतरते गए, घनिष्ठता बढ़ती गई।

साथ-साथ स्टेशन पर आए!

सोमेश को देखकर आश्चर्य भी हुआ और प्रसन्नता भी। उसके साथ थे कृष्ण भाटिया, वेद और वेद की बीवी...

चाय पी!

गाड़ी आ गई।

गाड़ी चली तो सोमेश ने एक गोल्ड फ्लेक का डिब्बा अन्दर फेंक दिया।

अब सिगरेट पी रहे हैं और प्रसन्न हैं कि जा रहे हैं...कहीं भी सही, जा तो रहे हैं।

राज, देव, सोमेश, अपने विश्वास के तीन कोने!

कल कहाँ होंगे?

दिल्ली?

हो सकता है, न भी हों!

कानपुर स्टेशन की एक बेंच : 13-12-57

बेंच पर बिस्तर फैलाकर पूरी तरह at home महसूस कर रहे हैं। बेंच पर साथी एक अन्धा आदमी है जो बीड़ी वाले को आवाज़ दे रहा है, और बीड़ी वाला है कि उसकी आवाज़ नहीं सुनता—'पान बीड़ी...'' कहता हुआ सीधा चला जा रहा है—जैसे आवाज़ देने भर से उसे मतलब हो, पान-बीड़ी बेचने से नहीं।

आज की कहानी सिर्फ़ इतनी है कि जिस मिलने के इरादे से यहाँ उतरे थे, उसने दर्शन नहीं दिए और साढ़े चार बजे से लेकर अब तक हमने सिगरेट पिए हैं, प्लेटफार्म पर चहलक़दमी की है, खाना खाया है, बाज़ार से फाउंटेनपेन ख़रीदा है, और यह सोच-सोचकर परेशान हुए हैं कि दूसरी गाड़ी पकड़ने तक क्या करें?

या 'वूमेन विदाउट मैन' की कहानियाँ पढ़ते रहे हैं।

थर्ड क्लास कंपार्टमेंट, कालका-हावड़ा एक्सप्रेस, दो सीटों के दरम्यान 20-12-57

किसी तरह सबके लिए सुविधा का प्रतिपादन हो गया। दोनों सीटों पर कुल मिला कर पाँच आदमी जैसे-कैसे सोने की तैयारी कर रहे हैं—और बीच में ट्रंक और बिस्तर मिलाकर बन्दा सोने की कोशिश में है। बीच में छह-आठ फैली हुई टाँगों का संगम है। रात कट जाएगी। साथ के सरदार भी गोमो ही उतरेंगे।

बहुत लम्बी-लम्बी मगर निःसार बातें। इलाहाबाद में लगभग एक सप्ताह निकल गया। साहित्यकार सम्मेलन में लोगों को शिकायत रही कि हम सारा समय बाहर खड़े कहकहे लगाते रहे। क्या करें जो भाषण देने सुनने में अपना मन नहीं रमता। सारी कार्यवाही में यशपाल और हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के भाषण सबसे अच्छे लगे। यूँ सम्मेलन अच्छा हो गया। किसी तरह की ill will पैदा नहीं हुई। यह बात रोचक लगी कि यहाँ लोग इतनी सीरियसली हमें बड़ा कहानीकार समझते हैं। जो लोग आलोचना करते थे, वे ऐसे, जैसे हमारे अनुचित प्रभाव को तोड़ना चाहते हों। अच्छा ख़ासा भ्रम है। हम समझते हैं कि हमें अच्छी कहानियाँ लिखनी चाहिए। लिखने की कोशिश भी करेंगे। लेकिन यहाँ किस तरह लोग एक-दूसरे को काटने और एक-दूसरे की टाँग खींचने में व्यस्त हैं। लोग जाने अमृत के क्यों इतने ख़िलाफ़ हैं? मैंने अमृत की चीज़ें नहीं पढ़ीं। मगर श्री अश्क जो उसकी रचनाओं के सबसे बड़े आलोचक हैं, स्वयं भी तो थर्ड रेट साहित्य की ही सृष्टि करते हैं और उसके प्रचार के लिए अत्यन्त हीन साधनों का आश्रय लेते हैं।

सम्मेलन की एक उपलब्धि यही थी कि कुछ दिन दोस्तों के साथ कट गए। सत्येन्द्र शरत, राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर को और भी नज़दीक से देख पाया। सत्येन्द्र शरत

को आज मैं निःसन्देह पहले से ज़्यादा प्यार करता हूँ।

अश्क के घर में रहते हुए भाभी की सारी मिठास और स्नेह के बावजूद कुछ अखरता रहता है। That man enjoys pinching people and feels proud of this. It is so disgusting.

सम्मेलन के दिनों का कार्यक्रम ही क्या था? यहाँ खाना, वहाँ नाश्ता, उससे बात, इससे हँसी। सिर्फ़ मेला।

टाटा-पटना पैसेंजर : 21-12-57

गोमो (Gomoh) से राँची रोड के रास्ते का लैंडस्केप—पथरीले पीली मिट्टी के टीले—चौड़ी गोल पत्तियों की growth, नाटे-नाटे पेड़—अपने में सिकुड़ी-सिकुड़ी-सी वीरान ज़मीन—फूस और टिंडों की छतों के छोटे-छोटे मिट्टी के घर—गोमिया के पास एक colliery (Pirapadh?) दाहिने पार्श्व में पहाड़ियाँ—छोटी-छोटी गायें, भैंसें और बकरियाँ...

जालन्धर : 28-12-57

आज घर लौट आए। कई दिनों की लगातार यात्रा से काफ़ी थकान हो गई है, हालाँकि पिछली रात पूशी के प्रयत्न से सोने की सीट मिल गई थी।

राँची छोड़ने का निश्चय पलों में ही हो गया। सोच रहे थे कि एक दिन और राजेन्द्र यादव की इन्तज़ार की जाए—परन्तु बियर के नशे में धुत 24 की शाम को ज्यों ही लौटकर आर्य होटल में आए, रेडियो स्टेशन से फ़ोन मिला कि इलाहाबाद से तार आया है—शीला नवनीत के साथ वहाँ है और नवनीत के आपरेशन का 'डिसाइड' करना है। तुरन्त जैसे-तैसे सामान पैक कराया और सवा छह बजे की बस पर सवार हो गए। राँची रोड से टाटा-पटना पैसेंजर में गोमो—और गोमो से एक बजे रात को कालका एक्सप्रेस पकड़कर इलाहाबाद—

उससे पहली रात भी बहुत देर तक जागते रहे थे। पाल ने अपने पिछले सात साल के सब लव लैटर्स लाकर सामने पटक दिए थे। एक-एक करके कई पत्र पढ़ डाले। ढेर इतना बड़ा था कि सबकुछ पढ़ पाना असम्भव था। फिर भी पत्रों में से झाँकती हुई ट्रेजेडी अस्पष्ट नहीं रही।

राँची से इलाहाबाद तक की यात्रा में रात भर जागने से जिस्म टूटने लगा था। शीला नवनीत को लेकर आई तो इस बात से ठेस लगी कि बच्चा अपने को क़तई पहचानता ही नहीं। तय हुआ कि उसका डॉ. खेड़ा से दिल्ली में ऑपरेशन कराया जाए—ऑपरेशन का ख़र्च हम देंगे, लेकिन वहाँ उपस्थित नहीं रहेंगे। कारण? कारण यही कि परिस्थिति का स्ट्रेन इतना हो सकता है और तलाकशुदा स्त्री और पुरुष का साथ-साथ होना बहुत पेनफुल स्थिति को जन्म दे सकता है।

इलाहाबाद में उमेश ने एक दिन सहसा कहा, "एक सवाल पूछना चाहता हूँ। चोर-उचक्के-डाकुओं को सरकार सज़ा क्यों देती है? वे साधारण इन्सानों से किस तरह भिन्न होते हैं?

प्रश्न का उत्तर देते हुए उसके चेहरे की तरफ़ देखता रहा कि वह ऐसा सवाल क्यों पूछ रहा है? क्या यह अपने ही वातावरण पर एक व्यंग्य है?

30-12-57

दिल्ली रुकने को मन नहीं हुआ, इसलिए सीधे जालन्धर चला आया। दीदी को देखकर हैरानी हुई। कितनी मोटी हो गई हैं? तौबा!...और मानसिक रूप से तो जैसे वह बिलकुल जड़ ही हो गई हैं। जहाँ वह पन्द्रह बरस पहले थी, आज भी उससे आगे नहीं हैं। यह मेरी सगी बहन, जो हिन्दी की अध्यापिका भी है, साहित्य के बारे में इतना ही जानती है कि 'संकेत' की प्रति हाथ में लिए हुए बोली, "अच्छा! अब तो बड़ी-बड़ी किताबों में भी तेरी कहानियाँ आने लगीं!...अब तू लेखकों में 'रिकोग्नाइज़' होने लगा है।"

और जब मैंने कहा कि उसने कौशल्या भाभी को पत्र क्यों नहीं लिखा तो बोली, "तू नहीं जानता! वहाँ लोग बहुत 'आर्थोडाक्स' हैं। बिलकुल अनपढ़। कोई ज़्यादा किसी से मिलने आए तो बातें बनाने लगते हैं। और वे लोग तो अक्सर दिल्ली आते हैं। हर बार वहाँ आ जाया करें तो?...लोगों को बात कहने का मौक़ा ही क्यों दिया जाए? ठीक है कि नहीं?"

और यह मेरी बहन शास्त्री प्रभाकर है—कभी सभाओं में भाषण दिया करती थी—और दो बार महिला हिन्दी सम्मेलन की प्रधान रह चुकी हैं (41-43 में)।

रात देव बख़्शी ने बड़ी रोचक बात सुनाई। वह कहीं से सुनकर आया है कि (कहीं से क्या, नि...से) कि मोहन राकेश की म...से शादी हो गई है—कोर्ट में—और कि वे दोनों अब पति-पत्नी के तौर पर साथ-साथ रह रहे हैं!

स्कैंडल एक ऐसा विषय है, जिसमें लोगों की प्रतिभा विशेष रूप से चमत्कृत होती है। इससे मिलती-जुलती ही अफवाह कुछ दिन हुए राज ने सुनाई थी।...सोच रहा हूँ कि यह बीज पहले पहल किस प्रतिभा से अंकुरित हुआ है।

जालन्धर : 31-12-57

वर्ष का अन्तिम दिन।

कॉलेज से अपने सम्बन्ध का भी यह आख़िरी दिन था।

आज की मनोरंजक घटना यह थी कि स्वयं ही अपने successor के चुनाव के

लिए ad hoc committee में बैठे candidates से सवाल किए, हालाँकि दिल में बहुत वितृष्णा हो रही थी।

इंटरव्यू के लिए जितने लोग आए थे, उनमें से रस्तोगी को छोड़कर शायद किसी को भी साहित्य का ज्ञान नहीं था।

क़ाफ़िर रा जहन्नुम रफ़्त!

वहाँ से उठकर ख...के यहाँ चले गए। मन उदास था, इसलिए उससे देर तक बातें करना चाहते थे। परन्तु आगन्तुकों के कारण—और प्रत्याशियों के कारण मूड उखड़ा-उखड़ा-सा रहा।

ख...को राज की बात बता दी। यह जानकर कोफ़्त हुई कि उसने हमारी 23-7-57 की डायरी पढ़ ली थी। घर आकर ख़ामख़ाह अम्माँ पर झुँझलाते रहे।

बहुत बार हम जीवन में भी अभिनय करते हैं। मुझे तो लगता है कि जब-जब मैं अभिनय करता हूँ—स्कॉलर का अभिनय, अध्यापक का अभिनय या मीठा बोलने वाले व्यक्ति का अभिनय—तो ज़्यादा क़द्र होती है—लोग उस रूप को मेरा वास्तविक रूप समझते हैं। पर जब मैं ठहाका लगाकर हँसता हूँ, खरी-खरी कह देता हूँ, ईमानदारी से बात करता हूँ, तो लोगों को मेरा वह रूप ग़लत प्रतीत होता है—वे मेरे उस स्वाभाविक self को स्वाभाविक मानने को प्रस्तुत नहीं होते।

May the coming year be a year of hard work and better productivity!

जालन्धर : 1-1-58

A day of fluctuating emotions!

Was I happy?

Was I sad?

जालन्धर : 4-1-58

उस दिन एक बहरे बाबू के साथ रिक्शा में आए। धोबी मुहल्ले में उसने रिक्शा रुकवाकर धोबी को पूछा। उसकी घरवाली ने बताया कि धोबी घर पर नहीं है। बाबू को धोबी दूर की गली में से आता दिखाई दिया। उसने रिक्शा में बैठते हुए चिल्लाकर कहा, "धोबी, अभी आकर कपड़े ले जाना!"

"घंटे-डेढ़ घंटे में आऊँगा," धोबी ने भी चिल्लाकर कहा।

बाबू ने उसकी ओर इस दृष्टि से देखा कि उसकी समझ में कुछ नहीं आया।

"घंटे-डेढ़ घंटे में आऊँगा," धोबी ने फिर उसी तरह कहा।

रिक्शा चल दिया था। बाबू क्षण भर तो चुप रहा। फिर सहसा बोला, "नहीं आज आना, बच्चों को बाहर जाना है।"

रिक्शा वाले ने पीछे मुड़कर बाबू को देखा और कहा, "जी, वह कह रहा है कि घंटे-डेढ़ घंटे में आऊँगा।"

बाबू फिर चौंका और बोला, "नहीं नहीं, धीरे चलाओ, कोई जल्दी नहीं है।"

इस पर मैंने मुस्कुराकर उसे देखा और उसके कान के पास कहा, "वह कह रहा है कि धोबी ने कहा है कि घंटे-डेढ़ घंटे में आऊँगा।"

बाबू ने झटके के साथ मुझे देखा और बोला, "और क्या? सब खाने-पीने के महक़मे खुले हुए हैं। सड़कों की तरफ़ कौन ध्यान देता है?"

रिक्शावाला भी अपनी तरह का एक आदमी था। पैडल मारने के साथ-साथ वह हैंडल पर थाप देता हुआ किसी पक्के राग का ठेका गुनगुना रहा था—धा धा धिन धिन, धिक धा, धिन धिक्...

और मेरे मस्तिष्क में एक ऐसे समुदाय का इमेज घूम गया, जिसमें सब संगीत के मतवाले लोग ही हों—कितना मनोरंजक लगे?

परसों सुबह ख...के यहाँ चले गए। उससे बहुत बातें हुईं। उसकी इतनी डिवोशन कभी-कभी पिघला देने वाली प्रतीत होती है। अपने मोज़े उतारकर उसके बनाए हुए गर्म मोज़े पहन आए। मन भरा-भरा रहा।

उसी शाम प्रेमी, मोती और सलूजा प्रेम जोशी का पुराण सुनाते रहे कि उसे जो इंडेक्सिंग का काम दिया गया है, वह करना नहीं चाहता। मोती ने यह भी बताया कि प्रकाश ढिल्लों से कह रही थी कि पाल ने इसलिए त्यागपत्र दिया है कि उसके ख़िलाफ़ केस फिर से उठाया जाने वाला था और यह सम्भावना थी कि डिपार्टमेंट उसे निकाल दे। What people!

उधर अरोड़ा ने सुनाया कि उसकी दुकान पर आकर कोई देवी जी उसे बतला गई हैं कि प्रो. राकेश की जल्दी ही 'किसी से' दूसरी शादी हो रही है।

कल दिन भर काम किया। शाम को सुदर्शन भाटिया हिमाचल की सड़कों का बड़ा मनोरंजक क़िस्सा सुनाता रहा। पिछले दस साल में फ़ाइलों के अनुसार वहाँ दो हज़ार मील लम्बी सड़क यदि बनी होगी, तो उसमें से अब दो सौ मील ही मौजूद होगी, ऐसा उसका विश्वास था। जब आगे पचास मील सड़क बनती है तो पीछे की पचास मील बह जाती है—और जब फिर पीछे की पचास मील नए रूट से निकालकर बनाई जाती है तो आगे की पचास मील बह चुकी होती है।

दूसरा क़िस्सा है रिसैटिलमेंट ऑफिस के स्टाफ की रिट्रेंचमेंट का। सुना है कि इस काम के लिए सरकार ने एक रिट्रेंचमेंट ऑफ़िसर नियुक्त किया था। छह महीने

स्थिति का जायज़ा लेकर उसने एफिश्येंटली काम करने के लिए और स्टाफ की माँग की है।

आज दिन भर पत्र लिखते रहे। वीणा को कल ही पत्र लिखा था। आज उसका टेलिग्राफिक बुलावा आ गया। अब बोरी-बिस्तर बाँधकर हिमाचल प्रदेश की ओर रवाना होते हैं।

रात प्रेम जोशी आकर अपना रोना रोता रहा कि कुछ भी हो जाए, वह इंडेक्सिंग का काम नहीं करेगा। प्रेमी का कहना था कि उसके पास काम नहीं है—तीन महीने के लिए सिर्फ़ दो स्क्रिप्ट हैं—जबकि प्रेम जोशी का कहना है कि उसके पास 45 स्क्रिप्ट हैं लिखने के लिए—

"प्रोफ़ेसर, नौकरी छोड़नी पड़े, लेकिन मैं यह काम नहीं करूँगा। बिसारिया भी स्क्रिप्ट राइटर है, उसे यह काम क्यों नहीं दिया जाता?" AIVP का काम मुझे दे दें और बिसारिया को यह काम दे दें। मैं अपनी 'डिग्निटी कम्प्रोमाइज़' नहीं कर सकता..."

बेचारा प्रेम जोशी!

घर से चले थे ड्रामा-नवीसी के इरादे से और पल्ले पड़ी यह क्लर्की।

जालन्धर स्टेशन की एक बेंच : वही रात

स्टेशन पर पहुँचकर पता चला कि कम्बल कहीं रास्ते में गिरा आए हैं। चलते समय अम्माँ ने सौ ताक़ीद की थी कि एक-एक चीज़ गिन लो, अच्छी तरह याद रखना कि ज़ेबों में चार चीज़, बाहर भी चार चीज़...और कुल मिलाकर नतीजा यह हुआ कि घर से स्टेशन तक के सफ़र में ही चार चीज़ की तीन चीज़ रह गईं।

रिक्शा घर तक वापस ले गए। मगर कम्बल कहाँ मिलता? अब दूसरी बार, दूसरा कम्बल लिए हुए आए हैं। हाँ, इस सिलसिले में अम्माँ के हाथ की रोटी ज़रूर खा आए।

दाईं ओर गाड़ी आएगी। उत्सुक भीड़ सिग्नलों की तरफ़ देख रही है। उकड़ू होकर सोए हुए लोग जागने लगे हैं। सामने एक युवती अपने बच्चों समेत उदासीन लाइनों की तरफ़ देख रही है। बाईं ओर छह-आठ पटरियाँ हैं, अकेली, उदास, वीरान, और दो लैम्प पोस्ट हैं, एक-दूसरे को आँख से इशारा करते हुए...सर्द और ठिठुरे हुए। कभी-कभार कोई मालगाड़ी का डिब्बा भागता हुआ पटरियों पर से गुज़र जाता है। एक लैम्प पोस्ट स्टाफ़ के क्वार्टरों की ओर झाँक रहा है और दूसरा इधर प्लेटफार्म की ओर—स्टाफ़ क्वार्टर में टिकट बाबू की बीवी अँगड़ाई ले रही है और प्लेटफार्म पर टिकट बाबू ज़ेबों में हाथ डाले उस दोशीजा को घूर रहा है जो अभी सोकर जागी

है और अपने वक्ष पर आँखें गड़ाए हुए आत्मचिन्तन कर रही है...बाईं ओर एक गाड़ी आ गई। लैम्प पोस्ट ओझल हो गए। अब टिकट बाबू की बीवी न जाने क्या कर रही है।

अम्बाला छावनी, नाहन का बस स्टॉप, सुबह साढ़े तीन बजे : 5-1-58

Way to Nahan D	
Ambala	5.0
Shahbad	5.20
Varada	6.15
Sadhamra	7.0
Kala Amb	7.40
Nahan	8.45 (A)

कुछ लोग—दो-एक माइयाँ, दो-एक देवियाँ और दो-एक बच्चे अड्डा नामधारी तम्बू के बाहर रात बिताकर अभी-अभी जागने लगे हैं। रात के इस पहर में कम्बलों से निकली हुई केवल आँखें ही दिखाई देती हैं। स्टेशन पर कोई इंजन छुक-छुक कर रहा है। लगता है, वह दुनिया जहाँ से दूर है। यहाँ सर्दी अपने कान ऐंठ रही है, हाथ सुन्न हो रहे हैं, आत्मा भी सुन्न मंडल में प्रवेश किया चाहती है। इन लोगों से ईर्ष्या होती है जो आग जलाकर ताप रहे हैं। दो काम हो सकते हैं। या तो हम भी आग तापनेवालों में शामिल हो जाएँ या सामान को खुदा के आसरे छोड़कर स्टेशन पर जाकर चहलक़दमी करें।

हिमाचल राज्य परिवहन, वही सुबह : Road to Nahan

नाहन के अड्डे पर घंटा भर आग तापते रहे। आग के गिर्द जमा हुए कुलियों के अतिरिक्त एक ढीले अंगों वाली युवा औरत भी वहाँ आ बैठी थी।

''चौधराइन, आज कुछ कमाई हुई?'' एक ने पूछा।

चौधराइन ने केवल मुँह बिचका दिया।

''नूरजहाँ बेगम आजकल बात नहीं करती।''

नूरजहाँ बेगम कुछ न कहकर अपनी पिंडली का कोढ़ खुजलाने लगी।

''चाय पियेगी?''

नूरजहाँ बेगम ने फिर मुँह बिचका दिया।

''इसका बाप कोढ़ी मर गया है।''

''क्यों चौधराइन, मर गया तेरा बाप?''

चौधराइन कुछ नहीं बोली, आग तापती रही।

"आज सर्दी बहुत है," एक जवान कुली बोला।

"चौधराइन को दुअन्नी दे और साथ ले जा!"

"चलेगी चौधराइन?"

चौधराइन चुप रही।

"बड़ी मस्ती में है चौधराइन?"

"अरे, यह किसी खानदान में पैदा होती तो क्लब में डानस किया करती।"

कुछ लोग हँस दिए।

कुली ने दुअन्नी निकालकर उसके हाथ पर रख दी और उसके कन्धे पर हाथ मारा।

"चल उठ, उधर चलें।"

चौधराइन ने हथेली फैलाकर दुअन्नी नीचे गिरा दी!

"क्यों, आज भाव तेज़ है?"

'मुआ! कमज़ात!" चौधराइन पहली बार बोली।

"लो, यह बड़ी जातवाली देख लो..." कुली हँसने लगा।

"अरे, चवन्नी दे और ले जा! मरता क्यों है?"

"चवन्नी इसे?...चार आने की बीड़ी न लूँ जो चार दिन चले।"

"अरे, जाने दो भाई! क्यों छेड़ते हो? तुम्हें पता है, उसका बाप मर गया है।"

अँगीठी भभक रही थी। ठंड से ठिठुरते हुए कई बाबू तम्बुओं से निकलकर वहाँ आने लगे। धीरे-धीरे वहाँ बाबुओं का ही अधिकार हो गया। कुली उठ गए। चौधराइन भी अपनी लूली टाँगों से सिमटती हुई परे चली गई। थोड़ी देर में एक क्लीनर ने आकर अँगीठी उठा ली।

"साहब की अँगीठी है।" और वह अँगीठी टेन्ट के अन्दर ले गया, जहाँ पैसेंजर रहस्यमय आकृतियों की तरह अँधेरे वातावरण में धीरे-धीरे बातें कर रहे थे और साहब अर्थात् टिकट बाबू लालटेन लिए हुए टिकट बुक टटोल रहा था।

अम्बाला छावनी स्टेशन, एक बेंच : 6-1-58

प्लेटफार्मों से आगे, कोयले और बजरी के ढेर के उस तरफ़ दो इंजन खड़े हैं–दोनों का मुँह दो अलग-अलग दिशाओं की ओर है–लेकिन पीठ लगभग मिली हुई है। दोनों धुँआ और भाप छोड़ रहे हैं–अपनी इस शक्ति से दोनों हज़ारों टन बोझ खींचकर कहाँ-से-कहाँ ले जाएँगे। अभी दोनों असम्पृक्त हैं–जो गाड़ियाँ इन्हें खींचती हैं, वे इनके साथ नहीं लगी हैं। इस क्षण तक दोनों साथ हैं। मिले हुए हैं। लेकिन दोनों दो-दो बार व्हिसल कर चुके हैं। बाईं ओर का इंजन चल दिया। दाईं ओर का फिर व्हिसल कर रहा है, अपने लिए सिग्नल माँग रहा है। सिग्नल उसे भी मिल गया

है, और वह सीधा जाने की बजाय उलटा उसी दिशा की ओर चल दिया है, जिधर पहला इंजन गया है।

दोनों की गाड़ियाँ अलग-अलग प्लेटफार्मों पर प्रतीक्षा कर रही हैं।

कल से अब तक इन चौबीस घंटों में मैंने जैसे पूरा एक जीवन जी लिया है।

नौ बजे के लगभग बस नाहन के अड्डे पर पहुँच गई थी। चारों ओर देखा। सोचा था वीणा लेने के लिए आई होगी। लेकिन वह नहीं थी। मन निराश हुआ। उसने तार देकर बुलाया और स्वयं लेने के लिए भी नहीं आई? उसे तार तो कल ही मिल गया होगा। फिर?

सामान उतरवाया तो एक खुशशक्ल और सौम्य-सा लड़का पास आया। उसने ज़रा संकोच के साथ पूछा, "आप कहाँ जाएँगे?"

मैंने उसे सिर से पैर तक देखा। लगता था वह नौकर या चपरासी है।

"गवर्नमेंट गर्ल्ज़ हाई स्कूल!" मैंने कहा।

"सामान मुझे दे दीजिए," उसने कहा।

सामान कुली को उठवा दिया था। मेरा कम्बल उस लड़के ने ले लिया। हम चल दिए।

घंटाघर के पास से दाईं ओर को मुड़कर हम सीधे चलने लगे। घाटी में हल्के-हल्के पहाड़ी उभार और उससे आगे दूर तक मैदान दिखाई दे रहे थे। बादलों के कुछ सफ़ेद और सुरमई टुकड़े क्षितिज के पास अटके हुए थे।

लड़का एक क़दम पीछे चल रहा था, इसलिए मुझे बार-बार उसकी ओर मुड़कर आँख से यह निश्चय कर लेना होता था कि ठीक रास्ते पर जा रहे हैं। बल खाती हुई सड़क, हल्की-हल्की उचान और निचान, यहाँ-वहाँ एकाध दुकान, एक प्राइवेट कॉलेज, और जहाँ से अम्बाला की सड़क नीचे को चली जाती है और एक सड़क ऊपर को चढ़ती है, वहीं, ऊपर की सड़क पर चन्द क़दम जाते ही, टीन की ब्राउन रंगी हुई चादरों से घिरे हुए अहाते के पास से गुज़रते हुए पीछे से लड़के की आवाज़ सुनाई दी, "यहीं।"

चार-छह क़दम लौटकर लकड़ी के दरवाज़े से अहाते के अन्दर प्रविष्ट हुए। सामने कमरों की पंक्ति के बाहर काले रंग की तख़्तियाँ लगी थीं, जिनके बाहर प्रत्येक कक्षा के विद्यार्थियों की संख्या आदि चाक से लिखी हुई थी। यूँ, छुट्टी होने से सब सुनसान था।

अहाते में बाईं ओर को क्वार्टर का रास्ता था।

क्वार्टर के बरामदे में पहुँचते ही कमरे से आवाज़ें सुनाई दीं। वह किसी से बात कर रही थी। उषा शोर कर रही थी।

"भाई साहब आ गए हैं," लड़के ने कमरे में झाँककर कहा। मैंने कमरे में प्रवेश किया। वह उठ खड़ी हुई। दोनों ओर से नमस्कार के लिए हाथ जुड़ गए। उषा "अंकल, अंकल" कहती हुई भाग आई।

"कहो उषी, क्या हाल हैं?"

"अंकल आओ, आपको अपना बन्दल दिखाऊँ...आपने ऐसा बन्दल देखा है? ममी, मेला बन्दल कहाँ है? मैं अंकल को अपना बन्दल दिखाऊँगा।"

"अरे तू लड़का है, दिखाऊँगा कहती है?"

"मैं ललका नहीं हूँ, अंकल ललका हैं। मैं तो ललकी हूँ। मैं तो ममी की लानी बितिया हूँ।"

कमरे में एक ही सज्जन और थे–एक वयोवृद्ध व्यक्ति। सफ़ेद बाल, चश्मा, छोटा क़द, घिसा हुआ ब्राउन सूट, घुटनों में ज़रा-ज़रा खम...

"आपके भाई हैं?" उन्होंने दूसरे को प्रसन्न करने के लहजे में मुस्कुराकर पूछा।

"नहीं...ये...हमारे एक मिलने वाले हैं। इनसे मिलिए मिस्टर राकेश, ये हैं मिस्टर वर्मा...मिस्टर राकेश!"

अभिवादन के बाद ही वे सज्जन उठ खड़े हुए।

"अच्छा, तो मैं चलता हूँ।"

"अच्छा, तो मिस्टर वर्मा, मैं कल समय पर पहुँच जाऊँगी। नौ बजे से है न मीटिंग?"

"जी हाँ। अच्छा..."

"नमस्कार!"

"नमस्कार!"

कमरे में बीच में एक छोटी मेज़ थी, जिसके चारों ओर कुर्सियाँ लगी थीं। एक दीवार के साथ चारपाई पड़ी थी। कोने में एक ओर मेज़ थी जो स्टडी टेबल और ड्रेसिंग टेबल दोनों का काम देती थी।

"अंकल, हमारे बन्दल को चाबी दे दो। देखना, यह फिल कैछै छैने बजाएगा।"

"उषा, अभी रख दे बन्दर वहाँ..."

"नई, हम अबी अंकल को अपना बन्दल दिखाएँगे। अंकल चाबी दे दो..."

मैं बन्दर को चाबी देने लगा।

"कैसा रहा सफ़र?" उसने बैठते हुए पूछा।

"सफ़र ठीक ही रहा। अब तो लम्बे-लम्बे सफ़र करने की आदत हो गई है। यूँ रास्ता ऐसा है कि आदमी को आने से पहले बीमा करा लेना चाहिए।"

वह हँस दी। उसके छोटे-छोटे सुन्दर दाँत चमक गए।

"अच्छा, चाय के साथ क्या लोगे–फ्रायड एग या आमलेट, या..."

"मैं पहले सिर्फ़ चाय की प्याली पिऊँगा। नाश्ता नहाकर खाऊँगा।"

"अच्छा।"

वह भागकर बाहर चली गई।

"रामदेई, अभी नाश्ता नहीं बना।...सिर्फ़ चाय दे दे। नाश्ता बाद में खाएँगे।"

बन्दर सिर हिला रहा था और छैने बजा रहा था। उषा उसके साथ नाच रही थी। नाचते-नाचते उसने मेरे हाथ से छीनकर गोगोल का कहानी संग्रह नीचे पटक दिया।

"उषा रानी किताबें इस तरह नहीं पटकते।"

"तो तुम पतक कल बताओ कैछे पतकते हैं? ऐछे? ऐछे?" और उसने अपनी ममी की टेबल से एक-एक करके तीन किताबें उठाकर नीचे पटक दीं। "ऐसे नईं तो कैछे?"

"उषा!" वीणा ने अन्दर आते हुए उसे डाँटा।

"ममी, मैं तो तुमाली लानी बितिया हूँ।"

उषा जाकर उसकी टाँगों से लिपट गई।

"देखा, यह मेरी रानी बिटिया कितना तंग करती है?"

"यह तो जालन्धर में ही देख चुका हूँ। जब तुम इसे साथ लेकर आई थीं..."

क्षण-भर के लिए उसकी आँखों में उषा के लिए तर्जना का भाव आया, फिर मदिर भाव में बदल गया और वह अन्तर्मुख हो गई।

पठानकोट एक्सप्रेस

नाश्ते के बाद उसने कहा, "चलो, ऊपर धूप में चलकर बैठते हैं।"

"ऊपर कहाँ?"

"हायर क्लासिज़ ऊपर की कोठी में लगती हैं। उसके आगे terrace में धूप होगी। वहाँ बैठेंगे।"

"चलो।"

"अपनी किताब भी ले लो।"

"अच्छा।"

सड़क के पार ही ज़रा ऊँचाई पर वह दूसरी कोठी थी। चपरासी ने terrace पर धूप में कुर्सियाँ रख दी थीं। वहाँ बैठकर उसने पूछा, "नाहन कैसी जगह लगी?"

"जगह सुन्दर है, मगर अकेली बहुत है।"

"एकान्त ही तो मुझे लीलने को आता है।"

"तुम्हारी यहाँ कोई सोसाइटी नहीं है?"

"न सोलन में स्कूल अपने घर की तरह था। सारे स्टाफ़ से फ्रेंडशिप-सी थी। यहाँ मैं स्टाफ़ के लिए सिर्फ़ हेड-मिस्ट्रेस हूँ। और और लोग भी...बताओ, सरकारी

अफ़सरों और उनके परिवारों में मैं किस आधार पर मिलूँ-जुलूँ? उनके बीच बैठी हुई भी मैं अकेली पड़ जाती हूँ।...लोग दो-चार बार बुलाते हैं, फिर छोड़ देते हैं।''

उषा स्टापू खेलने के लिए बज़िद थी, और चाहती थी कि ममी बातें न करके उसके खेल में दिलचस्पी ले। वह बार-बार उसकी बाँह खींचती, ''ममी, बताओ क्या डालूँ? छक्का?...यह छक्का!...अब बताओ, क्या डालूँ...?''

''बेबी, तुम खेलो, हमें बात करने दो।''

''नईं तुम भी मेले छाथ खेलो, अंकल भी मेले साथ खेलें...''

''देख, अंकल बड़े हैं, वे तेरे साथ नहीं खेलेंगे। तू जाकर नवीन के साथ स्टापू खेल।''

''नईं, हम यईं पर खेलेंगे। अब बताओ क्या डालूँ...? और वह फिर उसकी बाँह खींचने लगी।

वीणा उसके साथ मशगूल हो गई। उसने बेबी को दौड़ाना चाहा, पर उसे साथ दौड़ना पड़ा। उसने उसे फूल गिनने पर लगाया, मगर उसने झट से एक से सौ तक गिन दिया और फिर ममी के गले से आ चिपटी। कई फूल ज़रूर उसने तोड़कर बिखरा दिए, फिर वीणा ने उसे कापी में तस्वीरें बनाने को कहा। उषा मेरा पेन लेकर कॉपी का और उसका हुलिया दुरुस्त करने लगी, जाकर चबच्चे से पेन को अन्दर बाहर से धो आई, फिर जाकर उसे चबच्चों में डुबो आई। कॉपी के कई पन्ने उसने एक-एक करके फाड़ दिए, फिर काँच का गिलास उठाकर ज़मीन पर पटक दिया। वीणा हताश और परेशान-सी उसके पीछे भटकती रही। मैं अख़बार पढ़ता रहा।

वीणा थकी-सी आकर कुर्सी पर बैठी तो उषा आकर उसके घुटनों से लिपटकर झूलने लगी।

''जा उषा,'' वीणा ने थके और झुँझलाए हुए स्वर में कहा, ''जाकर देख आ कि रामदेई ने खाना बना लिया कि नहीं।''

''जाओ ममी,'' उषा बोली, ''जाकर देख आओ कि लामदेई ने खाना बना लिया कि नहीं?''

''अच्छा आप बैठिए, मैं इसे लेकर नीचे हो आती हूँ। साथ देख भी लूँ कि वह खाने का क्या कर रही है।''

वह उषा को साथ लेकर चली गई। मैं अखबार रखकर टहलने लगा। terrace से नीचे दूर तक का व्यू दिखाई दे रहा था। पिछली तरफ़ सड़क पर मजदूर काम कर रहे थे। बजरी से लदे हुए दो-एक ट्रक खड़े थे। कुछ स्कूल या कॉलेज के लड़के मज़े से गाते हुए चले जा रहे थे।

''बहनजी बुला रही हैं। खाना हो गया है,'' थोड़ी देर में रामदेई ने आकर कहा। उसकी आँखें खोजने के ढंग से मुझे देख रही थीं, जैसे कहीं उनमें सन्देह हो, या

जिज्ञासा। उसके गोरे हिमाचली चेहरे पर कहीं रसिकता की छाया भी थी, हालाँकि वह प्रौढ़ता की उम्र पार कर चुकी थी, उसके आधे बाल सफ़ेद थे और चेहरे की रेखाएँ झुर्रियों में बदल गई थीं।

"चलो, मैं आता हूँ।"

उसने एक बार पीछे मुड़कर देखा और चली गई।

जालन्धर

बेबी ने सारे कमरे में चावल बिखरा दिए थे, उसे खाने से अधिक शौक़ प्लेटें इधर-उधर करने और चम्मच फेंकने का था। वह एक-एक ग्रास खाने के लिए ममी से मेज़ पर 'घंटी' बजवाती थी, और 'घंटी' नहीं बजती थी तो उठकर भाग जाती थी।

"आपके लिए दही भी रखवाया है, मँगवाऊँ?" वीणा ने पूछा। उसकी आँखें अर्थ के साथ उठीं और ओंठ मधुर भाव से फैल गए। मेरी आँखों में भी मुस्कुराहट भर गई। सुबह मैंने उससे कहा था कि मैं नाश्ते के साथ दूध नहीं लेता, खाने के साथ दही खा लिया करता हूँ।

"रायता बना है तो फिर दही की क्या ज़रूरत है?'

"मैंने रखवा दिया था। न लेना हो तो..."

"नहीं, न क्यों लेंगे? माई से कह दो ले आए।"

वह स्वयं जाकर दही ले आई।

"खाना ठीक बना है?" उसने पूछा।

"मुझे खाने का इतना विवेक तो नहीं है, पर जो बना है, अच्छा बना है। इसमें कोई चीज़ तुम्हारी बनाई भी है?"

"नहीं, आज कहाँ बना पाई हूँ? हाँ उस दिन मैंने तुम्हारे लिए अपने हाथ से बनाया था। मगर उस दिन तुम नहीं आए..."

मैं चुपचाप खाता रहा। सवा-डेढ़ महीना पहले उसे लिखा था कि आऊँगा। मगर लुधियाना से तार देकर लौट आया था कि नहीं आ रहा।

"मैंने तुम्हें पत्र में सब लिख दिया था...।"

"पत्र तो बाद में आया न। उस दिन तो हमने इतनी प्रतीक्षा की थी कि बस..."

घंटी नहीं बजी थी, इसलिए बेबी ने खाने की प्लेट पर थूकना आरम्भ कर दिया था।

"बेबी खा, क्या करती है?" उसने झिड़का।

"तुम घंटी बजाओ।"

वह फिर घंटी बजाने लगी।

खाना खा चुकने पर बेबी सन्तरों को गेंद की तरह कमरे में इधर-उधर फेंकने लगी। वीणा जल्दी से साड़ी बदलकर आ गई।

"चलो ऊपर ही चलकर बैठें।"

"चलो।"

उसने सन्तरे ज़मीन से उठाकर प्लेट में रख लिए। अहाते से निकलते हुए मुझे लगा कि जैसे वह पूजा के फूल लिए हुए मन्दिर की ओर जा रही हो। उसके चेहरे पर बहुत सौम्यता और स्निग्ध कोमलता छाई थी।

टैरेस पर आकर फिर अपनी कुर्सियों पर बैठ गए।

"बेबी कहाँ चली गई?" मैंने पूछा।

"मिसेज़ कपिला के यहाँ गई होगी, अक्सर उनके लड़के से खेलने चली जाती है।"

"बहुत नटखट और शरीर लड़की है।"

वीणा सहसा गम्भीर हो गई।

"पिछले तीन महीने तो मैं सबसे ज़्यादा इसी की वज़ह से परेशान रही हूँ। मुझे लगता था जैसे मेरे घर में एक 'वाइल्ड एनिमल' छोड़ दिया गया हो, और वह मुझे जीने न देना चाहता हो। अब तो फिर यह पहले से कुछ सुधर गई है, क्योंकि अब इसे कभी-कभार थप्पड़ पड़ जाता है। पहले मैं इसे बिलकुल नहीं मारती थी। थप्पड़ से यह डर जाती है।"

"बड़ी होकर और सँभल जाएगी।"

"लोग कहते हैं कि तू कैसे कहती है कि यह तेरी लड़की है? यह बिल्कुल उन पर और हमारी मामूजी पर गई है। वे दोनों स्टर्डी हैं।"

जालन्धर : 7-1-58

"मिस्टर सुरेश का कब तक वापस आने का प्रोग्राम है?"

"उनका टर्म तो मार्च में समाप्त हो जाएगा, पर थीसिस पूरा होने में अभी थोड़ा समय और लगेगा। वे वहाँ पर खुश नहीं हैं। मैं तुम्हें उनके पत्र दिखाऊँगी।"

धूप आँखों में पड़ रही थी, इसलिए मैंने कुर्सी की दिशा ज़रा बदल ली।

"उनके लौटने के बाद कहाँ रहोगी? यह वर्तमान अरेंजमेंट हमेशा तो नहीं चल सकेगा।"

"यह अरेंजमेंट तो मेरे लिए मौत के बराबर है। पहले स्कूल के काम में दिल लग जाता था। अब बिल्कुल नहीं लगता। बच्चों की तरह घंटियाँ गिनती रहती हूँ–

अब तीसरी घंटी बजी, अब चौथी, अब पाँचवीं। जब सब घंटियाँ जब चुकती हैं तो फिर एक शून्य आ घेरता है कि इसके बाद क्या करूँगी। इतवार काटना तो असम्भव हो जाता है। सारा वातावरण विरक्त और उदासीन प्रतीत होता है। अन्तर निरर्थकता की अनुभूति से भर जाता है। बार-बार मन पूछता है कि क्यों जीवित हूँ, मर क्यों नहीं जाती? मगर मरने में भी बहुत व्यर्थता लगती है। जी लिया हो तो मरूँ। यह जीने की साध जो बचपन से हृदय को व्याप्त किए है, क्या साध ही बनी रहेगी, और मैं कभी एक क्षण के लिए भी मरकर न जी पाऊँगी?''

वह इस तरह मेरी ओर देख रही थी जैसे उसके प्रश्न का निश्चित उत्तर अभी-अभी मेरे माथे पर उभरने वाला हो।

''देखो मैं नहीं समझता कि मैं तुम्हारे केन्द्र में वर्तमान होकर सोच सकता हूँ। मगर मैं तुम्हारी परिस्थिति को समझने की कोशिश अवश्य करता हूँ। मैं भी परिस्थितियों की उस कटुता में कई वर्ष बिता चुका हूँ। तुम यह सोचकर भूल करती हो कि तुम्हारी समस्या का हल बाहर कहीं से प्राप्त होगा। तुम्हें उसे अपने अन्दर से ही हल करना होगा। जीवन के सब सम्बन्ध सापेक्ष हैं, अनिवार्य नहीं, पहली चेतना तो हमें यह उपलब्ध करनी होगी कि समुदाय के अन्तर्गत व्यक्ति नगण्य है, फिर भी व्यक्ति एक सम्पूर्ण इकाई है—एक पूरा मानसिक यन्त्र है। उपयुक्त चालक न हो तो वह यन्त्र व्यर्थ पड़ा रह सकता है। परन्तु उससे यह अर्थ कदापि नहीं निकलता कि वह यन्त्र व्यर्थ है। उसकी शक्तिमत्ता ही उसकी उपयोगिता का प्रमाण है। उपयोग न होने का खेद हो सकता है पर व्यर्थता की प्रतीति नहीं होनी चाहिए।''

और फिर मैंने मुस्कुराकर कहा, ''अब मैं भाषण देने लगा न? कॉलेज छोड़ दिया, मगर भाषण देने की आदत नहीं छूटी।''

वह भी मुस्कुरा दी।

''तुम्हारे भाषण सुनने के लिए ही तो तुम्हें तार दिया था।''

''तो घड़ी देख लो। एक बार बोलने लगा तो घंटे भर से पहले नहीं रुकूँगा। एक-एक घंटे का लेक्चर देने की आदत है, इसलिए मशीन घंटे भर से पहले रुकने में नहीं आती।''

और मैंने हल्का-सा ठहाका लगाकर कहा, ''मेरा इस तरह हँसना तुम्हें बुरा लगता है न?''

''हाँ, क्यों इतना ज़ोर से हँसते हो?''

''क्योंकि हँसना भी मेरे स्वभाव में है।''

''मुझे लगता है कि कभी तुम मुझ पर भी इसी तरह हँसोगे।''

''नहीं, तुम पर नहीं। कभी भी नहीं। अधिकांशतः तो मैं अपने पर ही हँसता हूँ और जब दूसरे पर भी हँसता हूँ तो उसकी हँसी उड़ाना उद्देश्य नहीं होता।''

कुछ क्षण हम लोग ख़ामोश एक-दूसरे की ओर देखते रहे।

''तुम्हारा बच्चा कैसा है?'' सहसा उसने पूछा।

''मुझे बहुत सुन्दर लगता है, और वह मेरी तरह ही हँसता भी है, हालाँकि वह मुझे पहचानता नहीं और मेरे पास आता भी नहीं।''

''तुम्हें मिला था?''

''हाँ, इलाहाबाद में मिला था। उसका आपरेशन होनेवाला था। राँची में मुझे तार मिला तो मैं कलकत्ता न जाकर इलाहाबाद लौट आया था।''

''किस चीज़ का आपरेशन था?''

''हर्निया का। उसे जन्म से ही हर्निया की शिकायत थी। 28 दिसम्बर को दिल्ली में डॉ. खेरा ने उसका आपरेशन किया है। मैं जानकर आपरेशन के समय उपस्थित नहीं रहा। दोनों की उपस्थिति में आपरेशन होता और कोई untoward situation डिवेलप हो जाती तो बहुत असह्य हो उठता। मैंने शीला से यह request अवश्य की थी कि आपरेशन का सारा ख़र्च मुझे दे लेने दें। दो सौ का एक चैक भेज आया हूँ। और जितना होगा, वह भी भेज दूँगा।''

''बच्चा अब ठीक है?''

''हाँ, ठीक है। टाँके खुल गए हैं और अस्पताल से आ गया है।''

''शीलाजी अब कैसा महसूस करती हैं?''

''निःसन्देह वह सुखी नहीं हैं। एक बच्चा, दूसरे उसके कट्टर आर्यसमाजी संस्कार, तीसरे उसके घर का वातावरण और चौथे उसका अहं उसे दूसरा विवाह नहीं करने देंगे, हालाँकि वह कहती यही है कि जब पहला विवाह सफल नहीं हुआ तो दूसरा सफल होगा, इसी का क्या निश्चय है?''

वीणा ने कुछ नहीं कहा। वह चुपचाप देखती रही। मैं कुछ क्षणों के लिए अन्तर्मुख हो गया। ऊपर की सड़क से एक जीप नीचे को उतर गई।

''तुम्हें खेद होता है?'' सहसा उसने पूछा।

''खेद नहीं होता है, दुख होता है,'' मैंने अपने से बाहर निकलते हुए कहा। ''इस बात को लेकर मेरे मन में कहीं बाधा नहीं है कि सम्बन्ध विच्छेद के सिवा कोई चारा नहीं था। अब तो जितना टूट चुके हैं, उतने को समेट सकते हैं। उस स्थिति में निरन्तर टूटते जाना ही होता। हममें कोई मानसिक सामर्थ्य नहीं था, और यह भी नहीं था कि दोनों में से एक व्यक्तित्वहीन होता। अधिकांशतः दाम्पत्य जीवन इसीलिए निभ जाता है कि दो में से एक में ही व्यक्तित्व होता है, या दोनों में ही नहीं होता। दोनों का बना हुआ व्यक्तित्व हो, और उसमें टकराव हो तो किसी तरह नहीं चल सकता। मैंने उसे एक दिन के लिए भी प्यार नहीं किया और न ही मैंने एक दिन के लिए यह अनुभव किया है कि उसे मुझसे प्यार है। हाँ, उसमें possession की

instinct ज़रूर थी और आज भी मैं समझता हूँ कि उसे वास्तविक दुःख अपनी पराजय का है कि वह possession बनी नहीं रह सकी। जिसे वह अपने विश्वास की हार समझती है, वह वास्तव में उसके अहं की हार है।''

मैंने महसूस किया कि उसका ध्यान मेरी बात से हट गया है, और वह कुछ और सोच रही है।

''तुम कहीं और पहुँच गई हो शायद!'' मैंने कहा।

''मैं अपने ब्रदर-इन-लॉ की बात सोच रही थी,'' उसने कहा। ''इस बार मैं शिमला गई थी तो उनसे बहुत लम्बी बात हुई थी। वे भी कहते थे कि मैं जीवन भर चाहता रहा हूँ कि मेरी पत्नी मुझे प्यार करे, मुझे समझे, मुझे पहचाने, पर वह अपनी ही दुनिया में व्यस्त रही है, मेरे लिए एक मांस के लोंदे से अधिक महत्त्व उसका कभी नहीं रहा—न ही मैं उसके लिए एक समाज द्वारा दिए गए अधिकार की सुविधा से अधिक कुछ बन पाया हूँ। मैं यह भी नहीं कहता कि हम दोनों strangers रहे हैं—बल्कि मुझे तो लगता है कि हृदय की गहराई में हम एक-दूसरे के दुश्मन रहे हैं।''

''यह अनुभव एक व्यक्ति का ही अनुभव नहीं है, बहुत घरों में ऐसा होता है। फिर भी लोग प्रवंचना की ज़िन्दगी जिए जाते हैं, हँसते-खाते हैं, बच्चों की ब्याह-शादियाँ करते हैं, और मर जाते हैं।''

''क्यों होता है ऐसा?'' वीणा ने व्यथा से आँखें मूँद लीं। ''क्यों जीवन इतना मज़बूर हो जाता है?''

''क्योंकि हम जीवन को सृष्टि के विराट् के अन्तर्गत नहीं देखते, बाहर से अपना जायजा नहीं लेते, अपने अन्तर से सधे हुए बाहर की परीक्षा दिया करते हैं। इसीलिए हम सम्बन्धों को सापेक्ष्य न मानकर अनिवार्य समझ लेते हैं। यह स्मरण रहे कि सब सम्बन्ध सापेक्ष्य हैं—पति-पत्नी का भी—तो शायद इतनी बाधा न हो, इतनी घुटन न हो।''

''मैं समझती हूँ,'' वह बोली, ''किन्तु फिर भी कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की एक रेखा बनी रहती है। उचित-अनुचित की बनी हुई धारणा से मुक्ति नहीं होती।''

''क्योंकि संस्कार ऐसे हैं। व्यक्ति या तो अपने विश्वास के अनुसार जीता है, या अपने संस्कारों के अनुसार, या एक बनी हुई आदत के अनुसार। बहुत बार संस्कारों से मुक्त होकर भी व्यक्ति आदत से मुक्त नहीं हो पाता। आदत स्वतः संस्कार बन जाती है।''

वह हँस दी। फिर बच्चों की तरह ओंठ फैलाकर आग्रह के साथ बोली, ''तो मुझे क्यों नहीं बताते हो कि मैं क्या करूँ?''

''मैं केवल इतना ही बता सकता हूँ कि तुम्हें दूसरों से नहीं पूछना चाहिए। स्वयं जो हो, वही होने का प्रयत्न करो। कोई व्यक्ति तुम्हें समूचा नहीं पा सकता, तुम किसी

को समूचा नहीं पा सकतीं। हर व्यक्ति एक भरा-पूरा मार्केट है। उसमें से तुम वह लो, जो तुम्हारे लिए सुन्दर और उपयोगी है, और जिसे लेने की सामर्थ्य तुममें है, और जिसे चुराना या छीनना या याचना से लेना नहीं होगा। इसकी चिन्ता मत करो कि शेष कहाँ जाता है, कौन लेता है। इसी तरह कोई भी व्यक्ति, चाहे उसे पति की संज्ञा ही प्राप्त हो, तुम्हारा सभी कुछ प्राप्त कर सके, इसकी कामना मत करो। जितना उसे अपेक्ष्य है, और तुम्हें देने में बाधा नहीं, वह उसे दो। शेष कहीं और दिया जा सकता है, तो वहाँ दे दो। नहीं दिया जा सकता तो भी खेद मत करो, क्योंकि वस्तुओं का मूल्य क्रय करनेवाले की शक्ति पर निर्भर नहीं करता। उनका वास्तविक मूल्य उनमें निहित रहता है। बाहर से एक आपेक्षिक मूल्य निर्धारित होता है। उसकी चिन्ता मत करो। अपने अन्तर्निहित मूल्य में ही अपनी सार्थकता का अनुभव करो। इस बात से मत बिखर जाओ कि जिस एक व्यक्ति द्वारा पहचाने जाने की तुम्हें अपेक्षा थी, उस एक ने तुम्हें क्यों नहीं पहचाना? वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार जितना पहचान सकता है, जितने का आदर कर सकता है, जितने को प्यार कर सकता है, उसे उतना मुस्कुरा कर दो। शेष अगर गाँठ में ही बना रहता है, कहीं भी उपयुक्त नहीं होता, किसी के द्वारा भी नहीं पहचाना जाता तो भी खेद मत करो। वह तुम्हारी सम्पत्ति, तुम्हें गरिमा देने के लिए है। उस गरिमा का अनुभव करो और विश्वास के साथ जियो। तब निरर्थकता की अनुभूति नहीं रहेगी।''

''और यदि किसी को तुम्हारे किसी अंश की भी आवश्यकता न हो तो?''

''तो भी खेद न करो। तुम उसके लिए अपरिचित हो, यह साहस के साथ स्वीकार करो। न स्वयं उसके लिए बाध्यता बनो और न उसे अपने लिए बाध्यता बनने दो। मुस्कुराकर उससे विदा ले लो और हट जाओ। वह हटना चाहे, उसे हट जाने दो। रजिस्ट्री के दफ़्तर में हस्ताक्षर हुए थे, मात्र इतने के लिए जीवन भर की विडम्बना को ढोने का कोई अर्थ नहीं है।''

''और साहस न हो तो...?''

''उसका संचय करो। चाहने और न करने में जो बुज़दिली है, वह अवश्य व्यक्ति को मार देती है।''

''मैं तुम्हें उनके सब पत्र पढ़ने को दूँगी। पढ़ोगे?''

''अवश्य पढ़ूँगा।''

''फिर मुझे बताना कि तुम उनके सम्बन्ध में क्या सोचते हो। वे भी बहुत सेन्सिटिव आदमी हैं। उनके साथ भी यही ट्रेजेडी है कि उन्हें अपनी पत्नी में जिस चीज़ की खोज थी, वह उन्हें मुझमें नहीं मिली। वे मुझे अपने अनुकूल बनाना चाहते हैं। मैं उन्हें छोड़ दूँ तो भी, मैं जानती हूँ कि उनके दिल को बहुत चोट लगेगी...''

उसने आँखें झपकाते हुए एक ठंडी साँस ली और सड़क की ओर देखने लगी। टेरेस के किनारे उगी हुई बाड़ में चिड़ियाँ एक दूसरी के पीछे दौड़ती हुई चुहल कर रही थीं।

''चाय पियोगे?'' उसने पूछा।

''हाँ।''

''यहीं मँगवा लेती हूँ।''

''नहीं, नीचे चलकर ही पियेंगे।''

''चलो।''

मैंने अख़बार और काग़ज़ समेट लिए। उसने प्लेट और छिलके उठा लिए।

''यहाँ लोग न जाने क्या सोचेंगे कि तुम कौन हो? फिर भी मुझसे रहा नहीं गया। रामदेई सुबह पूछ रही थी कि क्या बेबी के पापा आ गए हैं? मैंने कहा कि नहीं, बेबी के अंकल हैं।...अब मिसेज़ कपिला पूछेंगी...अरे, उनके यहाँ आज एक मीटिंग भी थी, दो बजे से स्टडी सर्कल की। मैंने ही उनसे कहा था कि स्टडी सर्कल शुरू करो। मुझे हो आना चाहिए था।''

''तो अब हो आओ। अभी तीन-सवा तीन ही हुए हैं।''

''हो आऊँ? नहीं, अब नहीं जाऊँगी।''

''क्यों?''

''अब जाऊँगी तो सहज भाव से नहीं बैठ सकूँगी। और वे पूछेंगी कौन मेहमान हैं, तो क्या कहूँगी? मित्रता भी एक रिश्ता होता है, यह तो लोग समझेंगे नहीं।''

''समझाना ज़रूरी भी क्यों है? तुम उनसे कुछ भी कह सकती हो...''

हम लोग दरवाज़े से निकल रहे थे। निकलते ही दो लड़के मिल गए जो शायद क्वार्टर से होकर आ रहे थे।

''बहन जी, ममी बुला रही हैं,'' बड़े लड़के ने कहा।

''देखो, मेरे मेहमान आए हुए हैं। उनसे कहना, मैं अभी इन्हें चाय पिलाकर...''

''इन्हें वहीं चाय पिला दीजिएगा। वे कह रही थीं कि उनसे कहना, ज़रूर आएँ।''

मैं चलता हुआ क्वार्टर में पहुँच गया। दो-एक मिनट बरामदे में चहलक़दमी करता रहा। फिर वह आ गई।

''रामदेई, जल्दी से चाय बना दे।'' उसने दरवाज़ा खोलते हुए कहा। कमरे में पहुँचकर बोली, ''एक झूठ बोल आई हूँ। यह नहीं कहा, हमारे मित्र हैं। कहा है, हमारे उनके एक मित्र हैं।''

''तुम्हें वहाँ जाना है, थोड़ी देर के लिए हो आओ।''

''हो आऊँ?...मगर मैंने कहला तो दिया है कि शायद न आ पाऊँ।''

''कहला दिया है तो मत जाओ।''

"तुम चाय के साथ कुछ लोगे?"

"नहीं, सिर्फ़ चाय।"

"अच्छा, तो मैं बाहर जाकर देखती हूँ..."

"नहीं, तुम मत देखो। रामदेई ले आएगी। तुम बैठ जाओ।"

"अच्छा, मैं कपड़े तह करके रख दूँ। बिखरे पड़े हैं।" वह कुर्सियों पर बिखेरी हुई साड़ियाँ आदि उठाने लगी। मुझे ध्यान आया कि सुबह मैंने ही उसे कह दिया था कि वह अपने घर के मामले में बहुत केयरलेस है—उसके आसपास इतना बिखराव नहीं होना चाहिए, और उसने कहा था कि यही बात वे भी कहा करते हैं, पर उसे किसी के आदेश से कुछ करने का उत्साह नहीं होता, बल्कि मन विद्रोह कर उठता है। बचपन में उसे अपने घर को सजाने और सुन्दर बनाने की बहुत रुचि हुआ करती थी, पर अब तो वह उतना ही करती है जितना किए बिना चल ही नहीं सकता, शेष सब रहने देती है। क्यों करे?

"अब यह उठाना-धरना इसलिए शुरू कर दिया कि सुबह मैंने कहा था?"

"नहीं, अच्छा नहीं लग रहा। दो मिनट में सब ठीक कर देती हूँ..."

"नहीं, आज नहीं। इस समय यहाँ कुर्सी पर बैठ जाओ।...बैठ भी जाओ भाई..."

वह साड़ी तह करती हुई हँस दी—"प्राण रहने दो यह गृहकाज, आज रहने दो सब गृहकाज..."

मैंने उसकी हँसी में योग दिया।

"यही पंक्तियाँ मेरे ध्यान में भी आई थीं," मैंने कहा।

"तभी तो मैंने बोल दीं।"

"तो अब बैठ जाओ।"

वह शेष कपड़े कुर्सी पर छोड़कर सामने की कुर्सी पर आकर बैठ गई।

रामदेई ने चाय की ट्रे मेज़ पर ला रखी। वह चली गई तो मैंने कहा, "यह औरत काफ़ी रंगीन-मिज़ाज प्रतीत होती है।"

"अरे, इसकी रंगीन-मिज़ाजी तो यहाँ मशहूर है। लोग इसीलिए उसे अपने यहाँ नहीं रखना चाहते...। बेचारी करे भी क्या? बहुत पहले इसका पति मर गया था।"

"फिर किसी दूसरे के यहाँ नहीं गई?"

"नहीं, किसी एक के यहाँ नहीं—"

मैं हँस दिया।

"अब तो यह बुढ़्ढ़ी हो गई। अभी भी इसकी रंगीनियाँ चलती हैं?"

"अरे, यह अब भी किसी-किसी दिन बहुत ख़ूबसूरत लगती है। शौक़ीन भी बहुत है। रोज़ धुले हुए कपड़े पहनती है। एक दिन मेरी अनुपस्थिति में मेरा पाउडर-क्रीम खोलकर बैठी हुई थी।"

हम दोनों हँस दिए।

"आए दिन उसका कोई-न-कोई क़िस्सा सुनने में आ जाता है। वह यह भी कहती है कि बहन जी के सिवा किसी के घर में मेरा गुज़ारा नहीं हो सकता। जब मैं पहले यहाँ पर थी तो इसे स्कूल में माई लगाया था। मेरे बाद यह निकाल दी गई। इस बार मैं आई तो यह फिर नौकरी माँगने आ गई। मैंने इसे इस बार खाना-वाना बनाने के लिए रख लिया।"

चाय की प्यालियाँ बन गई थीं। हम एक-एक प्याली उठाकर पीने लगे।"

चाय के कुछ देर बाद मैं शहर की ओर घूमने निकल गया। उषा खेलकर आई तो उसने बताया था कि आंटी कह रही हैं, ममी को ज़रूर भेजो। शायद और भी कोई बुलाने आया था। वीणा ने प्रस्ताव किया कि हम लोग साथ-साथ बाहर चलें। वह मिसेज़ कपिला के यहाँ चली जाएगी और मैं किसी तरफ़ चक्कर लगा आऊँगा। मेरा सूट बैग में काफ़ी सुकड़ गया था, क्योंकि रात को मैंने बैग को तकिए के तौर पर इस्तेमाल किया था। वीणा ने जल्दी से वह इस्तरी कर दिया। बेबी ने गर्म इस्तरी को छूकर हाथ जला लिया। इस्तरी फिसलकर नीचे फ़र्श पर गिर गई और एक ओर से टूट गई। बाहर निकलते हुए वीणा ने वह भूरा कोट पहन लिया जो वह लन्दन से लाई थी। मुझे उसके शरीर पर वह कोट बड़ा-बड़ा लगा।

सड़क पर आकर उसने कहा, "मैं कुछ दूर तक तुम्हारे साथ चलूँ?"

"नहीं, तुम जहाँ जा रही हो, हो आओ। मैं किधर भी निकल जाऊँगा।"

"मिलिट्री राउंड से सूर्यास्त बहुत सुन्दर लगता है..."

"लेकिन सूर्यास्त हो चुका है, और मैं नहीं जानता मिलिट्री राउंड किधर को है। मैं अड्डे की तरफ़ चला जाऊँगा, और जहाँ से मन होगा, लौट आऊँगा। तुम कितनी देर में आओगी?"

"तुम जितनी देर में कहो।"

"मैं आध-पौन घंटे में आ जाऊँगा।"

"अच्छा।"

वह बेटी को लिए हुए ऊपर को चल दी, और मैं नीचे की ओर।

थोड़ा-सा परिचित रास्ता तय करके अनजान रास्ते पर हो लिया। एक कैफिटेरिया, कुछ दुकानें, नाहन फाउंडरी, महिमा लाइब्रेरी, काली स्थान, पुलिस लाइन्स, बस स्टैंड...

सड़कें प्रायः सुनसान थीं। कहीं ही कोई एकाध लोग चलते नज़र आते थे। स्त्रियाँ जैसे उस शहर में थीं ही नहीं। पौन घंटे में मुझे एक ही स्त्री सड़क पर दिखाई दी।

मेरे क्वार्टर में पहुँचने से पहले वह आ गई थी।

"कहाँ-कहाँ घूम आए?" उसने पूछा।

मैंने रास्ते में जितने बोर्ड पढ़े थे, सब गिना दिए।

"तो शहर के अन्दर नहीं गए?"

"मुझे और कोई अन्दर मिला ही नहीं।"

"अच्छा बताओ, रात को क्या खाओगे?"

"तुमने क्या-क्या बनवाया है?"

"मीट बन रहा है, और..."

"मीट बन रहा है तो और कुछ नहीं चाहिए। मीट के साथ और कुछ नहीं खाया जाता।"

"अच्छा।"

"मगर मुझे इस समय भूख लगी है।"

वह दो लिफाफे ले आई। एक में दालमोठ थे और दूसरे में कलाकन्द।

"यह तुम्हें पता था कि मुझे इस समय भूख लगेगी?"

"नहीं, चाय के लिए मँगवाया था।"

"तो चाय के साथ दिया क्यों नहीं?"

"तुमने कहा था, नहीं लेंगे।"

"इतनी जल्दी मान जाती हो?"

वह मुस्कुरा दी। मैंने हाथ बढ़ा दिया। उसका हाथ मेरे हाथ में आ गया। मैं उसकी उँगलियों से खेलने लगा।

मेरे मस्तिष्क में वे दिन उभर आए, जब हम लोग पहले-पहल परिचित हुए थे।

दीदी के यहाँ एक पार्टी हुई थी, जिसमें कई लोग निमन्त्रित थे। उन्हीं में एक थे प्रो. चोपड़ा। ट्रेनिंग कॉलेज में वे भी पढ़ाते थे।

बातों-बातों में बेतकल्लुफ़ी हो गई। अपने यहाँ एक दावत हुई तो उन्हें निमन्त्रित किया। उनके साथ उनकी लड़कियाँ और साली भी आई।

खाने के बाद गपशप होती रही। प्रेम और बिसारिया ने कविताएँ सुनाईं। मिस्टर चोपड़ा ने बताया कि उनकी साली भी कविताएँ लिखती है।

उससे कविता सुनाने का आग्रह किया गया। बहुत आग्रह पर सुनाने लगी तो सिर से पैर तक लाल हो गई। पाल और मैं दो व्यक्ति थे जिन्होंने उस सुन्दरता को विशेष रूप से लक्षित किया।

पार्टी के कई दिन बाद एक दोपहर को जब घर पर कुछ टाइप कर रहे थे तो सहसा पीछे के कमरे में एक आकृति आकर खड़ी हो गई। उसे पहचानते ही पुलक हो आया।

''आइए...''

वह बैठ गई।

''डॉ. मदान ने मुझे भेजा है...'', उसने कहा। ''मैंने चोपड़ा साहब से कहा था कि वे मुझे साथ ले चलें पर वे बहुत व्यस्त रहते हैं, इसलिए अकेले ही आना पड़ा।''

''बताइए...''

और उसने बताया कि वह सोलन से सर्दी की छुट्टी में वहाँ आई है, इसलिए कि एम.ए. की तैयारी कर सके। वह अप्रैल में परीक्षा देना चाहती है। उसने डॉ. मदान से गाइडेन्स के लिए कहा था और उन्होंने मेरा पता बता दिया था।

''आप मुझे अपने लिखे दो-एक आर्टीकल दिखा दीजिए, फिर मुझसे जो बन पड़ेगा, मैं अवश्य करूँगा।''

''आप विषय बता दीजिए...''

मैंने दो-एक विषय बता दिए।

वह थोड़ी देर बैठकर चली गई।

जालन्धर : 10-1-58

सात को सतीश मिला। जब रात को घर लौट आए तो वह इन्तज़ार कर रहा था। साढ़े चार वर्ष बाद। आख़िरी बार बम्बई में मिले थे—अप्रैल 1953 में, जब वह अफ्रीका जा रहा था।

उसमें सिवा इसके कोई परिवर्तन नहीं आया कि पहले से थोड़ा मोटा हो गया है और चश्मा लगाने लगा है।

आठ को सुबह वरीन आ गया। दो दिन शॉपिंग-आपिंग ही करते रहे। रात वरीन से लम्बी बात हुई। शीला के साथ अपने सह-अस्तित्व के दिनों की स्मृति से वह भी बहुत छिला हुआ है। रात मन बहुत उमड़ आया।

सतीश और वरीन ने एक-एक लतीफ़ा सुनाया।

सतीश का लतीफ़ा—पाकिस्तान में आए रूसी के ख़ुदा के विश्वास के बारे में, और वरीन का—कॉमेडियन ओम प्रकाश के सेट पर गोप को तीन बार नमस्कार करने के बारे में।

रात वीणा का पत्र पूरा नहीं पढ़ा था। यहाँ उसका पत्र और उसका उत्तर दोनों लिख ले रहा हूँ :

राकेश,

तुम्हें जो चाहिए था सम्भवतः तुम्हें मिल गया, पर मैं जो चाहती थी, वह अभी मुझे नहीं मिला। मैं उजली धूप में भीगी घाटियों में घूमना चाहती थी, मैं आसमान के स्वरों से पुलकायमान होना चाहती थी, मैं हिमालय के उच्च शिखर के गुहा-स्थित मन्दिर की गहन घंटा-ध्वनि को अन्तर में भर लेना चाहती थी। वह नहीं हो सका, उसका सुयोग नहीं मिला।

कुछ हल्की-सी निराशा, कुछ उन्मुखता है। क्या विश्व में कहीं भी शारीरिकता-विरहित कुछ नहीं? फिर मेरे अन्तर में क्यों ऐसी अनुभूति होती है? क्या अपनी कल्पना के दिव्य भाव की पूर्ति के लिए पत्थर के देवता के आगे ही सिर रगड़ना होगा? पर उस पत्थर के देवता में पुलक कहाँ होगा? वह पुलक क्या भक्त के अन्तर का ही होता है?

इन दिनों गीता पढ़ रही हूँ। कभी शान्ति, कभी उद्वेग, कभी करुणा उमड़ती है। पर ये जलकण बड़े शीतल हैं। इनमें कोई क्षोभ, कोई उपालम्भ, कोई पश्चाताप नहीं।

एक बात तुम्हें बताना चाहती थी। तुमसे मिलने के उपरान्त मुझे कुछ नया नहीं मिला और मैंने सिवाय एक प्रिय मानव की निर्बलता को करुणा के अवलम्ब के दिया भी कुछ नहीं। तुम्हें कुछ मिला, या तुमने पा लिया, या ले लिया, वह तुम्हीं जानो।

इन पंक्तियों को पढ़कर लौटा देना।

आज तुम्हारा जन्मदिन है। माँ को मेरी ओर से मुबारकबाद देना।

मैं भी professional writer बनना चाहती हूँ। क्या बन सकती हूँ?

वीणा,

तुम्हारा पत्र मुझे मिल गया है।

मैंने पहले दो पत्रों में लिखा है कि मैं अपने अन्तर में कुछ भरा-भरा सा महसूस करता हूँ। परन्तु यदि तुम सोचो कि यह भरना स्थूल उपलब्धि को लेकर है, तो मेरे साथ न्याय न होगा। स्थूल की उपलब्धि कहाँ सम्भव नहीं? परन्तु हर स्थूल की आत्मा में ही वायव्य कुछ नहीं होता, जिसे आत्मीयता कहते हैं। मेरा जो अभाव भरा, वह था किसी की आत्मीयता में डूब जाने का। तुम्हें शरीर से वितृष्णा है—मुझे नहीं है। मेरी दृष्टि में शारीरिक पुलक में आत्मीयता की दीप्ति हो सकती है।...उस दीप्ति के अभाव में शारीरिक पुलक पाशविकता है। मैंने पाशविकता का जागरण अपने में कई बार देखा है। परन्तु इतना दिग्भ्रान्त नहीं हूँ कि उसमें और इसमें अन्तर न कर सकूँ। फिर भी, मैं तभी से जानता हूँ कि तुम्हें ऐसा लगा है। मुझे खेद है। तुम्हें दोष क्योंकर दूँ? तुमने क्या किया, क्या नहीं किया, उसका लेखा-जोखा मैं नहीं कर सकता। परन्तु कुछ क्षणों की दुर्बलता को मेरी उपलब्धि मानकर तुमने उचित नहीं किया। मैंने तुम्हें 'पुनरावृत्ति' के अतिरिक्त कुछ न दिया हो, पर जो मैंने तुमसे प्राप्त किया, वह आत्मीय

तत्त्व मेरे लिए अनुपलब्ध था, और विश्वास करना चाहता हूँ कि अछूता भी था। करुणा का अवलम्ब भी अन्ततः अवलम्ब तो है।

एक बात कहूँगा। अप्राप्त की प्राप्ति कल्पना में नहीं होती, भावना में होती है, क्रिया में होती है। क्या तुममें अपनी कामना को—अमूर्त की चाह को—भावना और क्रिया देने की शक्ति है? तुम जो हो, वह भी बनी रहना चाहो, और अतिरिक्त भी पा लेना चाहो, यह क्योंकर होगा? यह नहीं कि 'उजली धूप में भीगी घाटियों' तक जाने के रास्ते नहीं है। लेकिन रास्तों के अतिरिक्त चरण भी तो चाहिए—और विश्वास, अपने पर, मार्ग पर, सम्बल पर। यूँ अपनी असमर्थता को दूसरों की देन मान लेने से असन्तोष कुछ हल्का भले हो जाए—परन्तु सिद्धि क्या हो पाएगी?

तुमने अपनी पंक्तियाँ लौटा देने को कहा है। तुम्हारे विश्वास की यह परिणति है तो उन्हें रोककर रखूँगा भी नहीं। लेकिन, एक बार फिर माँगो। लौटा दूँगा।

किसी दूसरे को उपादान रूप में कभी मत ग्रहण करो। पुरुष हो, भावना हो या पत्थर, अपने से बाहर उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकारो। फिर उसे छुओ। तब इस तरह अनुपलब्धि का खेद न होगा। क्योंकि देना भी एक उपलब्धि है।

मैंने गीता नहीं पढ़ी। इतना फिर भी कह सकता हूँ कि जिधर प्रवृत्ति न हो, उधर कभी मत चलो। और जिधर प्रवृत्ति हो, उधर चले हुए हर चरण को अपनी सार्थकता मानो। जीवन में 'तटस्थता' कुछ नहीं है।

मैं तुम्हें तुम्हारे उपादान के रूप में कभी नहीं मिलूँगा। यदि मिलूँगा और जब भी मिलूँगा, एक इन्सान के रूप में मिलूँगा, जो हर दृष्टि से सामान्य है, और इसीलिए संवेदनहीन नहीं है। मैत्री एक पूर्ण और एक पूरक साँचे का संयोग नहीं है। पूर्णता और पूरकता दोनों ओर होती है।

तुम्हारे पत्र ने मुझे कहीं से छीला है, यह मैं निःसंकोच स्वीकार करता हूँ।

Professional writing का एक ही अर्थ है...consistent, writing उसमें भला क्या बाधा हो सकती है?

एक और पत्र—

नीड़ में जाकर मन आकाश के लिए तड़प उठता है और आकाश में उड़ते हुए नीड़ की उष्णता पीछा करती है।

मैं वह अभिशप्त हूँ, जिसे बन्धन बाँधता नहीं—मुक्ति, मुक्ति नहीं देती।

जालन्धर : 11-1-58

एक और पत्र—

हर व्यक्ति, जिससे मेरा साक्षात्कार हो, मुझे एक नया चेहरा देता है।

मैं किसी से सुन्दर या असुन्दर व्यवहार करता हूँ, किसी के सामने हँसता या रोता हूँ, किसी के समक्ष छिछला या गम्भीर हो जाता हूँ, तो वह मेरा रूप, नितान्त मेरा ही नहीं होता, उसका भी होता है, जिसकी भावुकता में वह प्रकट होता है।

इसलिए मेरा पाप उसका भी पाप है, जिसके आधार पर वह जन्म लेता है। मेरा पुण्य उसका भी पुण्य है जो उस पुण्य की प्रेरणा बनता है।

इसलिए मैं बँटा हुआ हूँ। मैं एक नहीं, अनेक हूँ। मैं व्यक्ति नहीं, समाज हूँ, समूह हूँ, युग हूँ, विस्तार हूँ।

इसलिए अकेला नहीं हूँ।

क्योंकि इकाई होते हुए भी सब इकाइयों में अन्ततः हूँ। अतः मृत्यु मुझे नहीं व्यापेगी। क्योंकि मृत्यु एक आपेक्षिक सत्य है। विघटन भी उतना ही जीवन है जितना कि संघटन।

इसलिए क्षण-क्षण बदलता और विकीर्ण होता हुआ मैं, अनश्वर हूँ।

और तुम मेरी अनश्वरता की उपाधि।

क्योंकि तुम्हारी सम्पूर्णता में मैं अपना अनश्वर रूप देख सकता हूँ।

जबकि कई औरों के सामने मुझे नश्वर रूप ही अपना नज़र आता है जोकि शुभ है।

किन्तु विडम्बना यह है कि मेरी भ्रम मुक्ति, कि मेरा यह रूप तुम्हें भ्रम में डाल देता है।

जालन्धर : 12-1-58

सुबह ल...अपने बुने हुए स्वेटर और दस्ताने दे गई थी।

शाम को न...और उ...आई। मूड उखड़ा-उखड़ा-सा था। ठीक से बात भी नहीं कर पाए। न...ऊपर पढ़ने के कमरे में चली गई, और नाहन की डायरी का आरम्भिक भाग उसकी नज़र पड़ गया—ऊपर जाकर उसे पढ़ने से रोक दिया।

हमारे पड़ोसी कई बार रहस्यमय नज़रों से इधर की ओर देखते हैं। उन्हें शायद आश्चर्य होता है कि यहाँ इतनी लड़कियाँ क्यों आती हैं?

आज लोहड़ी है। लोग पटाखे चला रहे हैं। बच्चे चीख़ रहे हैं। हम बच्चे थे, तो कितनी उत्सुकता से लोहड़ी की प्रतीक्षा करते थे। हम किसी के यहाँ लोहड़ी माँगने नहीं जाते थे। शायद एक ही बार लड़कों की एक टोली के साथ एक घर की सीढ़ियाँ चढ़े थे।...मगर रात को हमारे घर के आगे ही चौक में लोहड़ी जलती थी। हमारे चाचा और दूसरे लोग भुने हुए गन्नों को ज़मीन पर मारकर पटाखे चलाते थे। हम भी गन्ना तपाकर ज़मीन पर मारते थे, पर पटाखा नहीं बोलता था। बहुत कोफ़्त होती थी।...फिर ऊपर छज्जे पर चले जाते थे। आगे के चिनगाड़े आकाश में बहुत ऊँचे

तक जाते थे। हम उन्हें देखा करते थे। माँ या दादी रेवड़ियाँ ले आती थीं, और खजूरें। हम खजूरें बहुत चाव से खाते थे।

मगर आज हम अकेले हैं। ज़िन्दगी अपने में सीमित-सी है। नहीं, ऐसे जीना अच्छा नहीं है। ख़ूब खुलकर जीना चाहिए। आज न...कहती थी—"You have unconsciously created a shell around you." उसकी आँखों में एक शरारत-सी रहती है, जिसका कुछ भी अर्थ हो सकता है।

ल...सुबह जन्मदिन की भेंट एक किताब भी छोड़ गई थी—Bertrand Russell की 'Conquest of Happiness.' मेरे जीवन की साधना भी तो यही है। हर जीवन की यही साधना होती है शायद।

But can this reading of a book make one happy?

प्रो. डोगरा एक ऐसा व्यक्ति है जिसकी सारी विचारधारा जननेन्द्रिय के इर्द-गिर्द घूमती रहती है। उसके पचास प्रतिशत से अधिक वाक्य स्त्री और पुरुष के अन्यतम संसर्ग की अभिव्यक्ति करते हैं।

He seems always possessed by this thought. It seems that he is the weaker partner in his sex life. That is why he exhibits himself so much in public.

वरीन कल चला गया। कल दिल बहुत भर आया था। अन्ततः वह अभी बच्चा है। सोचा था एक वर्ष के स्वतन्त्र उपार्जन और विदेश निवास ने उसे परिपक्व कर दिया होगा। पर नहीं—वह अभी भी सोलह आने वही बच्चा है—जो यहाँ से जाने से पहले था।

रात अजब complication हो जाती। वरीन जनता से चला गया और उसका टिकट अपनी ज़ेब में रह गया। यह भी कुली ने याद दिला दिया। लुधियाना टेलीफ़ोन करवाया और स्वयं हावड़ा से जाने का निश्चय किया। पर वरीन को जल्दी होश हो आया। वह जालन्धर छावनी से ही लौट आया। इस तरह उलझन बच गई। नहीं, दोनों को वह परेशानी होती कि तौबा!

जोशी साहब तशरीफ़ ले आए हैं—आज का अफसाना खत्म होता है।

जालन्धर : 14-1-58

कल दोपहर से दिमाग़ फिर अव्यवस्थित है। It is lack of application? I think that it is lack of proper emotional outlet.

Jullundur : 17-1-58

I have decided to shift to Delhi. I am going there today to see about the place of residence. I might finalise in two weeks' time.

I feel good for having decided this.

They gave me a farewell in the college yesterday. I have found these farewells always very depressing, as they smack of complete lack of feeling on the part of those who give farewells and misconceived vanity on the part of those who accept them. I would much rather have warm handshakes than pastries and euologies from my wellwishers.

Vareen was broadcasting once again from Colombo this morning. It reduces an immediate worry about him considerably.

New Delhi : 18-1-58

I have spent only a day here and already feel that I have been here for months. The change, however, has done me much good mentally. I am horrified at the idea of going and living back at Jullundur. I should have shifted from there a long time back. The plan and surroundings tend to change the very mode of thinking and behaviour of a person. How terribly I have wasted myself daily the last eight years! I simply cannot go back to that city of unhealthy dark room emotions!

I had mixed feelings during the day. Some of the old acquaintances met me very coldly, while others greeted me very warmly. The enthusiastic greeting of Fiqra Tonswi was overwhelming.

Saw the picture 'Back from Eternity' at Rivoli. It was about a party stranded in a rocky jungle after the forcelanding. of their damaged plane. It was a very well executed story. The climax, the killing of the old couple with the last two cartridges by the criminal, was superb.

Now I am here–above in the flat and feel a little disconcerted.

जालन्धर : 20-1-58

जालन्धर में रहना मुश्किल है। निश्चय ही है कि दिल्ली चले जाएँगे।

ज़िन्दगी तकिए के सहारे लेटे हुए नहीं जी जाती। साधन नहीं हैं, इसलिए मुश्किल बहुत होगा, मगर जो भी हो।

It is always good to seek new sensations.

नरेन्द्र ने एक मज़ेदार बात सुनाई। उसके बड़े भाई साहब ने एक बार आलू की सब्जी बनाई, जो संयोगवश अच्छी बन गई। उसके बाद हमेशा घर के सब लोग उनकी सब्जी को याद करके उनसे वैसी ही सब्जी बनाने के लिए कहते रहे, मगर भाई साहब ने फिर ज़िन्दगी भर सब्ज़ी नहीं बनाई—कि कहीं दूसरी बार ख़राब बन गई तो बना-बनाया नाम ख़राब हो जाएगा।

"यही हालत मिडिआकर लेखक की होती है, जो एकाध अच्छी चीज़ लिखकर ज़िन्दगी भर उसी का गुणगान करता रहता है।" नरेन्द्र ने कहा।

मैं ख़ूब हँसा।

जालन्धर : 21-1-58

डॉ. मदान का सुझाव है कि दिल्ली घूम आऊँ, मगर scholarship अभी resign न करूँ—

कई दिनों के पत्र जमा हो रहे हैं—कल कुछ पत्र लिखने चाहिए।

दिमाग़ जड़ है—जागने का प्रयत्न व्यर्थ है।

Jullundur : 22-1-58

I do not know how I feel. Probably I am happy, very happy. M... came this morning, when I was working at my typewriter. She remained here for an hour or so. I said everything to her that I wanted to. She gave me her promise to marry me. I do not know how I feel about it. I feel terribly excited. The day had a real feel of spring in it. The grass looked more green than ever. I felt as if I were the master of the world. Love certainly is a positive sentiment, in spite of all the master of the cynicism of my friends. I love the young girl and it gave me intense pleasure to know that she has this same feeling for me. I am happy, for I look a few glasses of beer just now to enjoy my happiness. Oh! How nice and blissful I feel! I feel as if we are already married!

जालन्धर : 23-1-58

उनींदी रात—

दो बजे जाग गया था। बार-बार मन में आशंकाएँ जागती थीं—बार-बार मन में उद्विग्नता भर जाती थी—

पाँच बजे तक जागता रहा, फिर सो गया।

...नहाकर कंघी कर रहा था—मन में कुछ वासन्ती-सी अनुभूति लिए—जब दरवाज़े पर दस्तक हुई—देखा—म...ही थी।

"मैं कॉलेज जा रही हूँ, बैठूँगी नहीं," उसने आते ही कहा।
"कहो, क्या बात है?"
"कुछ नहीं।"
"ऐसे खड़ी क्यों हो? उधर चलो, बैठकर बात करेंगे।"
"नहीं, मैं जाऊँगी।"
"मगर बात...?"
उस पर वही जड़ता छाई थी। चेहरे पर ज़र्दी, आँखों में विषाद–
"बैठ तो जाओ।"
"नहीं।"
वह खड़ी रही। फिर स्वयं बैठ गई।
"मैं कहने आई हूँ..."
"कहो।"
"आप दिल्ली जा रहे थे न...आप दिल्ली चले जाइए। मैं माफ़ी माँगने आई हूँ..."
"म...।"
वही आँखें–जैसे वे आँखें भर्त्सना कर रही हों, या अपनी व्यथा का निवेदन...
"कल तुमने मुझे वचन दिया था।"
उसने सिर हिलाया।
"तो...?"
वह चुप रही।
"तो यही अन्त है?"
वह चुप रही।
"बोलो?"
उसने सिर हिलाया–नहीं।
"तो?"
"मुझे जाना है–मेरी क्लास का समय हो रहा है।"
"तुमने कल कहा था–"
"मुझे माफ़ कर दीजिए।"
"तो यह विदा है न?"
वह चुपचाप देखती रही।
"तुम्हारी किसी से बात हुई है?"
"नहीं।"
"तो?"
वह चुपचाप देखती रही।

"तो यह अन्तिम विदा है न?"

वह चुप रही।

"हम कभी नहीं मिलेंगे न? तुम कभी नहीं आओगी न? मैं तुमसे कभी नहीं मिलूँगा न?"

वह चुपचाप देखती रही।

"तो फिर..."

"मैं चाहता हूँ तुम सुखी रहो–कल तुमने अपना हाथ मुझे दिया था–आज फिर दो–विदा के लिए–"

उसने हाथ हटा लिया।

"मैं नहीं चाहता कि इसके बाद हम मिलें, एक-दूसरे को देखें–क्योंकि आमने-सामने आने से दुःख बढ़ता है–"

वह खड़ी हो गई।

"मैं चलूँगी।"

और उसका हाथ बढ़ आया। मैंने उसका हाथ दबा दिया।

"जाओगी?"

वह चुप रही।

"कभी नहीं आओगी न?"

वह किवाड़ के साथ टेक लगाए उसी दृष्टि से देखती रही। फिर चिक उठाकर खड़ी रही। फिर बाहर निकल गई।

"गुड बाई–हमेशा के लिए–हमेशा-हमेशा के लिए–"

वह धीरे-धीरे बरामदे से उतरी, और साइकिल उठाकर चली गई–

साधारण-सी घटना।

फिर भी जीवन के लिए कितनी महत्त्वपूर्ण।

कल उसने अपना हाथ मेरे हाथ में दिया था, तो मैंने सोचा था कि घर बसाकर रहूँगा, काम करूँगा, मन और शरीर को भटकने नहीं दूँगा–

इसी निश्चय से कुछ पत्र भी लिखे थे। अम्माँ से भी कहा था।

परन्तु, ठीक चौबीस घंटे बाद–उसने वह हाथ लौटा दिया...

अब कोई संयम नहीं है।

मन-शरीर पर कोई लगाम नहीं है।

–अब हर चीज़ का और रूप होगा।

क्या सोचा था, वीणा को लिखूँगा कि मैंने एक आधार ढूँढ़ लिया है, एक ऐसा आधार जो पुरुष के रूप में मेरे अभाव को भर देगा। परन्तु आज–

आज उसे केवल उदासी और बेबसी का एक पत्र लिख दिया है।
उसके जाने के बाद कुछ घंटों में मस्तिष्क बिल्कुल जड़ हो गया।

अप्रत्याशित रूप से उ...आ गई थी। अपने को बह जाने दिया—
अब्र कोई बाँध नहीं था—कोई बन्धन नहीं...
तो दिल्ली जाने का ही कार्यक्रम निश्चित है।

Now, I should sleep.

जालन्धर : 24-1-1958

आज सुबह से दोपहर तक निश्चय बनाने और बिगाड़ने का ही काम हुआ। घर बदलने के लिए जगह देखने निकले थे—लाज मिल गया। कई घर देखे, सेंट्रल टाउन में—और इस नतीजे पर पहुँचे कि जिस घर में हैं, वहीं रहें तो अच्छा है—और दिल्ली जाने का प्रोजेक्ट भी यदि मुल्तवी किया जा सके तो अच्छा है। सोचना एक ऐसी प्रक्रिया है जो हमेशा दो परस्पर विपरीत परिणामों की ओर ले जाती है। अब सोचते हैं कि क्या करेंगे दिल्ली जाकर—क्यों नहीं यहीं जमकर काम करते?

परन्तु दिल्ली जाकर अपना-आप क्यों इतना उन्मुक्त प्रतीत होता था?

हम समझते हैं कि एक रात की अच्छी गहरी नींद सब फ़ैसले कर दे सकती है। क्यों हमारी नींद इतनी disturbed रहती है? क्यों रोज़ आधी रात को जाग जाते हैं? क्यों रोज़ नए-नए कुलाबे मिलाते हैं? क्यों नहीं कल को भूलकर आज के काम को देखते? निश्चित उत्तर एक ही है...जीवन में emotional adjustment नहीं है—घर ख़ाली-ख़ाली लगता है—उस warmth का अभाव अखरता है, जो हर दिशा में छा लेती है।

परन्तु वह warmth होती भी है, या सपना ही है?

रोज़ थके दिमाग़ से जागते हैं और थककर सो जाते हैं।

जालन्धर : 26-1-58

हवा में वासन्ती स्पर्श है—समय अच्छा-अच्छा लगता है। ऐसे में अनायास मन होता है कि हल्के-हल्के स्वर में किसी से बात करें। अपने चारों ओर घर की मिठास, घर की उष्णता हो। किसी के हाथ चाय की प्याली लाकर दें और प्याली के साथ वह हाथ भी थाम लें। हल्का-सा खिंचाव हो और ओंठ मदिर मुस्कुराहट से फैल जाएँ। परन्तु यह सब कैसे हो?...जिससे इस सबकी आशा की थी, उसने तो उस दिन रेखा खींच दी। जिससे वस्तुतः आशा की पूर्ति सम्भव है, उसके अपने बन्धन हैं, अपने दायित्व हैं, एक भरा-पूरा घर है, जहाँ उसे अपना एक निश्चित रोल अदा करना होता है।

और मैं इस एकान्त से, इस वीरानगी से समझौता करने के प्रयत्न में हूँ जिससे किसी रूप में तो जीवन की धुरी बैठ जाय।

लिखने-पढ़ने में अपने को पूरी तरह खो लिया जा सकता है, क्यों न उस aspect को मन से निकाल देने का ही प्रयत्न किया जाय? परन्तु प्रयत्न मात्र से ही तो परिणाम नहीं निकल आता।

वस्तुतः जो ट्रेजेडी हुई है, उसमें मेरा ढुलमुलपन ही तो कारण है।

शिमला में उन दिनों एक बार मनोरमा साहनी ने कहा था, "क्यों करते हैं ब्याह? मना क्यों नहीं कर देते? जब मन नहीं है, तो क्यों व्यर्थ में...?"

कितनी बार साहस संचित किया था कि लिख दें, नहीं, हमारी मर्जी नहीं है। मगर फिर-फिर वही बात सामने आ जाती थी...उनसे कह जो चुके हैं।

जब भी मन उखड़ने लगता है, चाह होती है वीणा को एक पत्र लिख दें। उसे बुरा लगे या अच्छा, लिख दें। सच में, उसकी आत्मीयता किस तरह छा लेती है? कैसे मानूँ कि वह मेरे लिए पराई है और किसी और के लिए अपनी?

कुत्ते भौंकते हैं, गाड़ी फक-फक करती है, रात चिकचिक बोलती है—और हम ख़ामोश हैं। लिख रहे हैं कि किसी तरह थक जाएँ, जिससे नींद आ जाए, मगर विडम्बना यह है कि कितना ही थकने की कोशिश करें, पूरा थकते नहीं। और थक जाते हैं तो नींद नहीं आती। और नींद आती है तो थकान दूर नहीं होती। ऐसे सुबह उठते हैं जैसे दस घंटे दफ़्तर में काम करके आए हों।

Must work, work, and work. Must not waste myself.

इरादा था, सोने से पहले उपन्यास के एक अध्याय का ख़ाका बनाएँगे। अब ख़ाक बनाएँगे?

जालन्धर : 27-1-58

एक और पत्र—

वीणा,

बाद दोपहर घर से निकलते हुए लैटर बॉक्स देखा। तुम्हारा पत्र निकला। सड़क पर चलते हुए पढ़ा—"एक प्रातः यहाँ आ जाओ। सप्ताह-भर रहना घूमना। बात करना। चित्त सुस्थिर हो जाएगा।"

जल्दबाजी की आदत तो है ही। आज निश्चय कर लिया कि फ़रवरी के पहले या दूसरे सप्ताह चला जाऊँगा, कुछ काम साथ ले जाऊँगा। घूमूँगा, पढ़ूँ-लिखूँगा।

सारा शहर घूम लिया। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जिससे जी भरकर बात की जाए। कभी भी नहीं मिलता। रोज़ इसी तरह घूमकर लौट आता हूँ। हर मिलने वाले से उसका चेहरा लगाकर भेंट करता हूँ।...फिर शाम गहरी हो जाती है। घर लौटता हूँ—और...

यहीं आकर मन उलझने लगता है।

...तो घूमते हुए प्लाज़ा में जा बैठा। तुम्हारा पत्र फिर निकाला। फिर पढ़ा—"माँ आ सकें तो..."

पत्र बन्द करके रख दिया। कार्यक्रम जितनी आसानी से बनाया था, उतनी ही आसानी से ढह गया।

तुम्हें पहले भी बता चुका हूँ शायद कि माँ बस का सफ़र नहीं कर सकतीं। वे मील-भर बस में जाती हैं तो पीली पड़ जाती हैं। एक बार शिमला से कालका तक भेज दिया था। वरीन साथ में था। उसकी रिपोर्ट थी कि न जाने किस तरह वहाँ तक जीवित पहुँच गईं। इस बार डलहौज़ी ले जाना चाहता था। सोचा था कि कोई डोली मिल जाए तो ले जाऊँ। पर उसके लिए माँ नहीं मानीं। बताओ, उन्हें कैसे लाऊँ?

इसका अर्थ है कि आप भी न आऊँ। यही शायद ठीक भी है। मन को इतना भटकने नहीं देना चाहिए। एक बार हो आया हूँ, फिर हो आऊँगा तो क्या प्रमाण है कि मन सुस्थिर हो जाएगा? यह एक दिन की भूख तो नहीं है।

इन दिनों काग़ज़ों से प्यार बढ़ाने के प्रयत्न में हूँ। अभी कुछ बेगार का काम कर रहा हूँ। दो-तीन दिन में पूरा हो जाएगा। फिर किसी तरह ठीक से मन को जुटाऊँगा।...अच्छा, तुम यह नहीं कर सकतीं कि रोज़ सोने से पहले मुझे एक पत्र लिख दिया करो, जैसे किसी को चाय की प्याली बनाकर देते हैं, या किसी के सिर में मालिश कर देते हैं, या पान का बीड़ा पकड़ा देते हैं। कर सको तो कठिन तो नहीं है। मैं तो ख़ैर, कर सकता हूँ ही। मेरे पास रोज़ कहने की बात नहीं होती—लेकिन केवल कुछ कहने के लिए ही तो नहीं लिखा जाता। बहुत कुछ ऐसा भी सम्प्रेषण होता है, जिसे बात के रूप में देखें तो कुछ भी नहीं होता, पर होता वह बहुत कुछ है। मैं रोज़ सोने से पहले अपने अन्दर उमड़ते हुए उस 'कुछ' को सम्प्रेषित करने के लिए व्याकुल होता हूँ। निःसन्देह वह 'कुछ' वह नहीं है, जिसके दोष से मैं लांछित हूँ। वह 'कुछ', 'कुछ' भी हो, शारीरिकता से छुआ नहीं होता—यद्यपि उससे कहीं बलवान होता है।

कमरे की सब खिड़कियाँ खुलवाई हैं, जिससे ठंडी हवा अन्दर आए। महसूस करना चाहता हूँ कि सर्दी चली गई है और निरभ्र आकाश में मँडराती हुई हवा बही है, जो पुलक और विश्वास लेकर आती है। न जाने क्यों मौसम बदलने से पहले चाहने लगता हूँ कि मौसम बदल जाय, यह बात हर अनागत क्षण को लेकर होती है। धैर्य से उसकी प्रतीक्षा मैं नहीं कर पाता।

कभी-कभी यह भी अनुभव करना चाहता हूँ कि आकृति न सही, एक भावना यहीं कहीं पास में है, अभी मेरी ओर देखकर मुस्कुरा देगी, खिलखिला उठेगी। अभी मेरे तकिये के पीछे आ खड़ी होगी और मेरे बालों को सहला देगी। अभी मेरा टेबल लैम्प बुझा देगी और कहेगी, थको नहीं, सो जाओ। लेकिन, भावना इतनी मूर्त्त क्योंकर हो सकती है? अपनी छलना पर स्वयं मुस्कुरा देता हूँ। हटाओ जी, यह सब बात। पढ़े-लिखे समझदार आदमी हो, तुम्हें यह सब शोभा नहीं देता। कोई और बात सोचो, या कोई उपन्यास पढ़ो। या रेडियो लगाकर किसी अपरिचित देश का संगीत सुनो। या बत्ती बुझाकर अँधेरे में जुगनुओं की कल्पना करो। या बाहर सड़क पर घूमो। या कल से हर रोज़ दस बजे एक नींद की टिकिया खाया करो।

सोचना, एक टी.बी. की तरह का मर्ज़ है, जिसका एकमात्र इलाज है खुली हवा।

अच्छा, तो मैं दो-चार-छह रोज़ में दिल्ली जाऊँगा। जितने दिन मन करेगा, वहाँ रहूँगा। फिर एक दिन लौट आऊँगा और मेज़-कुर्सी पर डट जाऊँगा। जिस दिन फिर मन उखड़ेगा, फिर भाग जाऊँगा।

अच्छा, पत्र लिखना—एक पंक्ति का पतंजलि सूत्र नहीं।

—राकेश

मन को स्थिर करने की कोई प्रक्रिया सोचो पंडित। इस तरह उलझे-बिखरे रहोगे तो ज़िन्दगी यूँ ही पूरी कर दोगे। आख़िर तुम्हीं अकेले तो नहीं हो जिस पर यह सूनापन छाया है। और तुम्हें तो भाई, ज़िन्दगी में बहुत-कुछ मिला भी है, मिलता भी है। बल्कि जितना तुम करते हो, उससे अधिक पा लेते हो। फिर क्यों मचलते हो? काम करना चाहते हो, काम करो। ख़ामख़ाह का रेशम कातकर उसमें उलझ जाने का कोई अर्थ नहीं।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय।

जालन्धर : 28-1-58

अभी-अभी रसोईघर में बैठे अम्माँ से अमृतसर के वृत्तान्त सुन रहे थे। अपना सारा परिवार ही एक तरह से तबाह हो गया है। नाना की मृत्यु के बाद नानी को कोई support करनेवाला नहीं—छोटे मामा घर से अलग रहते हैं, बड़े मामा का वैसे बुरा हाल है और सात जीव उनके घर में खानेवाले हैं। भोला का क्या भविष्य होगा? दो जगह ब्याह होने पर भी उसका घर नहीं बसा और उसकी लड़की अब दस बरस की हो रही है। तायाजी की दुकान बन्द हो गई, कृष्ण की नौकरी छूट गई। दादी बुआ के घर में रहती हैं—यहाँ आना नहीं चाहतीं। बहुत मन खट्टा होता है। ऐसी विडम्बना है कि कहने को सब लोग हैं—मगर ऐसा कोई घर नहीं जहाँ जाकर हँस-खेल सकें, अनुभव कर सकें कि हमारा भी एक परिवार है।

कुछ समझ में नहीं आता कि इन सब लोगों की ज़िन्दगी किस तरह चलेगी?

आज दिन सुबह से ही घिरा हुआ था, शाम से बूँदें पड़ रही हैं। बाहर का नल बिगड़ा है, सो हर समय बहता रहता है–घूमने निकले थे, कोई नहीं मिला। अब अकेले हैं–मगर आज मन उतना अशान्त नहीं है। शायद इसलिए कि दो दिन से काम कर रहे हैं। मगर यह लेख-वेख लिखने में मन नहीं रमता। बहुत अरुचि होती है। बहुत दिनों से कह रखा है, इसलिए पूरा तो करेंगे ही। कल नहीं तो परसों।

अभी और स्थिरता आनी चाहिए। जीवन उखड़े रहकर नहीं बीतेगा। कुछ ढंग होना चाहिए।

Jullundur : 30-1-58

Met Shiv Kumar and his wife at Rama Krishna's. He is a typically practical person, who makes you feel uncomfortable in his presence. Has an immense capacity of complementing himself at the expense of others. His wife was also the self-important type—a typical lady professor.

Jullundur : 31-1-58

Indecision again.
Shall I go to Delhi?
Should I shift from Jullundur?

I am tired of this state of indecision in my mind.

I resolve not to waver any more.
I must decide things—and do them.

So
I DO NOT SHIFT TO DELHI AT PRESENT.
I DO NOT GO THERE EITHER, IN CASE I DO NOT RECEIVE SHARAT'S LETTER.

Jullundur : 1-2-58

I did not receive Sharat's letter. But I am going there all the same. But I stood resolved to complete the thesis at Jullundur. I shall return by the 7th.

Was given another farewell today—by the college Deptt.

Three teachers of Hindi—how ignorant they are about everything, and in particular about Hindi literature?

Spent the day writing letters. Delivered the article on Tulsi To Dr. Madan.

All cobwebs seem to have cleared. Hence no commitments at the moment.

2-2-58

समय गोधूलि–सूर्य की अन्तिम किरणें सुनहरे पक्षियों की तरह फड़फड़ाती हुई–धरती के मुखर गीतों की तरह उड़ते हुए पक्षी–हरियाली, धरती की मरी हुई खाल–टेढ़े-मेढ़े वृक्ष, ecstacy के असम्बद्ध उद्‌गार–आकाश, एक निर्मुक्त निःश्वास।

'यह ज़मीन सोना है,'' एक जमींदार बात करता है, ''हमारी अमृतसर से हमीरा तक की ज़मीन को पानी ने मार दिया है। यहाँ देखो–''

वइ ईर्ष्या और लोलुपता की नज़र से ज़मीन को देख रहा है, जैसे ज़मीन ज़मीन न हो, किसी का प्रासाद हो जिसे देखकर उसकी आँखें फटी जा रही हों।

''देखो माता के रंग को, जय माता दी। कैसे मूर्ख हैं लोग लालाजी, माता के दर्शन करने पहाड़ चढ़कर जाते हैं। गुफ़ा में जाकर दर्शन करते हैं। यह देखो, लम्बी भुजा वाली माता साक्षात् दर्शन दे रही है।''

और वह अपने बच्चे को गोदी में लेकर खिड़की के पास ले जाकर कहता है, ''जय कर बेटे, जय माता दी।''

बच्चा हाथ जोड़ देता है।

वह आदमी हँसता है, ''हा-हा-हा! जय-जय-जय! ऊँचे मन्दिरोंवाली, तेरी सदा ही जय।''

सिगनल न मिलने से गाड़ी रुक गई। किसी ने बन्द खिड़की खोल दी। स्नायुओं की उष्णता पर ठंडी हवा का एक स्पर्श–मनुष्य शरीर की जिस गन्ध का खिड़कियाँ बन्द रहने पर अनुभव नहीं होता था, अब होने लगा–कुछ वितृष्णा, कुछ आत्मीयता, कुछ स्निग्धता लिए हुए यह गन्ध–

वह ज़मींदार लगातार अपने लड़के को चूमे जाता है।

घंटा-डेढ़ घंटा गाड़ी का दरवाज़ा खोलकर पायदान पर पैर रखे बैठे रहे। इस तरह बैठकर सफ़र करने में वही रोमांच होता है, जो तेज़ दौड़ते हुए घोड़े की लगाम ढीली छोड़कर बैठे रहने में। सारी ज़मीन नीचे परिस्पन्दित हो रही थी। अँधेरा धीरे-धीरे घिर

रहा था। पैरों के नीचे पतली ख़ाकी रेखा पीछे को दौड़ रही थी–मस्तिष्क में एक लकीर खींचती हुई। सन्ध्या की उदासी में एक अपना ही पुलक होता है, सन्ध्या की ध्वनियाँ हृदय को भारी भी कर देती हैं, पुलकित भी। तेरहवीं का चाँद बिल्कुल सामने था। खेत थे, पानी था, वृक्ष थे। हल्की चाँदनी में पानी अबरक की तरह चमकता था। धुआँ उमड़ता हुआ आता, आँखों में भर जाता। मैं आँखें मूँद लेता–तब लगता, गाड़ी की तेज़ रफ़्तार मेरी रफ़्तार है, गाड़ी का शब्द मेरा शब्द है–शब्द की गूँज मेरी गूँज है–मैं व्यक्ति नहीं, गति हूँ, शब्द हूँ, गूँज हूँ। फिर आँखें खोलता–तार के खम्भे, वृक्ष, घास, गाड़ी मोड़ लेकर एक स्टेशन पर प्रवेश करती–सुनसान प्लेटफार्म–एक हिलती हुई हरी झंडी, फिर धुँधला क्षितिज, मालगाड़ी के उदास डिब्बे, वीरान पटरियाँ, पत्थर के टुकड़े, फ़ौलाद की रेखा–

करनाल स्टेशन पर देखा, शायद चाय मिल जाए, पर नहीं मिली।

Jullundur : 9-2-58

A week of hectic life in Delhi.

Sharat's marriage was the main event of the week.

Met so many persons. Talked so many things.

Returned very tired. Slept till eleven in the morning.

Today was a day of brain fever.

I have decided to write a full length drama on Kalidas, before starting on the novel.

Shall set about it tomorrow.

Should complete it by the 21st.

Jullundur : 13-2-58

Plans are ready for shifting to Delhi. 1st of March is the latest by when I should leave Jullundur.

Staying here already seems like living in the past.

But I had developed more attachments in this city than in any other city before.

I shall carry with me many pleasant and unpleasant memories.

And I shall never come back to live here.

I do not yet know what is going to be my major occupation for earning a livelihood in the days to come, writing does not provide a living.

It may be anything, but I shall at no cost come back to have a job in this city.

I shall try to write out the play on Kalidas during the days that I am here.

Flying Mail, Jullundur to Delhi : 16-2-58

I felt suffocated—extremely so, living at Jullundur. I do not know why I am so sensitive to certain situations. Till yesterday, I was not sure if I shall travel to Delhi. Even till later this morning I did not know. Only felt a certain pain, a piercing agony right within my heart. I could not write. I could not read. I even could not imagine things. I felt as if my heart and brain were being eaten up by worms. I feel so terribly depressed. Now that I am sitting in a train, in the compartment next to the engine, the engine is whistling continuously, doing about 50 miles an hour, I feel if the oppressive burden is being slowly lifted. I like this terrible speed, this maddening push. I hope to feel light and happy in an hour's time.

I shall try to settle down in Delhi. I shall live there. I might probably die there. I am so tired of these shiftings, and yet I cannot help them. My whole system has been poisoned by the bitterness of circumstances. How long I have suffered and how much!

Could I ever be relieved of this pain, this sorrow?

The train is going very fast. But I also feel lonely and desolate. How can I help it?

As the train steams off from Ambala Cantt, the depression is over.

New Delhi.

A feeling like that of having slept well. A vague sensation of pleasant excitement. Wind is chilly. I feel that it is spring.

I like this mode of living. I like this life. Everything around seems to be pulsating with activity.

I cannot believe that I, myself, have been through all that suffering. I want to believe that it was not reality but a nightmare—a hallucination.

जालन्धर : 14-4-58

16-2-58 को दिल्ली गया था। 26-2-58 को लौटकर आया।

डायरी वहीं छूट गई। आकर कुछ नहीं लिखा।

आज यह अधूरी छोड़ी हुई डायरी फिर उठा ली है।

...कल कम्यूनिस्ट पार्टी का अधिवेशन देखने अमृतसर गया था। रास्ते में कुछ देर रामबाग़ छोड़ा, मंडी की सैर की। एक पार्टी का अधिवेशन गोल बाग़ में हो रहा था। जेड. अहमद के भाषण में कुछ ज़ोर था। बाक़ी भीड़ और भागदौड़ ही देखी–नरेन्द्र भाई स्थायी वालंटियर है और ज़िन्दगी भी वालंटियर ही रहेगा।...नरेन्द्र

ने ई.एम.एस. नम्बूदरीपाद से परिचय कराया। छोटे क़द का आदमी—धोती के साथ स्लेटी रंग की बुश्शर्ट पहने, चश्मा लगाए। नरेन्द्र ने उससे 'आख़िरी चट्टान तक' की चर्चा की।

रात पौने दो की गाड़ी से लौटे और सुबह चार बजे यहाँ पहुँचे। आज दिन में लगभग सोये ही रहे।

इस डेढ़-दो महीने के अर्से से काफ़ी कुछ हुआ है।

दिल्ली से सामान लेने आए थे, और रास्ते में जाने का निश्चय बदल दिया—

कारण—देव बख़्शी, जो दूसरे की ख़ून की कमाई को भी हराम की चीज़ समझता है।

नाहन से वीणा आकर तीन-चार दिन रही। वह वृत्तान्त दूसरे वृत्तान्त के साथ ही लिखूँगा।

न...के सम्बन्ध में जो धारणा थी, वह अक्षरशः सत्य प्रमाणित हुई।

2 अप्रैल को उनके वहाँ दोनों के सान्निध्य में काफ़ी अच्छा समय व्यतीत हुआ।

नाटक पूरा नहीं हो पाया—तीसरा अंक अभी आधा लिखना रहता है।

जालन्धर : 18-4-58

नाटक पूरा करके भी पूरा नहीं हुआ—अन्तिम भाग अभी तक पकड़ में नहीं आया।

आज चार घंटे नरेन्द्र के साथ गप होती रही—नरेन्द्र ने अपनी व्यक्तिगत और पार्टी लाइफ़ का विश्लेषण किया—हमने अपनी साहित्यिक ज़िन्दगी के विचित्र aspect पर बात की। पौने ग्यारह बजे थककर उठ गए।

जालन्धर : 30-4-58

सब गड़बड़ हो गया। यह डायरी दिल्ली छूट गई थी—सो दो महीने डायरी लिखी ही नहीं गई।

शाम को ख़ामख़ाह depression घिर आया था। किसी दिन शान्त चित्त से कुछ अपने सम्बन्ध में सोचना चाहिए।

21 को दिल्ली जाने से पहले शाम को म...आई थी—उस दिन की बातचीत के बाद सोचा था, सम्भवतः वह नहीं आएगी। वह बहुत दुबली लगी। ल...अम्माँ के पास से आई तो उसने कहा, "घर नहीं आओगे?"

मैं देखता रहा।
''नहीं आओगे?''
''शायद।''
''शायद नहीं, किसी दिन आओ।''
''अच्छा, और तुम?''
उसने क्या कहा, मैं ठीक से सुन नहीं सका।
''दुबली क्यों हो गई हो?''
''यूँ ही।''
''ठीक हो जाओ।''
वह देखती रही।
''ख़ुदा के लिए–सेहत ठीक रखो।''
''ख़ुदा के लिए–तुम्हारे लिए नहीं?''
तभी ल...आ गई। वे चली गईं।

जालन्धर : 2-5-58

अम्माँ अभी-अभी अमृतसर से लौटकर आई है।

तायाजी के यहाँ ताई ने जिस तरह की बातें कीं, उनसे मन बहुत क्षुब्ध हुआ। अभी तायाजी को पत्र लिख दिया है–जिससे या तो आपसी सम्बन्ध एक स्वस्थ आधार पर रहें, या समाप्त ही हों। वर्ना जब भी अमृतसर जाओ, वही चखचख।

कल दोपहर ख...के बुलावे पर उसके यहाँ गया था। उसे समझाना चाहा कि कोई भी सम्बन्ध एकपक्षीय नहीं होता। सम्बन्ध वही है ज़िसमें व्यक्ति उतना दे जितना दूसरा इच्छा से ग्रहण कर ले और उतना ही माँग करे जितना देने में दूसरे को बाधा न हो।

सम्भव है, कल की बात का उस पर असर हो।

''आषाढ़ का एक दिन'' Full length play लिखना आरम्भ किया 3 मार्च को, पूरा किया 21 अप्रैल को। यह हाल है।

जालन्धर : 2-5-58 रात्रि

रात। सिर दर्द। दिन-भर तबीयत नासाज रही। कुछ खाया नहीं। यह भी बोझ है कि दिन भर कुछ किया नहीं है।

Jullundur : 3-5-58

I am still worried about the reported illness of Veena.
Further self analysis is necessary before starting on a new life. Things are not going to be easy anyway. I have to work hard to make both ends meet. The strain is already telling upon my nerves. But it is I who asked for it. So I must work harder and harder, and work on proper lines.

I can live for a few months at the present rate—but what next?

जालन्धर : 4-5-58

रात देर तक नरेन्द्र से अपने बारे में बातें कीं। क्या वस्तुतः स्वतन्त्र रहकर जी सकना असम्भव होगा?...कुछ काम न हो सकेगा?

अधिक लगकर लगन से काम करो पंडित! आख़िर यह एक मिशन है—और तुम चाहते थे इसे सफल बनाना। अब जी क्यों चुराते हो?

Go ahead and face all consequences. Do not retrace your steps—because life is short—you have only a few more years to go.

Go and live in the midstream. Live not a political and professional life, but a real life. Live with gusto and power—power that is within you and not outside you.

रात : 4-5-58

दिन में एक कहानी आधी टाइप कर डाली—रात में 'हवामुर्ग' के अंग्रेज़ी अनुवाद के दो पृष्ठ टाइप किए। यदि इसी रफ़्तार से काम हो सके तो क्या अभाव रहे?

शाम को म...के यहाँ चला गया। यह लड़की अपनी सारी सीमाओं के बावज़ूद अपने सारे परिवार से अलग जान पड़ती है। तीनों बहनें बैठी रहीं और उनसे मज़ाक करते रहे। क्षण-भर के अन्तराल में उसने हाथ बढ़ा दिया। मैंने पूछा, "आओगी नहीं।"

उसने सिर हिलाया—आऊँगी।

तभी अन्तराल पूरा हो गया।

उन्होंने दूध ला रखा।

"दूध नहीं पीते—दूध भी कोई पेय है?"

"पेय क्यों नहीं है? पियो तो।"

"नहीं, पहले ही मोटे हो रहे हैं। और मोटे हो जाएँगे।"

"पहले से कहीं मोटे नहीं हुए। जैसे तब थे वैसे ही अब हो।"

"नहीं भाई, मोटे हो गए हैं।"

"नहीं हुए।...हम जो कह रहे हैं।"

"अच्छा, नहीं हुए। मगर दूध फिर भी नहीं पिएँगे।"

उसने दूध की प्याली उठा ली और स्वयं पीने लगी।

"मत पियो। हम पी लेते हैं।"

जब उनके घर पहुँचे वीणा की मित्र भी वहाँ थी—वह हेडमिस्ट्रेस। परन्तु वह हमारे पहुँचते ही वहाँ से चली गई।

'बदचलन' के बाद 'कथा सरित्सागर' और 'अँगीठी' शीर्षक कहानियाँ और तदन्तर 'खालिस नाखालिस' शीर्षक एकांकी—यह मानसिक schedule है। मई के अन्त तक सात complete manuscripts तैयार होने चाहिए।

Inspite of the economic instability this has been the best time of my life so far as the tranquility of mind is concerned, i.e., taking into consideration one aspect only.

जालन्धर : 6-5-58

आज के दिन की एक ख़ास significance है।

सुबह चार बजे से पहले ही नींद उखड़ गई थी जिससे तबीयत भारी और परेशान थी।

दिमाग़ कतई काम नहीं कर रहा था। मुश्किल से बिदानी सिस्टर्ज के टेस्टिमोनियल टाइप किए।

ख़्याल था शायद दस बजे से पहले म...आए। साढ़े-ग्यारह बारह बजे ख...के आने की बात थी।

दिमाग़ जकड़ा-सा—अपने खस के केबिन में सोने का प्रयत्न किया—मगर बेकार।

—तभी ठक-ठक हुई। दरवाज़ा खोला। म...थी। तब ग्यारह बजे थे।

वह अन्दर आ गई—बहुत नज़दीक खड़ी हो गई—

और उसके जिस स्पर्श की मैंने वर्षों से कामना की थी, वह अनायास ही प्राप्त हो गया।

म...के आने की बात का कल ही निश्चित हो गया था—शाम को घर आए तो वह और ल...पहले से आई हुई थीं। चलते हुए उसने जो अपना सुबह का कार्यक्रम बनाया था, उससे आशा हुई थी कि वह आएगी। उसके आज आने की प्रतिक्रिया समझने का प्रयत्न कर रहा हूँ। शारीरिक पूर्ति या उपलब्धि का सुख—विशेष नहीं। फिर भी एक पुलक है, एक रोमांच।

आज के उन क्षणों के बिना शायद जीवन-भर एक अभाव का अनुभव होता। और उसके व्यवहार में जो सहज आत्मीयता थी, उसने भी मन के किसी कोने को भर दिया था।

रात कालिया देर तक बैठा कहानियों और कहानियों की समीक्षाओं की चर्चा करता रहा। जाते हुए वह कमलेश्वर का कहानी संग्रह 'कस्बे का आदमी' ले गया।

मैं दिन-भर सोया रहा। complete inactivity का साम्राज्य है। कुछ करने को मन नहीं। घूमने भी नहीं गया। बैठा हूँ और सोच भी नहीं रहा। फिर लेट जाऊँ तो नींद भी नहीं आएगी। जान नहीं पा रहा कि रिक्त हूँ या पूर्ण हूँ, disillusioned हूँ या satisfied।

अँधेरे में किसी उड़ते हुए कीड़े की आवाज़—जैसे कि पुचकार रहा हो—साथ के घर में बच्चे लड़ रहे हैं। अभी उनका बाप आ जाएगा और उनकी माँ को गालियाँ देगा कि बेवक़ूफ़ माँ की बेवक़ूफ़ सन्तान होती है। वह यह शायद नहीं मानता कि सन्तान के पैदा होने में पिता का भी कुछ योग होता है।

तो, कल तक...

8-5-58

उसके बाद वह प्रायः आने लगी। मैं दोपहर को बैठकर कुछ टाइप कर रहा होता, जब सहसा खटके से चौंककर देखता कि वह पिछले कमरे की कुर्सी पर बैठी होती या दबे पैरों दरवाज़े से दाख़िल हो रही होती। उसके चेहरे पर सदा यह भाव होता मानो कहना चाह रही हो कि आप कीजिए, मैं लौट जाती हूँ।

आज नवनीत का जन्मदिन है। दिन-भर इस बात को भुलाए रखने का प्रयत्न किया। पिछले साल की घटना सहसा याद हो आई।

मगर आज मन को दुःखी नहीं होने दिया।

दिन-भर काम में लगे रहे—'Crestfallen' शीर्षक से हवामुर्ग का अनुवाद पूरा किया, फिर 'बदचलन' शीर्षक कहानी के दो पृष्ठ टाइप किए, कापियाँ देखीं, पत्र लिखे।

शाम जी.टी. रोड पर कटी, घूमते हुए—

जालन्धर : 9-5-58

रात, बियर शॉप।

दिन-भर पर्चे, खत, अपना-आप, और कुछ नहीं।

कई दिनों से ऐसा कार्यक्रम चल रहा है कि कुछ सोचने तक का अवकाश नहीं मिलता।

आज की विशेष बात यह है कि लगभग एक बरस के बाद मोहन का पत्र आया। पत्र में कुछ व्यंग्य था, कुछ ग्लानि, कुछ खेद।

उसे तुरन्त ही उत्तर लिख दिया।

आज उलझे हुए काग़ज़ों की फ़िर सफ़ाई कर डाली।

कल नरेन्द्र से फिर उसके बारे में बातें हुईं। उसने अपने आगे न बढ़ने की बात की, कुछ अपने दोषों का संकेत किया, अपने अन्तर की कुछ slimy प्रवृत्तियों का संकेत किया—मगर स्पष्ट कुछ भी नहीं कहा।

'Have you found the proper cushion for your mind?'

मैंने पूछा।

उसने स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। केवल उन circumstances का उल्लेख किया जिनमें उसने Communist Party Join की थी।

बेदी भी रात बियर शॉप में अपने वैवाहिक जीवन के असन्तोष की चर्चा करता रहा। यूँ मिसेज़ बेदी देखने में उसकी aunty प्रतीत होती है—यह रोग कहाँ तक और कितना व्याप्त है।

मुझे लगता है कि शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से मेरा स्वास्थ्य अब पहले से बेहतर है।

10-5-58

और फिर धीरे-धीरे उसका आना इतना स्वाभाविक, इतना अनिवार्य हो गया था कि वह न आए तो अभाव का अनुभव होता था। बातों-बातों में उसने अपने जीवन के कुछ संकेत दिए थे, मैंने अपने।

—फिर एक ऐसी निकटता और आत्मीयता की स्थापना हुई थी जिसका आधार बौद्धिक होते हुए भी नितान्त बौद्धिक नहीं था। वह आती, हम घंटों बैठे बातें करते रहते—और कभी-कभी बात न करके केवल एक-दूसरे की ओर देखते रहते। उसकी आँखें और उसके ओंठ बिना शब्दों के भी बात करते थे। मुझे लगता था, वैसी आकर्षक और एक्सप्रेसिव आँखें मैंने अन्यत्र नहीं देखीं।

हमारी निकटता बढ़ी तो यहाँ तक कि उसके हाथ मेरे हाथों में आ जाते—कई बार वह मेरे बढ़े हुए हाथों को अपने चेहरे तक ले जाती। मैं उसके हाथों को चूमता,

उसकी उँगलियों के पोरों को, और अधिक उन्मादी क्षणों में उसके बालों को, माथे को, गालों को, आँखों को–

एक बार मैंने उसके ओंठों को चूमना चाहा तो उसने मुझे झटक दिया।

मैं अप्रतिभ होकर उसे देखता रहा।

"मेरी आँखें चूमो। ये आँखें कुँवारी हैं। मेरे शरीर का यही हिस्सा कुँवारा है। इसे मैं निःसंकोच तुम्हें दे सकती हूँ।"

फिर वह दिन आया जब उसे वापस जाना था, उसकी छुट्टी समाप्त हो गई थी।

उस दिन शाम को वह देर तक बैठी रही।

"विलायत ज़रूर जाओगी?" मैंने पूछा।

"एक बार ज़रूर जाऊँगी।"

"अगर न जाओ–"

वह देखती रही।

"तुम जानती हो मैं क्या कहना चाहता हूँ?"

उसने सिर हिलाया।

"नहीं, एक बार जाऊँगी। मैंने वायदा कर रखा है।"

"तो अब...?"

"अब मैं जा रही हूँ।"

"और उसके बाद?"

"लौट आऊँगी।"

"मगर–"

वह देखती रही।

"तुम जानती हो, जीवन निरन्तर आगे बढ़ता रहता है। आज मेरे दिल में एक क्रेविंग है–जब तुम स्वयं तिरस्कार करने की स्थिति में हो, मेरा हृदय तुम्हारा मान कर सकता है परन्तु कल..."

उसने एक निःश्वास छोड़ा।

वह जाने के लिए उठी तो मैंने उसे बाँहों में भरना चाहा। वह हट गई और मुस्कुराई।

"बहुत हठी हो तुम। मुझसे क्या पा लोगे इस तरह? मैं या सब कुछ ही दे सकती हूँ, या कुछ भी नहीं–"

"अच्छा।"

उसके बाद उसके दो-एक पत्र आए–स्निग्ध पर शान्त जैसे ठंडी जलधारा हो। कुछ लेख उसने भेजे जो मैंने देखकर लौटा दिए।

फिर एक दिन तार आया कि अम्बाला छावनी स्टेशन पर वह 12 बजे की गाड़ी से पहुँच रही है।

उन्हीं दिनों वीरेन्द्र घर से चला गया था। हम लोग बहुत परेशान थे क्योंकि अभी तक उसका कोई पता नहीं आया था।

तार का अर्थ स्पष्ट था। मैं जनता एक्सप्रेस से अम्बाला छावनी पहुँच गया। उसकी गाड़ी बाद में आई, वह गाड़ी से उतरी तो मैंने पहली बार महसूस किया कि मैं किसी आत्मीय को रिसीव करने आया हूँ।

11-5-58

उसकी कोई सहाध्यापिका भी साथ आई थी, जिसकी वज़ह से वह थोड़ी आशंकित-सी थी परन्तु उससे विदा लेकर उसने सामान लेडीज़ वेटिंग रूम में रखवाया और बाहर आ गई।

''अब?''

''चलो, रिफ्रेशमेंट रूम में बैठेंगे।''

''चलो।''

रिफ्रेशमेंट रूम के केबिन में बैठकर मैंने चाय मँगवाई, उसने स्क्वैश।

''तुम्हें आशा थी, मैं आऊँगा?''

उसने सिर हिलाया।

''हाँ। तुम उस दिन जालन्धर छावनी स्टेशन पर आए थे न...।''

मैंने उसके हाथ अपने हाथों में ले लिए। उसकी आँखें आत्मीयता से आर्द्र हो उठीं।

दो घंटे हम वहाँ बैठे रहे। बैरे ऊँघते हुए-से आते और बार-बार पूछते, ''और कुछ चाहिए?''

हम सिर हिला देते और बातों में मशगूल हो जाते। बीच में मैंने फिर और चाय मँगवाई, हालाँकि पहली चाय भी पी नहीं गई थी। वह अपनी बच्ची की बातें करती रही। उसने उसकी कुछ तस्वीरें दिखलाईं। कुछ अपनी तस्वीरें दिखलाईं। अढ़ाई बजे के क़रीब वहाँ से निकले और दूसरे रिफ्रेशमेंट रूम में जा बैठे। उस रात ऐसे लग रहा था जैसे हम बरसों के सम्बन्धी बरसों के बाद मिले हों और चन्द घंटों के बाद फिर हमें कभी न मिलना हो।

उसने हाथ हिलाया। मैंने भी हाथ हिलाया। वह बस के अड्डे की ओर चल दी। मैं प्लेटफार्म की ओर–

इस अनुभव से मन डिप्रेस हो गया था कि इसके बाद सम्भवतः हम लोग न मिल पाएँगे।

उसके बाद उसके कुछ एक पत्र आए थे। अन्तिम पत्र बम्बई से जिसमें उसने शुभकामनाएँ भेजी थीं और स्वास्थ्य का समाचार पूछा था।

इस बीच कभी-कभी एक चुभन-सी महसूस होती रही।

और साल-भर बाद एक दिन डॉक्टर मदान ने बताया कि वह लौट आई है।

अगले रोज़ दोपहर को वह डॉक्टर मदान के साथ आई।

कई घंटे वह बैठी रही। डॉक्टर मदान ने 'अपरिचित' शीर्षक कहानी का ज़िक्र किया। उसे 'नये बादल' की एक प्रति दी। वह लन्दन की चर्चा करती रही। उसने कहा कि लन्दन उसे धुएँ और पत्थर का शहर महसूस होता रहा है–कुहरा-कुहरा-कुहरा-धुआँ–वह समझती थी, जैसे निर्जीव कब्रिस्तान में घूम रही हो।

अगले रोज़ वह फिर नहीं आई। मैंने सोचा वह चली गई होगी। परन्तु उससे अगले रोज़ घर आने पर पता चला कि वह आई थी–और मेरे ड्राअर से मेरी डायरियाँ ले गई है।

कुछ दिनों में डायरियाँ लौट आईं।

और उसके बाद मैं इलाहाबाद राँची हो आया।

आने पर फिर उसका एक अनुरोधपूर्ण पत्र मिला। उसे लिखा कि मैं किसी साहित्यिक आयोजन में नहीं आऊँगा–आऊँगा तो उसके पास ही–उससे मिलने के लिए ही–

और उस पत्र के उत्तर में उसका तार मिला कि अवश्य आओ।

मैं उसी समय चल दिया। घर से स्टेशन तक के रास्ते में एक कम्बल गुम कर दिया। घर लौटकर दूसरा कम्बल लेकर आया।

और उस दिन हिमाचल रोडवेज़ से वहाँ पहुँच गया था।

"तुम उस दिन क्यों नहीं आए थे?" उसने पूछा।

"तुमने ठीक से बुलाया जो नहीं था।"

"बहुत हठी हो न! अपना हठ पूरा कर लिया तो आए। जानते हो, उस दिन मैंने कैसा-कैसा महसूस किया था?"

"कैसा?"

"अभी बताती हूँ।"

वह कुछ डायरियाँ उठा लाई। एक डायरी में उसके अकेले मस्तिष्क के कई डरावने चित्र थे–सन्नाटे में एक अतृप्त मन की प्रतिक्रियाएँ थीं–अपने चारों ओर हर वस्तु की जड़ता पर आक्रोश था, सन्नाटे की हर वस्तु पर एक मनहूस प्रतिक्रिया का साक्षात्कार था।

दूसरी डायरी में उस दिन का वृत्तान्त था कि सुबह से उसने कैसे प्रतीक्षा की थी, क्या-क्या बनवाया, मँगवाया था, क्या-क्या आशा की थी, क्या-क्या सोचा था, और बस का समय हुआ था, वह उत्सुकता से देख रही थी, उसने माई की छुट्टी

कर दी थी—मगर बस के समय के बाद आधा घंटा बीत गया—दो घंटे बीत गए—उसे लगा, वह पागल हो जाएगी, उसका सिर फट जाएगा, वह अपने वातावरण को तहस-नहस कर देगी या वह वातावरण उसे तोड़ देगा।

उसने बहुत कुछ लिखा, याचनामय, आक्रोशमय, प्रताड़नामय—

फिर गीता पढ़ने का प्रयत्न किया।

मैंने डायरियाँ रख दीं। वह सीधी आँखों से मुझे देख रही थी। मैं कई क्षण उसे देखता रहा।

माई खाना ले आई। मीट बहुत अच्छा बना था। मैंने माई की तारीफ़ की। माई बहुत प्रसन्न दिखाई दी।

खाना खिलाकर माई चली गई। बेबी सो नही रही थी। उसने कठिनता से बेबी को सुलाया। मेरा बिस्तर उधर के कमरे में था। उसको बेबी के पास सोना था। बेबी को सुलाकर वह मेरे कमरे में आई।

"सोओगे?"

"नहीं।"

"तो?"

"बातें करेंगे।"

उसने खिड़की के किवाड़ मिला दिए और पायँते की ओर कुर्सी पर बैठ गई।

"वहाँ बैठोगी?"

"हाँ।"

"यहाँ नहीं?"

"यहीं ठीक हूँ।"

"मगर बहुत दूर हो।"

—और रात-भर हम एक-दूसरे में खोए रहे। फिर भी हम दोनों के बीच की सीमा नहीं टूटी।

"तुम हठ नहीं करोगे," उसने प्रताड़ना की थी। "एक ओर के हठ से भी कुछ प्राप्त होता है?"

सवेरे ही उसने चाय बनाई। मेरा बिस्तर बाँधा।

उसने मेरी चीज़ें ठीक कीं, यथास्थान रखीं। मैं तैयार हो गया।

"जानते हो, मैं तुम्हें कुछ भी दे नहीं सकी?"

"जानता था। अब और अच्छी तरह जानता हूँ।"

कुछ ही देर बाद मैं बस में उसके क्वार्टर के नीचे से गुज़र गया। सुबह फूटने के साथ-साथ नाहन दूर होता गया।

जालन्धर : 12-5-58

रोज़ की तरह मशक्कत का दिन। 'खालिस नाखालिस' के चार पृष्ठ टाइप किए, पर्चे चेक किए, रिजल्ट भेजा, पत्र लिखे।

...घूमने निकले तो सलूजा, मोती मिल गए। सलूजा के घर चले गए। ठाकुर ने बताया कि सहगल का संगीत अब धीरे-धीरे अनुपलब्ध हो जाएगा–उसकी master copies mysty हो रही हैं–Hindustan Recording Company ने अपने contract के कारण सहगल के संगीत को तबाह कर दिया है।

कल अधिकांश लोगों को 'जानवर और जानवर' की presentation copies चली जाएँगी।

जालन्धर : 13-5-58

मई का समय है और रात को इस कदर ठंड पड़ती है कि तौबा! कल रात तो बाहर रज़ाई में भी ठंड लगती रही। ऐसा मौसम नहीं देखा था। दिन में धूप के मारे बुरा हाल हो जाता है और रात को ठंड के मारे।

नरेन्द्र सुबह गया। चंडीगढ़ और इलाहाबाद के लिए पुस्तक की प्रतियाँ उसी के हाथ भेज दीं।

जालन्धर : 14-5-58

कल उसके चेहरे पर बहुत दयनीयता थी। किसी व्यक्ति में कितनी दृढ़ता और विश्वास क्यों न हो, परिस्थिति उसे बिल्कुल बदल दे सकती है। एक अजब-सी helplessness, खो जाने की-सी अनुभूति–जैसे दूसरे के कहे हुए एक-एक शब्द की, एक-एक संकेत की बहुत कीमत हो, जैसे वही सहारा हो–

मेरे सब अनुमान ग़लत थे, सब आशंकाएँ व्यर्थ थीं और तुलना में मुझे अपना-आप बहुत छोटा प्रतीत हो रहा था–

"मैं क्या करूँ?" इन तीन शब्दों में कितनी याचना, कितनी निर्भरता, कितनी निरीहता, कितनी विवशता, कितनी अस्थिरता थी। और ढलते हुए आँसुओं ने चेहरे को स्निग्ध, कोमल और क़दरे सुन्दर बना दिया था।

उस आग्रह में कहीं मूर्खतापूर्ण हठ भी था–जैसे छुट्टी न लेने की बात में और कहीं प्रतिशोध भावना भी। क्योंकि महीने के tour पर निकल जाने की बात को लेकर जब मैंने प्रताड़ना की तो उसके चेहरे पर एक क्षण के लिए मुस्कुराहट पैदा हुई जो तुरन्त ही विलीन हो गई। मुस्कुराने और रोने के बीच की सन्धि रेखा को मैं पकड़ नहीं पाया।

और उसके बाद आज–

चेहरा अधिक संयत था—उसमें विवशता की अपेक्षा परिस्थिति के प्रति समर्पण का भाव अधिक था—कर्त्तव्यनिष्ठा थी—अनिवार्य की स्वीकृति थी।

और उठकर जाने के क्षण में मेरी आत्मीयता की दीप्ति क्या थी? क्या उसमें वायव्य कुछ नहीं था?

जालन्धर : 15-5-58

रात जोशी अचानक आ गया। अनायास ही उसकी भर्त्सना की—

"अब तो कुछ हो नहीं सकता, प्रोफ़ेसर," उसने जाते हुए कहा, "ग़लती होनी थी, हो गई। अब वह वक़्त लौटाया थोड़े ही जा सकता है।"

और मैंने उससे कहा कि इन्सान इन्सान में यही अन्तर होता है—आज भी वह लखनऊ चला जाए तो कम-से-कम पाल उसे खुली बाँहों से ही मिलेगा।

उससे पहले प्रो. वर्मा से सौन्दर्य भावना के सम्बन्ध में कुछ बातें हुईं।

सौन्दर्य अनिवार्यतः एक व्यापक सत्य है—सौन्दर्य भावना सारे विलास के मूल में निहित है—सौन्दर्य परापेक्षी नहीं, सीमित भी नहीं। No work of art could be produced without a keen sense of beauty in the artist. लोकसंग्रह की भावना से लिखनेवाले लेखकों में भी यह मूल भावना रही है, तभी उनकी रचना का कलात्मक महत्त्व बन गया है—

सौन्दर्यानुभूति लोकनिरपेक्ष नहीं—अपितु लोकधर्म और लोकव्यवस्था के विघटन के मूल में भी सौन्दर्यानुभूति ही काम करती है।

कल से एक duststorm घिरा है। आकाश धूल से मैला और बोझिल है। अन्दर-बाहर सब ओर धूल-ही-धूल भरी है—

धूलमदः धूलमिदं धूलान्दे धूलमुदच्यते।
धूलस्य धूलमादाय धूलमेवावशिष्यते।
शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

दो दिन के ब्रेक के बाद आज फिर कोशिश करूँगा कि कुछ लिख-पढ़ सकूँ।

रात्रि

राजपाल एंड संस का एग्रीमेंट ठीक हो जाएगा। That's good!

Mrs. Premi came today in the afternoon with her elder son Prem. She started her usual wailing as soon as she entered the house. The situation seemed very unfortunate. I learnt from her that Premi has taken another

house for her. She shifted there partially in the morning but came back at 3 p.m. and said that she can't live alone. He went with her.

Jullundur : 24-5-58

I was gay and quite at ease with myself. I am convinced that the one person on whom one can and should depend is one's own self. People may be wiser than you, but they certainly cannot know you better then you do. They may be more balanced in their judgement but they never will understand your problem as well as you do.

It was a relief that the examination work came to an end today. I had decided to go to Simla for four months but there is one thing that makes my mind waver.

It is K...K...K...

What the hell is wrong with me?

Madan has certain essential qualities as a man. His offer to keep Shesh's son with him was certainly a sign of goodness.

I hope that I will be able to write my novel with speed now. The track is already set.

Which way myself?

जालन्धर : 25-5-58

Mother says it is better not to leave the house. I agree with her.

जालन्धर : 27-5-58

अनिश्चय यह है कि पहाड़ पर जाया जाए तो किस पहाड़ पर और कितने दिन के लिए?

आज सिर यूँ भी बहुत भारी है। शायद इसीलिए कि सुबह नरेन्द्र ने जल्दी उठा दिया था। या शायद इसलिए कि कल...। दिमाग़ इस तरह डल हो तो कुछ भी करने को नहीं सूझता। जैसे सिर के अन्दर दो-तीन पत्थर धरे हैं। ऐसी स्थिति में इन्सान अपने-आप का क्या करे? जब कुछ भी करना सम्भव न हो तो इस तरह बैठे-बैठे बीतना कितना बुरा लगता है?

टाइपराइटर खोला तो छह पंक्तियों से आगे नहीं बढ़े। और अब उन्हें भी फाड़ देने को मन होता है।

- -

My talk 'Kaveri Ke Kinare' was rebroadcast on the 25th. From the letters received for Khanna and Somesh I understand that it was simply butch-

ered. I had not remembered to listen for the broadcast myself. But I wrote a letter to D. K. Sengupta today.

डायरी लिखना भी मुश्किल है। इस समय यही हो सकता है कि टाँगें और फैलाकर सिगरेट सुलगा लिया जाए।...

या लिलियन रोथ की आत्मकथा पढ़ी जाए।

I feel that I should go on a trip all by myself—should not carry even the servant with me. For that, I must buy myself a sleeping bag.

K...and V... did not come today. May be, this is the end of the episode.

Kalia and Kapil came in the evening and talked about short stories. These youngsters seem to take things a little too seriously.

It is again very cool and dusty. I am still very undecided about my programme. It has got to be decided one way or the other—and as soon as possible.

Which way, north wind?

जालन्धर : 24-6-58

'बस स्टैंड की रात' शीर्षक स्केच आज रात तक पूरा होना चाहिए।...और कि शराफ़त इसी में है कि जो कुछ दिमाग़ पर सवार है, वह सब लिखकर जालन्धर से निकला जाए।

मोहन का कल का पत्र। मेरी समझ में नहीं आता कि मैं इस व्यक्ति को क्या समझूँ? Is it his personal frustration in life that is manifested in his relations with me? Or is it just an instance of a strong prejudice?

मैं कभी कहीं इतना अकेला नहीं रहता हूँ जितना पिछले डेढ़ साल से जालन्धर में। रमेश के जाने के बाद से कोई ऐसी मानसिक एडजस्टमेंट नहीं हो पाई जो अभाव के अनुभव को दूर कर दे। अब भी नहीं सोच पाता कि इस रिक्तता को भरने का उपाय क्या है?

मेरे निश्चय और अनिश्चय के बीच एक ही ग्रन्थि है और वह ग्रन्थि सुलझ जाए तो बहुत कुछ स्वतः ही सुलझ जाएगा।...मगर जैसे भी हो, यह जून का महीना यहाँ काट देना चाहिए। इस समय की जल्दबाजी में सभी काम अधूरे रह जाएँगे।

अभी सो नहीं सकूँगा। सोने से पहले जो शून्य घिरता है, वह किसी मांसल स्पर्श के बिना भर नहीं सकता।...परन्तु मांसल स्पर्श मात्र ही तो अपेक्षित नहीं। और वह अतिरिक्त कुछ...?

जालन्धर : 3-6-58

यह अजब बीमारी है कि एक डॉक्टर की दूसरे से राय नहीं मिलती—और एक डॉक्टर भी अपने में निश्चित नहीं हो पाता। डॉ. कर्म सिंह ने किडनी का colic बताया था—डॉ. मेहता ने colitis। अब डॉ. मेहता को ही सन्देह है कि किडनी में स्टोन न हो—

पाँच दिन से परेशान हूँ। बाईं ओर कमर में जब दर्द उठता है तो लगता है कि ज़िन्दगी पर पकड़ ढीली हो रही है—और जब दर्द रुक जाता है तो महसूस ही नहीं होता कि कहीं कुछ ग़लत है। तब नार्मल न भी हों तो नार्मल की तरह व्यवहार करने को मन होता है।

कितने दिन का दर्द है यह, मेरी जान?

इन दिनों अपने से वितृष्णा होती है। नौकरी छोड़ने के समय के मनसूबों में से कितने पूरे हुए हैं? और इन दिनों दिमाग़ है कि साथ ही नहीं देता।

I must discover myself—I must !

डॉ. मदान से इंटरव्यू के बाद प्रेमी के चेहरे पर रौनक दिखाई देने लगी है—जैसे विस्थापित व्यक्ति फिर से स्थापित हो गया हो। अब वह हँसता ही नहीं, मज़ाक भी करने की कोशिश करता है। लेकिन निहायत ही चुगद आदमी है। चुगद ही नहीं, गावदी भी। और अति की मात्रा तक स्वार्थ-प्रण! He is completely neutral to all that happens to other people. He is concerned only with self.

उसकी बातचीत mechanical होती है—उसमें 'एलीमेंट' कहीं नहीं होता।

आज बेइन्तिहा गर्मी है। शायद यह सीजन की पहली गर्म रात है।

जालन्धर : 5-6-58

कल एक्सरे से यह तसल्ली हुई कि कम-से-कम किडनी में स्टोन तो नहीं है। आज तबीयत comparatively ठीक रही। गर्मी अब अपने क्लाइमेक्स पर पहुँच गई है। चाहता हूँ कि जल्द ही पहाड़ की तरफ़ निकल जाऊँ।...अभी-अभी अपनी आर्थिक स्थिति का पर्यावलोकन कर रहा था। अब तो शायद थीसिस as a matter of obligation पूरा करना पड़े अन्यथा अपनी आर्थिक स्थिति बहुत जल्द शोचनीय हो जाएगी।

जालन्धर : 6-6-58

हर ओर से वितृष्णा होती है। मन अन्ततः एक ही दिशा में प्रवृत्त होता है—वह सूत्र क्यों हाथ में आकर छूट जाता है?

कल के...ने तीनों पुस्तकें मँगवा भेजी थीं। उसके बाद आशा थी कि शायद वह आए भी। उसके न आने से लगता है, दूरी बढ़ गई है। और जब वह आती है तो कितनी निकटता का अनुभव होता है?

I leave for Kullu on the 9th. I hope that the programme will not change now.

जालन्धर : 7-6-58

रात अम्माँ से पहले घर और जीवन के आरम्भिक काल के व्यक्तियों की चर्चा होती रही।

1925-27—**पहला घर**—चंडीवाली गली—बाल कौर, फूल कौर, बूआ, दग्गा, कलजुग, गुग्गा, माना, नारायण पंडित, चमनलाल मास्टर, नारायण की भाभी, अतर कौर (नत्थू की बीवी), बनारसी, पूरन, राममूर्ति।

1927-41—**दूसरा घर—गंडांवाला बाज़ार**—पाधा, साबुन के कारीगर, ढोली, भोला, लब्यू, रामलाल, गिरधारी, पुरुषोत्ती, जींगा, निहालसिंह, बाबाजी, शंकर दत्त, सन्तराम, राधिका रमण, खन्ना जी, देवीदत्त, सत्यवती, उसका पति (मैंने कहाँ जीं—!) मदनमोहन, प्राणनाथ...

माया मनोहर सुन्दर, आछी राजी बिमला किशन, तायाजी, ताईजी, महेन्द्रो, सरनदास, बड़ा किशन, बिमला छोटी, ताई की बहन की लड़की राजो—शकुन्तला—मौसी-मौसा, दविन्दर, नानी, महेन्द्र-जीत, प्रकाश कौर, शान्ति, बच्चे—

शाम—लच्छा, तोताराम, रोशन।

मथुरावाली मौसी—बालाये बिन्दा

माँ पाछो।

शाह लालचन्द, किशनचन्द, नाथूराम (रंगवाला), नत्थूराम दलाल, जगन्नाथ हाँडा, भगत लोग, ब्रजवासी, किरपाराम वकील, किरपाराम मुंशी, किरपाल सिंह काका, कमला, अम्माँ, बाबूजी—

पारो गंडे खानी

हऊ सिप्पी लून का डला

आ नया लाल खुदाई ओए।

1941-42—तीसरा घर—बाज़ार नृसिंह दास—

रामदासी, चरनदासी, सरदार और उसकी लड़कियाँ—सिख दर्जी, सब्जीवाले, बाबू जगन्नाथ।

1941-45–चौथा घर–डकाड़ा

भाई जी, केशवनन्द, रामानन्द, इन्दिरा, कौशल्या, कौशल्या की भाभी, उसके पिताजी–कृष्ण बिहारी, ओंकार, बाबू लक्ष्मीनारायण, शान्ता, पंडित विश्वम्भर दास, राज, प्रेम, चपड़ासी (?), अश्क दम्पति।

1942-45–पाँचवाँ घर–होस्टल

नवीनचन्द, सहाय, सदानन्द, मोहन, ज्ञान, श्रुतिकान्त, धर्मचन्द, राधेलाल, रघुनन्दन, जगन्नाथ, लक्ष्मण स्वरूप, सूर्यकान्त, हरनामसिंह, मिस्टर एंड मिसेज़ शर्मा, वशिष्ठ, माधव, दिनेश, प्रेमी भट्ट।

1945-47–छठा घर–कृष्ण नगर–लाहौर

बाला सहाय, पुष्पा, कुन्ती, अविनाश, दविन्दर, आनन्द, अमरजीत, आनन्द का दोस्त–गोपाल दास, दढ़ियल शायर, बेदी।

1947–सातवाँ घर–जोधपुर

पुष्कर, माणिकलाल, सुलताना, मित्रा, इन्दु, इन्द्र, माणिक लाल का बेटा, साथी, ग्वालन, टिकट कलेक्टर, उसकी लड़कियाँ।

1947–आठवाँ घर–शेख मेमन स्ट्रीट, बम्बई

भाटिया, तुलजा, शर्मा (ऑफ़ कश्मीरी होटल) बालगोविन्द, सुधा भाभी, अर्चना, गिरधारी, डॉक्टर, सिन्धी, विजय भट्ट, सत्यपाल, मूर्ति।

1948-49–नौवाँ घर–कालीना

लाला, यार्दी, अभयंकर, बादल मियाँ, मनोरंजन, चपरासी...इरावती, तुथुजा की बीबी, बहनें, गली के परिवार–धर्म, पृथ्वी, पाल, अन्य कॉफ़ी हाउस की आकृतियाँ।

1949–दसवाँ घर–माहिम

मिस्टर एंड मिसेज़ वढेरा–सोनी, तनेजा...

1949 ग्यारहवाँ घर–लारेन्स होटल

मिसेज़ लारेन्स, मैथिलोन, लीला, सावित्री, भाभी, इन्द्रमिथ, चमन, राजबेदी।

1949 बारहवाँ घर–36, प्रेम लेन, नई दिल्ली

अविनाश, भईयाजी, भाभी, सन्तोष, शीला, सतिन्दर, कुमार आनन्द, मदन मुट्यानी, माँ, स्वदेश, बूरी, चौधरी।

1949 तेरहवाँ घर–69, मॉडल टाउन, जालन्धर

ज्ञानचन्द, रवीन्द्र सिंह।

1950–चौदहवाँ घर–75, मॉडल टाउन, जालन्धर

राजकुमार, दुर्गा, सुरेन्द्र, उसका भाई।

1950-51–पन्द्रहवाँ घर–दि ग्रोटो, शिमला

तुली, बिहारी लाल, बीवियाँ, बच्चे, सरेज नाइट्स, ब्राउंज़, अडवानीज़ फिशर्ज,

नटाल, रुथ, मिसेज़ सर्फा, प्रेकिंग्ज़, कजंज़ डोरोथी, नानावती, जोन्ज़, हिचकाक्स, हैना, बार्कर्ज, बेटिंक्स, प्राण, मदन, पुरुषोत्तम, बाबा, शीला, सतीश, हरिमोहन, शरद, शाह, मदान, रघुनन्दन, खन्ना, भारती, रघुवंश, जगदीश।

1953–सोलहवाँ घर–लखपत स्ट्रीट, जालन्धर

भल्ला, चौधरी, भल्ला की लड़की, जगदीश, सोमेश, साहनी, नरुला...

1954-55–सत्रहवाँ घर–180, मॉडल टाउन, जालन्धर

कुसुम, कमला, राज, सूरजभान, सत्यदेव, रामकृष्ण।

1955-56–अट्ठारहवाँ घर–568 एम. टी.

प्रेमी, पाल, मेहराज, बेदीज़, रिक्ता, पुष्पा, सुदर्शन, खालदा बेगम, अब्दुला, चोपड़ा, उनकी लड़कियाँ, मिस लाल, दीदी, चावलाज़, मेहर सिंह एंड परिवार, कमलेश्वर, दुष्यन्त, मार्कंडेय, कान्ता भारती।

1956–उन्नीसवाँ घर–5 मोती रोड, जालन्धर

शाहनी, चंचल, कुन्तल, महिपत

1956-1956–बीसवाँ घर–453 आर., मॉडल टाउन, जालन्धर

बसु, कान्ति, ऊषा, राजेन्द्र, वेद, वीरेन्द्र, मोती, जोशी, कुसुम की अम्माँ, नरेन्द्र, स्वर्ण, आनन्द, कालिया, मिसेज़ प्रेमी, डॉ. एंड मिसेज़ प्रेमनाथ–To be counted.

जालन्धर : (रात) 7-6-58

सुबह–

कपिल, कृष्ण भाटिया और लाला मनोहरलाल सूद। कुल्लू की बातें–

दोपहर–

बैंक–रामकृष्णा–प्लाज़ा–

बाद दोपहर–

घर–डॉ. के.। डॉ. के. ने अपनी लिखी हुई कहानी सुनाई। बहुत अजब-सा लगा। उसे वीणा का ताज़ातरीन पत्र दिखा दिया–उसे पूरी कहानी भी सुना दी। जाने उस पर क्या प्रतिक्रिया हुई होगी?

वह पौने तीन बजे गया। दो रोटी निगलकर रेडियो स्टेशन चले गए।

छह बजे रिकार्डिंग से फारिग हुए।

शाम–

प्लाज़ा–प्रेमी अपनी बात करते हुए रोने को हो आया।

फिर म...के घर–

वह काग़ज़, रंग, ब्रश बिखेरे बैठी थी। उसने अपनी कुछ ड्राइंग्स दिखाईं। She seems to have got real potentialities for it.

उसने कहा कि कल नहीं, सोमवार सुबह आ सकती है!

सोमवार सुबह चलने का प्रोग्राम तुरन्त कैंसिल हो गया। अब जाएँगे–शायद उसी दिन–मगर उसके आने के बाद।

फिर भी आशंका होती है कि शायद वह न आए। क्योंकि...

रात–

घर–

अजब-सा लगता है–जैसे किसी परीक्षा में बैठे हों और परिणाम की प्रतीक्षा कर रहे हों–

ये मिस्टर शर्मा क्या बला हैं?

कहीं–?

O God!

No!

Then?

Wait.

But how?

अच्छा–परसों तक तो किसी तरह जियो, मेरे दोस्त।

जालन्धर : 8-6-58

कल तक इन्तज़ार की ज़रूरत नहीं पड़ी–

रुक-रुककर लिखूँगा। चाहता हूँ बत्ती देर तक जलती रहे। अँधेरा मुझसे नहीं सहा जाएगा।

सुबह बेड टी ही ले रहा था जब वह आ गई।

बात हुई–

उसने बताया घर में बात हो चुकी है...ममी इस बात पर लड़ी थीं–

फिर–कुछ अधकहे वाक्य–हारते हुए विश्वास को सँभालने की हताश चेष्टा।

साथ सटकर सिसकते हुए वक्ष–

I was convinced that she does not have that strong emotions.

ख...से बातें करके मन का बोझ कुछ हल्का हो गया।

मगर लौटकर मन पर फिर घटा घिर गई।

अम्माँ पर उलझे।

सुबह जाना है–कैसी विचित्र होगी यह यात्रा?

कुछ लिखने को भी तो नहीं सूझता।

जालन्धर से चले जाने में ही मुक्ति है।

ग्रन्थि सुलझ तो गई। किसी रूप में ही सही।

अब सबकुछ हल हो जाएगा।

धर्मशाला : 10-6-58

उस रात बहुत देर तक मन परेशान रहा। नींद नहीं आई। अम्माँ देर तक बैठी बातें करती रहीं। सो गए तो सुबह देर से उठे।

एक मन था कि लखनऊ चले जाएँ पाल के पास। मगर रास्ते की गर्मी के डर से मन नहीं बना। उठकर दस-साढ़े दस बजे तक अनिश्चय में पड़े रहे। आख़िर धर्मशाला का ही निश्चय रहा। सामान उठवाया और चले आए।

रास्ते में भी मन वैसे ही उड़ा-उड़ा-सा था। वही घूमती हुई सड़क, वैसी ही घाटियाँ, खेत, पानी के मार्ग, कच्चे घर, लोग...।

विस्तार की निकटता से मन कुछ-कुछ आश्वस्त अवश्य हुआ। नूरपुर, शाहपुर, गग्गल धर्मशाला–

धर्मशाला पहुँचकर बस स्टैंड पर ही पता चल गया कि ज्ञान छुट्टी पर गया है।

कचहरी बाज़ार में आकर एक होटल से श्रुतिकान्त का पता किया। वहाँ एक दुबले से युवक ने पहचान लिया। उसने बताया, वह पहले सोमेश के साथ एक बार पठानकोट स्टेशन पर मिला था–जिस दिन डलहौज़ी से कौशल्या भाभी को पठानकोट छोड़ने आए थे। उसका नाम था कौशल।

कौशल ने ही श्रुतिकान्त का घर ढूँढ़ दिया। रात बारह बजे तक मन को बातों में बहलाए रखा।

फिर डिप्रेशन छाने लगा–मगर नींद आ गई।

सुबह उठकर मन में वैसा डिप्रेशन तो नहीं है मगर मन उन प्रतिक्रियाओं से मुक्त हो गया हो, ऐसा भी नहीं।

जिस वातावरण में रहते हैं, वह हमारे रहन-सहन के अतिरिक्त हमारे सोचने और अनुभव करने की प्रक्रिया को प्रभावित करता है। village mentality, town mentality, city mentality आदि का यही अर्थ तो है कि हम जहाँ रहते हैं, वहाँ के जनसमुदाय की परम्पराओं और विश्वासों के code को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से स्वीकार कर लेते हैं, वहाँ की सर्दी-गर्मी के अनुसार अपना एक जीवनक्रम बना लेते हैं। सुख-दुःख का निर्णय उस वातावरण के अन्तर्गत ही अपनी उपलब्धियों-अनुपलब्धियों के अनुसार करने लगते हैं। वातावरण का परिवर्तन उस सुख-दुख के भान में न्यूनाधिक्य ला देता है।

मैं जालन्धर में रहते हुए जो कुछ सोचता और जैसा अनुभव करता हूँ, वहाँ से निकलकर वैसे नहीं करता। पिछली बार दिल्ली में रहते हुए मुझे अपनी यह भावुकता

बहुत बचकाना और उपहासास्पद-सी प्रतीत होती थी—आज यहाँ आकर वैसा तो प्रतीत नहीं होता—मगर यह अवश्य लगता है कि दुनिया बहुत विशाल है और विशाल की एक इकाई होते हुए मेरे जीवन का निर्धारण केवल एक इकाई के सम्बन्ध-असम्बन्ध से नहीं होता। मेरी व्यथा झूठी नहीं, मुझे इस चोट ने बौखलाया भी बहुत है, और आगे के लिए जीवन की दिशा इससे बदल भी बहुत जाएगी—मगर इसी आधार बिन्दु को लेकर जिया जा सकता था—ऐसी बात तो नहीं। यूँ मन को समझाने के लिए तो यह भी कहा जा सकता है कि इससे कुछ ऐसी रेखाएँ बन जातीं जो बुरी तरह कस लेंती, ज़िन्दगी को बहुत कन्वेंशनल बना देतीं—अब कम-से-कम निर्मुक्तता तो रहेगी। जानता हूँ कि इस समय ऐसा सोचना आत्मप्रतारणा हो सकती है।—मिथ्याश्वास हो सकता है। मगर पर्वतों के बीच से गुज़रते हुए अनेकानेक मार्गों की ओर देखकर मन को कुछ सुख अवश्य मिलता है। ये सब मार्ग मेरे हैं। विशाल के सौन्दर्य का हर कण मेरा है।

भावना के सूत्रों से कसी हुई वर्तमान की केंचुली से बाहर निकलने की प्रक्रिया आसान नहीं है। कष्ट भी होता है। यह महसूस होता है कि अपनी उपलब्धि, अपने संचय से जीवन वंचित हो रहा है। मगर एक कल्पना में थोड़ा सुख है—तुम्हें नए सिरे से जीवन जीने का प्रयत्न करना है, नए संयम के मार्ग पर चलना है, नई उपलब्धि की दिशा ग्रहण करनी है।

धर्मशाला : 11-6-58

कल और आज में मन बहुत खुल गया है। यहाँ की हवा, चिड़ियों के शब्द, दूर से आती हुई बसें, बल खाती सड़कों पर चढ़ता-उतरता जीवन—यह वातावरण जैसे धीरे-धीरे कलुष को धोए दे रहा है—कलुष जो कि हताशा और अविश्वास और पराजय की भावना के रूप में मन को घेरे था। बहुत दिनों में मन और मस्तिष्क इस सहज स्थिति में आए हैं।

कल डॉ. मदान को पत्र लिखकर पता नहीं ठीक किया या नहीं। उससे मन कुछ हल्का अवश्य हुआ—यद्यपि अपना ego कहीं से छिलता है। परन्तु यह छिलन एक दिल की ही तो होगी—

रात की सैर, खुली हवा, बियर के घूँट, निर्मुक्त बातचीत—इससे मन बहुत स्वस्थ हुआ और ख़ूब अच्छी नींद आई।

जाने के कार्यक्रम के सम्बन्ध में भी निर्णय हो-सा गया। यहाँ से मनाली तक पैदल जाएँगे। हमारे वहाँ पहुँचने तक पंडितजी वहाँ से जा चुकेंगे, इसलिए जगह की दिक़्क़त न होगी। उतने दिन धर्मशाला बैठ रहने का तो कोई अर्थ नहीं।

शिवास्ते सन्तु पन्थानः।

थोड़ी ही दूर जाकर रास्ता पुल की मुँडेर की तरह दोनों ओर खड़ी चट्टानों में से होकर बाईं ओर को हट गया और सामने खुली घाटी दिखाई देने लगी। ब्यास की धार दाईं ओर के विस्तार से आगे घने देवदारों में जा छिपी थी और उसकी आवाज़ ही उसकी सत्ता का प्रमाण दे रही थी। मेरी आँखों के सामने खुले खेत थे, बाईं ओर के ऊँचे पहाड़ को काट-काट कर एक विशाल दुर्ग का-सा रूप दे दिया गया था। ब्यास के पार भी देवदार के जंगल, फिर खेत, फिर चट्टानें—यही कुछ दिखाई दे रहा था। वह ऐसा विस्तार था जहाँ जाकर अनुभव होता है कि आसपास का सारा वातावरण एक ही स्वर में ध्वनित हो रहा है—चुप-चुप! चुप-चुप!

घाटी के बीच से सड़क बल खाती हुई जा रही थी। जहाँ तक आँख जाती थी, सड़क पर कोई आकृति नहीं थी। मैं छड़ी को पीछे से गरदन पर रखकर दोनों हाथों से पकड़े चलता रहा, फिर छड़ी को ज़ोर-ज़ोर से मारने लगा। मैं वास्तव में कहना चाहता था कि मैं प्रसन्न हूँ और स्वस्थ हूँ (वैसा नहीं जैसा हर पत्र के अन्त में लिखा रहता है—आशा है आप स्वस्थ और प्रसन्न होंगे।)

मुझे फिर श्याम चाचा की याद आई। मन में प्यार और आदर का भाव जागृत हुआ। बीस-बाईस की उम्र में भी उनके पास कितनी गहरी सौन्दर्य चेतना रही होगी? उस बलिष्ठ और अति स्वस्थ शरीर में कितनी कोमल भावनाएँ निहित रही होंगी? हमारे लिए तब कुल्लू और श्याम चाचा और जापानी फल ये सब पर्यायवाची से शब्द थे। तब से अब तक घाटी के सौन्दर्य में तो रंच मात्र भी अन्तर न आया होगा—मगर हमारा जीवन! सन् सैंतीस में हम कहाँ थे—सैंतालीस में कहाँ और आज...? घाटी के पीछे एक दूसरी के पीछे ढलती हुई पहाड़ियों की शृंखला जैसे गम्भीर भाव से संकेत कर रही थी—चुप-चुप! बस चुप!

अड़ेऊ गाँव आ गया। धर्मशाला में कुलतार चन्द ने जगतसुख की सुन्दरियों की चर्चा की थी। जगतसुख अड़ेऊ से अढ़ाई तीन मील आगे होगा—और उससे भी छह मील आगे नज़र जहाँ रोरिक परिवार रहता है। सूर्यास्त हो चुका था। अड़ेऊ गाँव के लकड़ी के घरों में जीवन जैसे स्तब्ध था—कहीं कोई आवाज़ नहीं, हलचल नहीं, रोशनी नहीं, केवल दो-एक चेहरे, जैसे उस उदास गाँव को human touch देने के लिए ही वे बैठाए गए हों।

एक दम्पति मेरे आगे-आगे चल रहे थे। दोनों की पीठ पर बोझ था। पुरुष के हाथ में एक घड़ा, एक छाता और एक छड़ी भी थी। पुरुष ने बताया कि वे लोग भुनतर के मेले में वह सब ख़रीदकर ला रहे हैं—दो रातें वहाँ रहकर वे आज लौट रहे हैं। उसका नाम था ननकू और उसकी वहाँ पास में ही अपनी ज़मीन थी।

उतराई आरम्भ हुई। नीचे नाला था जो कई धारों में बँटा था और उस पर तीन जगह पुल बने थे। नाले का पानी कई जगह से काटकर आठ-दस पनचक्कियों में

लाया गया था। एक लड़की अकेली चट्टान पर बैठी उदास भाव से नाले को देख रही थी, हमारे पहुँचने तक वह उठकर चली गई। नाले के पार सड़क पर दूर तीन आकृतियाँ आती दिखाई दे रही थीं–वह गुलाबी साड़ीवाली लड़की और उसके साथ के दोनों व्यक्ति। मुझे समय का और भूख का स्मरण हो आया। मैं लौट पड़ा।

सन्ध्या हो गई थी। लौटते हुए ग्लेशियर सामने था। सन्ध्या के प्रकाश ने बर्फ़ को एक ताम्बई स्पर्श देकर आलोकित कर रखा था। चलते-चलते मुझे महसूस हुआ कि मैं एक विराट संगीत के कई स्वरों के बीच से होकर गुजर रहा हूँ। सामने से आती हुई तेज़ हवा हाँस-हाँस करती हुई सुर से टकरा रही थी–पहाड़ की सारी हरियाली को भी अपने स्पर्श से वह गुंजित किए दे रही थी–करोड़ों पत्तों के काँपने का वह स्वर हवा के स्वर से भिन्न होता हुआ भी उसमें खोया हुआ था। और कहीं देवदारों की ओट में छिपा हुआ ब्यास किनारों को अपने स्पर्श से छीलता हुआ, चट्टानों पर टूटता हुआ अपना शब्द कर रहा था–किनारे हिलकर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहे थे। सन्ध्या का क्षितिज छोटे-छोटे जन्तुओं के स्वर में अपने को ध्वनित कर रहा था–चिकु-चिकु-चिकु-चिकु–चिर–हर्र–तिपु-तिपु-तिपु-तिपु–और किसी पहाड़ी रास्ते से उतरती हुई खच्चरों की घंटियाँ अलग सुनाई दे रही थीं–टिंटंग–टंग–टंग-टंग-टंग टि टंग-टिंग-टिंग-टिंग। कोई खच्चरों के पीछे गाता आ रहा था–ठंडी-ठंडी बो...हो ठंडी-ठंडी बो...एक चश्मे का पानी ऊँचाई से पत्थर पर गिर रहा था–छप-छप-छप-छप-छप-छप-छप।

और मेरे क़दम सड़क पर शब्द कर रहे थे। इन सब आवाज़ों ने मिलकर जैसे मुझे जकड़ लिया। मुझे लगा कि पहाड़, घाटी, दरिया, देवदार, पगडंडी, हवा और मैं सब मिलकर एक साथ उस मादक संगीत की सृष्टि कर रहे हैं जो एक मांसल स्पर्श की तरह रोम-रोम को सहला रहा है–ठंडी-ठंडी बो...ठंडी-ठंडी बो...।

सामने ग्लेशियर की बर्फ़ पर नाना चित्राकृतियाँ दिखाई दे रही थीं–एक मुग्धा युवती का मुखमंडल–गोल, ठोड़ी तिरछी, भाव कामुक, पुरुष के मुँह पर झुका हुआ। पुरुष स्थिर, चुप, गौतम बुद्ध। उससे पीछे विजेता सिकन्दर! प्रेम, विराग, अधिकार। आसपास कुछ पक्षी थे, कुछ कटे हुए हाथ-पैर थे। कभी न्याय शास्त्र में पढ़ा था कि सब आकृतियाँ अपेक्षिक हैं–सब आकृतियाँ अपेक्षिक हैं तो बर्फ़ की आकृतियाँ यथार्थ भी हो सकती हैं (हेत्वाभास-धिक्) हेत्वाभास ही सही, मगर सिकन्दर उसी तरह चेहरा सख़्त किए था, स्त्री उसी तरह तरल थी और पुरुष उसी तरह आँखें मूँद स्थिर-प्रज्ञ था। एक देवदार की डालें रास्ते तक झुक आई थीं, जैसे उसे किसी के स्पर्श की कामना है। मैंने देवदार की डालों को छड़ी से सहलाया–डालें कोमल बाँहों की तरह ललक गईं।

'हलो!' मैंने कहा।

'साँय-साँय!' देवदार ने उत्तर दिया।

'बुड्ढे हो गए तुम भाई, अब भी रास्ते से छेड़खानी करते हो? तुम्हारी बाँहें अब भी व्यांकुल होकर नीचे को झुकती हैं?'

देवदार ने ज़ोर से साँय-साँय किया जैसे कहता है कि बुड्ढे होगे तुम! मैंने तो अभी अपनी उम्र के दो सौ साल ही काटे हैं—मेरे अभी चार सौ साल शेष हैं—अभी अपने यौवन के प्रथम चरण में हूँ—तुम जो आधी खा चुके हो, मुझे बुड्ढा कहते हो?

'अच्छा भाई, न सही—मैं तुमसे बड़ा सही—बड़े के अधिकार से कुछ कह ही दिया तो क्या हुआ? बुरा नहीं मानते।'

देवदार ने फिर साँय-साँय किया और कहा, 'आए बड़े बननेवाले। ज़रा अपनी ऊँचाई देखो। कहाँ से बड़े हैं आप?'

'अच्छा भाई तुम्हीं जवान भी हो, बड़े भी हो, हम कुछ नहीं हैं—हम हर तरह से तुमसे हीन हैं। अब तो प्रसन्न हो?'

मुझे नाराज़ देखकर देवदार ने फिर ज़ोर से डालें हिलाईं और कहा कि 'प्यारे तुम भी एक बात में बड़े हो—तुम जाने कहाँ से आए हो और कहाँ जाओगे और मुझे देखो जहाँ का तहाँ जकड़ा खड़ा हूँ, इस जगह से ज़रा भी हिल नहीं सकता।'

और अपने बड़प्पन से प्रसन्न होकर मैं चल दिया।

पुल सामने था। झुटपुटा हो चला था। एक युवती (या शायद नवयुवती) दौड़ती हुई दूसरी तरफ़ से आई।

'जय हिन्द!' वह मुस्कुराई।

'जय हिन्द।'

'घूमने को गया?'

'हाँ, घूमकर आया।'

'पहाड़ देखा?'

'देखा।'

'क्या देखा? यह तो नीचे-नीचे ही देखा, पहाड़ तो ऊपर है। ऊपर का पहाड़ देखेगा?'

'ऊपर का पहाड़?'

'हाँ देखो। हम सभी ऊपर जाता है।'

वह जल्दी से सामने की पगडंडी पर चढ़ गई और न जाने कैसे पत्थरों पर पैर रखती हुई सीधे पहाड़ पर चढ़ने लगी। मैं सड़क पर खड़ा उसकी ओर देखता रहा।

'आओ।' उसने ऊँचे से मुस्कुराकर कहा और काफ़ी दूर और चढ़ गई। वहाँ से उसने केवल हाथ हिलाया और ऊपर चली गई। यहाँ तक कि अँधेरे में उसकी आकृति भी गुम हो गई। मैं कुछ क्षण खड़ा रहा। फिर धीरे-धीरे चलने लगा। पुल

पर पहुँचकर फिर दरिया को देखने लगा जो पुल तोड़ने के लिए व्याकुल था। तभी धम-धम पुल पर पैरों की आहट हुई और जैसे आसमान से टूटकर वही युवती (या नवयुवती) दौड़ती हुई पास से निकल गई। 'हाह!' उसने पास से गुज़रते हुए कहा और हाथ पर हाथ मारा—और क्षण भर में ही वह इधर के पत्थरों के बीच गुम हो गई।

मैंने पुल पार किया और मार्केट की तरफ़ जानेवाली सड़क पर चढ़ने लगा।

बरामदे की खिड़की से देवदारों का घना जंगल दिखाई देता है। अभी-अभी हल्की-हल्की बूँदें पड़ रही थीं। बूँदें पड़ती हैं तो जैसे आकाश को एक आकार मिल जाता है—उसमें प्राण आ जाते हैं। अब हल्की-हल्की धूप है जो देवदारों की हरियाली का हल्का सुनहरी स्पर्श दिए दे रही है। बाईं ओर से आती हुई हवा शरीर को सहला रही है। नाले के पानी से खेलते हुए मैंने अनुभव किया था कि पानी के स्पर्श में भी एक मांसल सिहरन होती है—इसलिए छड़ी की नोक से उसे ज़रा-ज़रा छेड़ता रहा था। अब यहाँ बैठे हुए लगता है कि हवा के स्पर्श में भी कुछ ऐसा है जो स्थूल और sensuous है (obsession?) सोचता हूँ, क्या मुझे छूकर हवा को भी पुलक का अनुभव होता है।

कमरे की खिड़की से जीवन का बहुत बड़ा कैनवस दिखाई देता है। ग्लेशियर की बर्फ़ के आधे भाग पर बादल की छाया पड़ रही है, जिसने उसे सुरमई-सा रंग दे दिया है। आधे भाग में धूप पड़ रही है और बर्फ़ की चमक आँखों को चुँधियाए देती है। बादल धीरे-धीरे सरक रहा है और वहीं सफ़ेदी पर सुरमई पर्दा चढ़ रहा है और वहीं से वह उतर रहा है और सफ़ेदी बाहर फूट रही है।

मुझे जो कुछ भी अनुभव होता है, मैं किसी के प्रति सम्प्रेषित करना चाहता हूँ—परन्तु वह 'वह' कौन है? कहाँ है?

जालन्धर : 30-6-58

कल लौटकर आया था तो इसी निश्चय के साथ कि नए विश्वास के साथ आरम्भ करूँगा। कल से मन बहुत स्थिर और निश्चित है।

कल दोपहर को सु...से गीत सुने, उसे रुलाया और...

नि...जबर्दस्ती कहानी संग्रह और नाटक की प्रतियाँ ले गई।

रात को खाने के बाद बियर शॉप चले गए।

सुबह से मन बहुत सहज स्थिति में है। मुझे जालन्धर छोड़ना क्यों आवश्यक है? केवल इसलिए कि...?

नहीं।

यहीं रहकर काम करने का प्रयत्न करेंगे। नहीं हुआ तो किसी भी समय यहाँ से जाया जा सकता है।

दोपहर को ख...के यहाँ चला गया। प्रत्येक व्यक्ति से सम्बन्ध निर्धारण अब सहज भूमि पर सम्भव होगा ऐसा विश्वास कर सकता हूँ।

लौटते हुए म...से साक्षात्कार हुआ। उसका फिर वही शोख अन्दाज़ था, फिर वही घर आने का आग्रह। परन्तु आज मन पर कोई प्रतिकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई।

मन की इस सुस्थिति में डॉ. मदान की देन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

चाहता हूँ कि जुलाई का महीना कहीं बाहर न जाऊँ और थोड़ा कुछ लिख डालूँ। बहुत गर्मी पड़ रही है, परन्तु गर्मी को hindrance क्यों माना जाय?

जालन्धर : 1-7-58

बहुत दिनों के बाद जयनाथ 'नलिन' को देखा। प्रेमी के पीछे-पीछे वह कमरे में आया तो सहसा लगा कि एक बुड्ढा आदमी आ रहा है। क्यों वह इतनी जल्दी बुड्ढा हो गया है?

दोपहर को दीदी से उसके वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में बातचीत की और उसे यह समझाना चाहा कि एक पुरुष विवाह से क्या अपेक्षा रखता और रख सकता है। मुझे उसकी ट्रेजडी के लिए बहुत खेद होता है–विशेषरूप से इसलिए कि इस विवाह-सम्बन्ध के लिए विशेषरूप से मैं ही उत्तरदायी हूँ। मैंने उन दिनों राज की बहुत प्रशंसा की थी, और कमला ने वह सब ध्रुव सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया था। मैंने राजकुमार के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा था उसमें मैं हृदय से विश्वास करता था। परन्तु...। मैं आज भी समझता हूँ कि वह एक बहुत सच्चा और खरा आदमी है। परन्तु...फिर परन्तु...।

आज दिल्ली से सरोज पाठक–एक गुजराती कहानी लेखक–का लम्बा-चौड़ा पत्र आया था। ये पत्र अपने अहंभाव को सन्तुष्ट करते ही हैं–साथ ही इनसे अपने में और विश्वास का भी उदय होता है। मैं चाहता हूँ कि मैंने जितना काम किया है, उससे कहीं अधिक और कहीं अच्छा काम कर सकूँ। मैंने आज तक कुछ भी ऐसा नहीं लिखा जिसे सन्तोषजनक कह सकूँ। I want to write something good—something fully satisfying. Shall I ever write it?

जालन्धर : 2-7-58

आज कौशल्या भाभी के पत्र के स्नेह स्पर्श ने मन को बहुत भिगो दिया।

जालन्धर : 3-7-1958

हमें जीवित रहने और बड़े तथा परिपक्व होने की कई बार बहुत कीमत चुकानी पड़ती है। कई बार हमारे लिए–हमारी गलतियों के लिए कीमत दूसरों द्वारा चुकाई जाती है।

मैंने मोहन से पुष्पा के सम्बन्ध में बात करके एक जबर्दस्त भूल की थी–जिसका मूल्य मुझे भी चुकाना पड़ा, पुष्पा को भी। मुझे खेद होता है कि मैंने केवल अपने ही कोण से हर परिस्थिति का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया। मैं पुष्पा के सम्बन्ध में चुप रह जाता तो कोई ऐसी क्षति न होती–कम-से-कम उसे घर में इतना torture तो न सहना पड़ता। जब कभी मैं उसके सम्बन्ध में सोचता हूँ, बहुत दुःख होता है, अपने से ग्लानि होती है।

और मनाली जाने से पहले मेरी खुराना से जो बात हुई, उसके लिए भी आज मुझे हार्दिक दुःख है। परिस्थिति का रूप मैंने ज्यों-का-त्यों उस व्यक्ति को बता दिया–परन्तु क्या मैं सर्वथा उस परिस्थिति से निरपेक्ष था?...और जिस स्थिति में उस व्यक्ति को confidence में लिया गया था, क्या उसमें परिस्थिति के सत्य का परिचय उसे देना वांछित हो सकता था? इस तरह अपने को घटना-निरपेक्ष समझते हुए उस व्यक्ति से वह सबकुछ कहकर निःसन्देह मैंने बहुत बुरा किया–अपेक्षित यह था कि मैं उससे तीनों की उपस्थिति में बात करने को कहता। एक ट्रेजेडी की प्रतिक्रियाओं के समाप्त होने से पहले दूसरी ट्रेजेडी की सृष्टि करके निःसन्देह मैंने बहुत बुरा किया है–यह सच्चाई एक ऐसा अपराध है जिससे अपनी चेतना को मैं मुक्त न कर पाऊँगा। वे गीली आँख और काँपता हुआ शरीर सदा मेरे सामने रहेगा और मैं उस ख़ामोश प्रश्न का उत्तर कभी न दे पाऊँगा–'क्या मैंने तुम पर इसीलिए इतना विश्वास किया था, तुमसे इतना स्नेह किया था कि तुम मेरी दुर्बलता का सत्य किसी तीसरे आदमी के सामने व्यक्त कर दो? तुमने मेरी भावना को केवल शारीरिक कामना समझा था तो क्या यह आवश्यक था कि किसी और के सामने भी इसका उद्घोष कर देते? मैंने भी तो तुम्हारी दुर्बलताएँ देखी थीं परन्तु–एक बोझ से टूटने के अवसर को छोड़कर–कभी किसी से उनकी चर्चा नहीं की। और तुमने अपने में बहुत मान ले लिया कि मेरी दुर्बलता का इतिहास एक तटस्थ दर्शक की तरह एक अपरिचित के सामने खोलकर रख दिया? और वह अपरिचित–उसके लिए वह इतिहास सूत्र एक सौदे की भूमिका भी तो बन सकता है? क्या यही वह तुम थे जिसका मैंने इतना आदर किया था? और आज हल्का-सा खेद प्रकट करके तुम उस सबके दायित्व से मुक्त हो जाना चाहते हो? मैं ख़ामोश हूँ, और मुझे ख़ामोश रहना है परन्तु तुम्हारे लिए यह ख़ामोशी ही मेरा लक्ष्य है। सिर से पैर तक मुझे देख लो और सन्तुष्ट हो लो...कि बहुत बड़ाई की है तुमने–बहुत बड़प्पन सँजोया है!'

मेरा सिर अवनत है, मन उदास है, यह आत्मभर्त्सना भी अपने को बहलाने का प्रयत्न है। मैंने जो किया वह अनुचित था और वह अनौचित्य मुझे सालता रहेगा।

"ज्ञान को मेरे साथ भेज दो।" उसने बैठे हुए गले से जैसे रोते हुए कहा।

इस क्लाइमेक्स की मैंने कभी कल्पना नहीं की थी।

The blow is direct and hard.

जालन्धर : 5-7-58

मैंने रिसर्च स्कॉलरशिप से भी त्यागपत्र दे देने का निश्चय किया है। इससे स्वतः ही यह भी निश्चित-सा हो जाएगा कि दिल्ली चला जाऊँ। आगे का कार्यक्रम स्वतः निर्धारित होता रहेगा।

डॉ. मदान से लम्बी बात हुई। फिलहाल त्यागपत्र न देने का ही तय हुआ।

जालन्धर : 7-7-58

कल सुबह उठते ही तैयार होकर रेडियो स्टेशन चला गया था। नौ बजे से चार बजे तक रिकार्डिंग की ही प्रक्रिया चलती रही। पहले रिकार्डिंग आरम्भ हुई तो मैंने कट करा दिया—हरबंस की वज़ह से। फिर आरम्भ हुई तो फिर कट करा दिया—प्रेमी और हेमराज की वज़ह से। फिर आरम्भ हुई तो हेमराज ने कट करा दिया। फिर एक मिनिस्टर टॉक रिकार्ड कराने आ गए। फिर इंजीनियर खाना खाने लगे। फिर मोती और कपूर में सख़्त लड़ाई हो गई। फिर बिजली फेल हो गई। चार बजे खाना खाया, और पाँच बजे घर आए।

घर आकर लेटा ही था कि माँ ने कहा, वीणा आई है। सनीचर को डलहौज़ी से उसका पत्र मिला था तो उसी समय उत्तर दे दिया था। शाम को देर से सोये। मगर बहुत गर्मी थी, ठीक से नींद नहीं आई।

जालन्धर : 10-7-58

अलसाये से दिन। समय न शीघ्र बीतता है, न धीरे। जैसे उसकी गति अब सहज हो। निश्चित। बैठे-बैठे भी मन नहीं ऊबता। कभी बात करते रहते हैं, कभी नहीं भी करते। कभी बात करना अनावश्यक-सा लगता है। उसका हृदय इन दिनों उन्मादी है। मुझे अपने में अधिक सन्तुलन का बोध होता है।...बेबी बीमार है, रोती रहती है। कल रात उसने जैसे आर्तनाद किया था—'हाय मुझे यहाँ से ले चलो। अभी, अभी, अभी। हाय, अभी चलो। मैं नहीं। मैं नहीं। अभी गाड़ी में चलो। अम्माँ अभी चलो। मुझे ले चलो।' और एक बच्ची के ऐसे हठ का पहली बार परिचय पाकर बहुत विचित्र-सा लगा था, मन हुआ था कि उसे तुरन्त ही स्टेशन ले जाऊँ और प्यार से

गाड़ी में बैठा दूँ। परन्तु उस समय उसे एक सौ दो से ऊपर बुख़ार था। आज दिन में हर पाँच मिनट के बाद वह कुनकुना उठती थी। उसकी माँ रोटी पानी छोड़कर उसे थपथपाती, लोरी देती, कहानी सुनाती, प्रलोभन देती। बेटी धीरे-धीरे आँख मूँदने लगती तो वह फिर चौंककर स्नेह की भावना से देखती—मन होता था उससे प्यार करूँ। फिर मन होता था कि कुछ ऐसा करूँ जिससे उसका हित हो। वैवाहिक जीवन की सफलता और पुरुष की अपेक्षा के सम्बन्ध में उसे भाषण दिया—स्वयं रेखा के उस ओर रहने का वचन देना चाहा। परन्तु सहसा वह बहुत उदास हो गई। उसकी आँखें भरी-भरी हो गईं। और अन्ततः उसने कहा, "यह वचन तुम लौटा लो।"

"अच्छा।"

"यह मुझसे नहीं होगा।"

"अच्छा।"

दोपहर को उसने खाना भी बनाया। पहली बार ऐसे लगा कि घर घर है—और जीवन डरावने जंगल की एक एकान्त छाया नहीं है।

लखनऊ : 19-7-58

यहाँ आए कई रोज़ हो गए। परन्तु आते ही पहले सिरदर्द से पड़ गया, फिर जुकाम-खाँसी से। ज़ुकाम-ख़ाँसी का दौरा अभी तक है।

ग्यारह को जालन्धर से चल ही दिया था। उससे पहले की रात को जिस घनिष्ठता का परिचय उससे मिला था, उसे फिर से दोहरा कर पाने तक रुकने को मन नहीं हुआ। रात के ग्यारह बज चुके थे। दीदी शाम की गाड़ी से चली गई थी। कमरे में हमीं दोनों थे। माँ और बेबी बाहर सो रही थीं।

दूसरे दिन वह आने देना नहीं चाहती थी। मुझे लोभ था कि इस भरे-भरे घर से ही चलूँ। वह पहले चली जाती तो घर बहुत ख़ाली-ख़ाली प्रतीत होता।

रिक्शा आ गया तो भी उसे आशा थी कि शायद मैं रुक जाऊँगा। परन्तु मैं चला ही आया।

एक दिन नई दिल्ली में रहा। देव बख़्शी ने अपने घटियापन को पूरी तरह प्रमाणित कर दिया। उसने प्रस्ताव किया कि मैं घर से नौकर को बुला लूँ, रसोई का सामान मँगवा लूँ, फर्नीचर, पर्दे इत्यादि मँगवा लूँ, उसके लिए अंग्रेज़ी का टाइपराइटर मँगवा दूँ—और पेइंग गेस्ट बनकर उसे दो सौ रुपया महीना दे दिया करूँ।

दिल्ली से तेरह की सुबह चला। कानपुर स्टेशन पर मोनिका बोस मिलने के लिए आई। झाँसी मेल के चलने तक वह वहाँ रही। हम शंट करते डिब्बे में बैठे रहे, प्लेटफार्म पर टहलते रहे, रिफ्रेशमेंट रूम में बैठे रहे। मुझे वह बहुत साधारण लड़की लगी—हर दृष्टि से। गाड़ी चलने पर वह लौटी।

लखनऊ स्टेशन पर सत्येन्द्र और पाल दोनों मिले। पाल के साथ घर आने पर पता चला कि उसके पिता आए हुए हैं।

वे दो दिन बाद चले गए। मैं इलाहाबाद जाने का कार्यक्रम बनाकर भी नहीं जा पाया। दो दिन तो हम लोग सवेरे से उठकर बिना नहाए-धोए ही बैठे खाते-पीते, बातें करते रहे। पाल और पंडित ने 'आषाढ़ का एक दिन' की बेहद प्रशंसा की।

यहाँ के साहित्यिक मंडल में किन्हीं लोगों से मिलने-जुलने का तनिक मन नहीं हुआ।

कल रात एक घटना हो गई। शाम को मैं और सत्येन्द्र रिक्शा लेकर घूमते रहे। रिक्शा यूनिवर्सिटी की ओर गया, वहाँ से ठंडी सड़क (जो शायद संसार की सबसे बदबूदार सड़क है) के रास्ते लौटा, फिर एक जगह बैंच पर बैठकर हमने बातें कीं। शरत् कमल के साथ अपने सम्बन्ध के वीभत्स पहलुओं के विषय में बाताता रहा। फिर 'कपूर्ज़' में दाख़िल हुए कि बियर पिएँगे और खाना खाएँगे। देखा, रमेश पहले से वहाँ है।

रमेश ने एक व्यक्ति मिस्टर गुप्ता से इंट्रोड्यूस कराया। कुछ देर बातें करते रहे। गुप्ता उठकर चला गया, फिर लौटकर आया, कुछ देर काउंटर के पास खड़ा रहा, फिर पाल की पीठ के पास जाकर उसने अपने गिलास की शराब उसके चेहरे पर फेंक दी।

"सो यू वान्ट टू मीट माई वाइफ?"

मुझे लगा कि अभी यहाँ ख़ूनख़राबा हो जाएगा। परन्तु पाल calm रहा, unruffled—हम लोग जैसे उस विषय को भूलकर और बात करते रहे। मगर 'कपूर्ज़' से उठते ही उसे भूत सवार हो गया।

"I will kill him. I will murder him. How did he dare? चाँटा लगाऊँगा। मार दूँगा।...I am not a baniya. I am a man, so I will murder him."

'मदनज' में खाना खाने पर भी वह शान्त नहीं हुआ। बल्कि और अशान्त हो गया। उसने हठ किया कि वह उसी समय उस आदमी के घर जाएगा—उसका पता करने के लिए पहले प्रमोद के घर जाएगा। मैं कठिनाई से उसे समझाकर लौटा पाया। वह रास्ते में मुझ पर भी बिगड़ता रहा। कई जगह रिक्शा को पल-पल के लिए रोका गया। आख़िर हम घर लौट आए।

घर आकर रिक्शावाले ने scene create कर दिया। वह तीन रुपए माँगने लगा।

रिक्शावाले से कहासुनी हुई। चौकी गए। वहाँ से चले तो रिक्शावाले ने और रिक्शावालों को बुलाकर मारपीट करनी चाही। रात को सवा दो बजे तक झगड़ा हुआ। अढाई बजे घर लौटे।

घर आते ही पाल पर फिर वही भूत सवार हो गया। मैं चारपाई पर लेट गया और वह मेरी चारपाई की परिक्रमा करने लगा।

"मार दूँगा। जान निकाल दूँगा।"

घंटा-भर इस तरह टहलकर वह हठ करके कपड़े पहनकर चला गया। सुबह आठ बजे वह गुप्ता के साथ लौटा। गुप्ता कुछ देर बैठा माफ़ी माँगता रहा, फिर चला गया।

पाल यहाँ से प्रमोद के यहाँ गया था। उसे जगाकर गुप्ता के यहाँ ले गया। वहाँ उन्हें उठाकर उसने गली में ही उन्हें ऊँची-नीची सुनाईं। प्रमोद ने भी उनसे बुरी-भली कही और कहा कि हमारी पाल साहब से दोस्ती है, हम ज़िन्दा ही इनकी वज़ह से हैं, ये हमारी ज़िन्दगी हैं–पाल वहाँ से सन्तुष्ट लौटा।

Satisfied at having avenged himself and having been overwhelmed by Pramod's declaration of her love for him.

वह दो घंटे प्रमोद और कृष्णा की बातें करता रहा और मुझसे ऐसे कारणों पर प्रकाश डालने का आग्रह करता रहा जिनसे सिद्ध हो कि कृष्णा के बिल्लू के साथ भी सम्बन्ध रहे हैं।

He somehow wanted to believe that it is true.

यहाँ आए छह रोज़ हो गए। शायद यहाँ शिफ़्ट कर आना भी संगत नहीं है। यहाँ के जीवन में मेरी एकमात्र equation पाल से होगी और...।

I have enjoyed my stay here all the same.

लखनऊ : 20-7-58

आज मन उदास है। रात की गाड़ी से यहाँ से चला जाऊँगा। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी भी जगह राहत नहीं है। सब कुछ बहुत अच्छा था–ख़ूब व्यस्त रहे, घूमे, खाया-पिया, हँसे। मगर फिर भी...।

रात पाल और पंडित के 'रंगमंच' की स्थापना हो गई। रात का वातावरण अच्छा था–उस समय सब लोग उत्साहित थे। मगर फिर पाल शराबख़ाने में जा बैठा तो मुझे डिप्रेशन ने घेर लिया।

डिप्रेशन का एक कारण शायद शरत् की कहानी भी थी। शरत् ने कितने विश्वास से कमल के पत्र और उसकी डायरी मुझे दी थी?

I am sorry for both of them. And I am sorry for Usha also. What life it? I do not feel like going anywhere.

परन्तु शरत् से कह रखा है साढ़े बारह बजे मिलूँगा, नागरजी से कहा था, दो बजे आऊँगा, प्रमोद को साढ़े चार बजे बुलाया था–

सब करूँगा। सबसे मिलूँगा। परन्तु...

मेरे इस 'परन्तु' का मेरे पास कोई उत्तर नहीं।

हर सुखी चेहरे के नीचे दुख के उमड़ते हुए स्रोत देखकर न जाने कैसा-कैसा लगता है!

मन अपनी दिशा जानता है परन्तु...।

दिल्ली एक्सप्रेस–रात : 21-7-58

आख़िर फिर जालन्धर की ओर। यह इतनी भटकन क्यों है? क्यों कहीं भी मन स्थिर और निश्चित नहीं होता? It is really an escape from 'self'? श्रुतिकान्त ने कहा था, कि ज्ञान का यह कहना है। परन्तु कहाँ तक संगत है उसका यह कहना? यह भटकन आज ही की तो नहीं है। पिछले डेढ़-दो वर्ष की परिस्थितियों ने ही तो इसे जन्म नहीं दिया। जब से मैंने अपने को जाना है, तब से मेरे अन्दर यह भटकन ज्यों-की-त्यों है। मैं भागता हूँ तो इस भटकन से ही, इस restlessness से–नए-नए सन्दर्भ में अपने को रखकर देखना चाहता हूँ–अब लौटकर जा रहा हूँ–परन्तु लौटकर भी तो मन इतना अशान्त ही रहेगा। Will I ever get rest? Probably never.

स्टेशन पर पाल, शरत् और पंडित आए थे। मुझे उन तीनों से स्नेह है। ऐसे स्नेह के लिए जालन्धर में तरस जाता हूँ। सब सम्बन्ध औपचारिक, व्यावसायिक, नीरस, अर्थहीन! तो आख़िर कैसे चलेगा? कैसे काटूँगा?

वीणा को पत्र मिल गया होगा। उसका तार नहीं आया। मैं छोटी-छोटी बातों से elated और उतनी ही छोटी-छोटी बातों से 'डिप्रेस्ड' हो जाता हूँ। मैं क्यों नहीं दृढ़, निश्चित, स्थितप्रज्ञ रह पाता?

सामने के दोनों बर्थों पर एक विवाहित जोड़ा है। पत्नी लेटी है, पति उसके बर्थ पर पाँव रखे बैठा है। पत्नी बहुत ही सुन्दर है। परन्तु आदमी साला बेइन्तिहा चुगद है। साला सारा रोमांस आज ही झाड़ लेना चाहता है।

I started from Jullundur with an uncommitted mind and I am returning to Jullundur with an uncommitted mind. I should know my preferences in life and choose better.

शाम की मीटिंग में प्रमोद के बारे में मेरी वह धारणा और भी पुष्ट हुई जो पहले ही दिन बनी थी।

जालन्धर : 22-7-58

गाड़ी का सफ़र और सिरदर्द

घर, माँ, अपनापन।

दस-बारह दिन की डाक।

माँ के नाम आए वीणा के पत्र को छोड़कर और–शरत् के पत्र को छोड़कर किसी पत्र में 'इमोशन' का स्पर्श तक नहीं–

यहाँ जीवन फिर जैसे जड़ और स्तब्ध है।

जालन्धर : 24-7-58

दो एक तार दिए।

उपन्यास का आरम्भ तो हुआ किन्तु...।

यूनिवर्सिटी के पर्चे आज भेज दिए।

प्रेमी ने आज त्यागपत्र दे दिया है। उसने बताया कि डी. जी. ने उसे लिखा है कि उसे त्यागपत्र दे देना चाहिए।

भगवती बैकुंठी देवी सम्भवतः अपनी महागाथा सुनाने कल आएँ।

वीणा के कल के पत्र में वही शालीन स्वर था जिसके प्रति मुझे आदर होता है।

कल रात ख़ूब वर्षा हुई थी। इस समय सारा विश्व मेंढकमय हो रहा है–जैसे सृष्टि के प्राणों में एक स्वर है–टर्र-रैं-टर्र-रैं–

आओ मदन मोहन, अब सो जाएँ।

हमारी 'रात की रानी' पहली बार खुशबू दे रही है।

जालन्धर : 25-7-58

आज सी.आई.डी. का एक आदमी यहाँ तहक़ीक़ात करने आया कि हम दिसम्बर में इलाहाबाद जिस लेखक सम्मेलन में गए थे, वहाँ क्या हुआ। वह पिता का नाम, कहाँ से बी.ए. किया, इत्यादि सब पूछकर ले गया।

धन्य रे भारत राष्ट्र!

सिनेमा हाउस के कॉरिडोर में दाख़िल होते हुए देखा–न...बालकनी की सीढ़ियाँ उतर रही थी। उसके साथ शायद अ...थी। न...ने देखकर भी जैसे नहीं देखा–उतरकर बाहर चली गई।

मन में हल्का-सा खेद भर गया। वह लड़की जो कुछ ही दिन पहले तक इतने मुखर संकेत किया करती थी, जिसने सर्दी की रात में एक बजे तक मुझे अपने घर में रोक रखा था, और जिसने इतनी चाह के साथ मुझसे शरीर का प्यार लिया था, मुझे अपना 'फर्स्ट एक्सपीरिएंस' कहा था, वह इस तरह अपरिचित-सी, जैसे बिना देखे, पास से चली गई–

यह है हमारी संक्रमणकालीन संस्कृति–पुरातन मूल्यों और नवागत मूल्यों का सह-अस्तित्व!

वीणा ने कल लिखा था कि मैंने किसी से प्यार नहीं किया। मैं सोचना चाहता हूँ कि क्या सचमुच मैंने किसी से भी प्यार नहीं किया। क्या मैं इस भाव से सर्वथा शून्य

हूँ? अपने पर दम्भ कैसे करूँ कि शून्य नहीं हूँ? परन्तु प्यार करने की चाह, किसी के अस्तित्व को सम्पूर्ण रूपेण अपने में विलय कर लेने की चाह आज तक बनी हुई है। अब तो सम्भव है कि यह चाह कभी पूरी न हो—परन्तु मुझे ऐसे प्यार की कितनी तृष्णा रही है। मैं भावशून्य नहीं हूँ—निःसन्देह ऐसा नहीं। विवाह के आरम्भिक दिनों में शीला यदि मेरे इस भाव को थोड़ा-सा हविष्य देकर प्रज्वलित कर लेती?

परन्तु वह नहीं होना था। वह सर्वथा विपरीत लोक की प्राणी थी।

और मैं?

मैं आज भी आकाश की नाना ध्वनियों में घिरा हुआ अपने को अकेला महसूस करता हूँ। सबसे अधिक आत्मीयता का अनुभव होता है तो वीणा से ही। परन्तु मैं उस खाई को पाट नहीं सकता—उफ़! उस रात बच्ची किस बुरी तरह इस घर से जाने के लिए छटपटाई थी?

अब स्वास्थ्य ने फिर दगा नहीं किया तो कुछ दिन काम का रुटीन चलेगा। काम के बीच से मन को व्यवस्था मिलेगी। माँ अनपढ़ है, पर कैसी पते की बात कहती है! "तू सब कुछ भूलकर काम कर। काम के बीच से ही तुझे शान्ति मिल जाएगी।"

मैं मूर्ख हूँ। मैंने आज तक माँ के महत्त्व को नहीं जाना!

डॉ. मदान का जीवन कैसे बीतता होगा? उस व्यक्ति का इतना निराशापूर्ण जीवन दर्शन है, इतना सिनिकल एटीट्यूड है कि ख़ामख़ाह दूसरे पर भी depression छा जाता है। वह न जाने क्यों यह विश्वास दिलाना चाहता है कि जीवन केवल व्यर्थ का अस्तित्व है और जीवन कामना केवल मृत्यु से बचने का संघर्ष!

उस बात से दोपहर को दो घंटे मन उदास रहा।

जालन्धर : 26-7-58

डरता हूँ कि यह मन की सहजता अपने साथ truce तो नहीं है। आजकल जिस तरह कई काम अपने हाथों करता हूँ, बाग़वानी में रुचि लेता हूँ, दिन को कुछ हिस्सों में बाँटकर काम में लगा रहता हूँ, वह सब अप्राकृतिक संयम तो नहीं है जो एक दिन सहसा टूट जाएगा और मैं अपने को पहले से कहीं अधिक wretched महसूस करूँगा?

इतने दिन जीकर मैंने एक ही अनुभव बटोरा है। हर व्यक्ति अपनी धुरी पर जी रहा है। कोई भी व्यक्ति मेरी धुरी से जीवन को नहीं देख सकता। अच्छे-बुरे का हर एक का अपना दर्शन है। कर्म की हर एक की अपनी सीमा है और जैसे मैं कोई और नहीं हो सकता, वैसे ही कोई और मैं नहीं हो सकता। फिर भी इस सारे

जन-समुदाय में जितने भी व्यक्ति आज तक मिले हैं, उनमें जिसने अपेक्षतया अधिक मेरी धुरी को और मेरे केन्द्र को समझने का प्रयत्न किया है वह है वीणा। कभी-कभी मन उसके प्रति आभार से भर उठता है। परन्तु जितना प्राप्त है, मैं उससे कहीं अधिक की आशा करता हूँ। सम्भवतः यह मेरी दुर्बलता है। परन्तु है तो सही। मैं उससे एक विशिष्ट दूरी का भी अनुभव करता हूँ–परन्तु यह अनुभव से निकटता कम नहीं होती। और नितान्त निकटता के अनुभव में भी दूरी नहीं जा पाती। I cannot imagine her as wife—but I visualize her as everything else, a friend, a companion, a mate and what not? But I need a home and a wife also.

घूम-फिरकर फिर एक ही बात–एक ही बात! Almost all people have failed me. Gyan, Mohan and even Ramesh Bakshi I do not count. And if Veena also fails me one day, then how wretched. I am going to feel? I like her company so much and I cannot imagine her to be the mother of my child. Oh goodness!

जालन्धर : 27-7-58

दिन बहुत सहज भाव से बीत गया। यदि हर दिन इसी तरह बीत सके...।

आज दिन में डॉ. मदान ने कहा था, "म...का भाई किताबें दे गया था, वे मैं यहाँ छोड़ गया था।"

"हाँ, मैंने देख ली थीं।"

कुछ क्षण चुप रहकर इन्होंने कहा, You are better for having got out of this. The family is no good.

"At least I don't have anything in mind now."

"It is good. They are a different sort of people."

Narendra seemed to be very much worried—probably because of something on the domestic front.

जालन्धर : 28-7-58

सुबह नहाकर चुके तो ला...और म...आ गईं। ला...फिर से एम.ए. की परीक्षा देना चाहती है। वह पाँच पुस्तकें ले गई।

और म...

आज मैंने उसे अधिक तटस्थ दृष्टि से देखा। उसके आने या जाने की कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई–

मन की सहज स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया।

क्या सचमुच दिमाग़ का जंग उतर गया है?

जालन्धर : 29-7-58

मन स्वस्थ है।

कमरे की सब खिड़कियाँ खुली हैं (शायद पहली बार)—ख़ूब अच्छी हवा चल रही है और मैं अब नाइट सिटिंग के लिए बैठा हूँ।

अभी घूमने के लिए निकला था तो वीणा की याद आई थी। मन हुआ था कि वह साथ हो तो दूर तक घूम आएँ।

वह दिन जिस दिन बरसात में भीगे थे, मुझे भुलाए नहीं भूलेगा।

मैं उन क्षणों के लिए सदा उसके प्रति आभारी रहूँगा।

टेबल लैम्प के गिर्द छोटे-छोटे अनेक कीड़े जमा हो गए हैं—लाल आकृतियाँ, लाल रंग। क्या इनकी सृष्टि इसलिए हुई है कि ये मेरे लिखने में बाधा डालें?

मगर मेरे लिखने में बाधा डालनेवाला सबसे बड़ा कीड़ा तो दिमाग़ में है।

तन शिथिल, मन प्राण व्याकुल...!

अब छायावादी कविता न करके कुछ काम करो, बन्धु!

जालन्धर : 31-7-58

मन की सहज स्थिति में कोई अन्तर नहीं। उपन्यास का काम लगातार हो रहा है। स्पीड तो नहीं है—फिर भी काम हो रहा है, यह चेतना ही सन्तोष देती है।

उसी समय वीणा का पत्र आया। पत्र के सहज सौहार्द, आत्मीय भाव, निश्छल स्वर और बौद्धिक स्पर्श ने मन को छा लिया।

उसी डाक से ख...का पत्र भी मिला। पत्र का स्वर बहुत निराशापूर्ण था। दुख हुआ। उसे पत्र द्वारा प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया।

आज सुबह से थोड़ा-सा काम किया है। परन्तु अभी आधा दिन शेष है।

जालन्धर : 1-8-58

वरीन का जन्मदिन है आज! अम्माँ ने आज हमारी दावत की।

उस दिन की सिनेमा हाउस की भेंट के अनन्तर कल फिर न...का पत्र मिला। उसने लिखा है कि वे लोग सोमवार को आएँगी। I do not know how to interpret the whole situation.

नि...आज सुबह आई और छह-आठ पुस्तकें ले गई।

आज सही अर्थ में थीसिस का काम भी शुरू कर दिया। I must now complete it at any cost. The work is well begun and...they say well begun is half done.

I am only worried about the second half. Ha Ha!

कालिया ने बताया कि प्रोफ़ेसर वर्ग को इस बात में सन्देह है कि मेरा थीसिस कभी पूरा होगा। मैंने इस बात पर भी हँस लिया।

रात और गर्मी।

मगर काम करूँगा।

जालन्धर : 2-8-58

सुबह फिर पेट में वही दर्द उठा और तबीयत परेशान रही। दिन-भर कुछ नहीं किया—केवल लेटे रहे, ताश खेलते रहे, या बियर पी आए।

दिमाग़ जड़, ख़ाली।

मगर मन बदस्तूर शान्त और सुस्थित है। आज यह भी निश्चय हुआ कि कम-से-कम साल-भर जालन्धर में रहेंगे ही।—सितम्बर से यूनिवर्सिटी क्लास को पढ़ाएँगे भी।

आज फिर वीणा की याद आई और मन हुआ कि वह होती तो इस समय दूर तक एक लम्बा चक्कर लगा आते।—आज प्रेमी से कहा कि वीणा को कविता पाठ का कॉन्ट्रैक्ट भिजवा दे।

जालन्धर : 4-8-58

कल भी कुछ नहीं किया—पिक्चर देखकर आए तो प्रेमी और जोशी आ गए। ताश खेलते रहे। शाम को मेंहदीरता आ गया। दो एक घंटे बियर शॉप में काटे। लौट कर रात के डेढ़-दो बजे तक मेंहदीरता से गपशप होती रही।

आज सुबह पाँच-साढ़े पाँच बजे ही उठ गए। सिर भारी था। उठकर मेंहदीरता से बातें ही हुईं—उसके थीसिस का प्लान भी डिसकस किया। कुछ देर डॉ. मदान के यहाँ बैठे रहे। तम्बाकू का पान खाकर सिर घूम गया।

मेंहदीरता के जाने के बाद घंटा-डेढ़ घंटा शून्य में काटा। चार बजे के लगभग न...आई और साढ़े आठ बजे तक रही।

उस drunkenness के क्षणों में ही देखा था कि एक पड़ोसी सामने के कोठे से रोशनदान की ओर देख रहा था।

हम बीच के कमरे में आ गए। न...ने बताया कि Jade...C. L. का भाई है—यह भी कि C. L. ने बन्दे का ज़िक्र होने पर एक दिन नाक-भौं चढ़ाकर बात की थी।

थोड़ी देर के लिए डिप्रेशन आ गया।

जाने से पहले न...ने दो बार बहुत माधुर्य के साथ आलिंगन किया, क्योंकि सम्भवतः आज के बाद वह कभी न मिल सकेगी।

पन्द्रह सितम्बर को उसका ब्याह है और bridegroom 15 अगस्त को ही यहाँ आ रहा है—शॉपिंग-ऑपिंग के लिए।

न...को रिक्शा ला दिया—रात को काला चश्मा लगाए हुए ही बाहर जाना पड़ा—अपना दूसरा चश्मा नहीं मिला।

न...चली गई।

"You will never think ill of me?"

उसने कहा था।

"No."

"You know I worship you I do not bother about what anybody else says about you. You see...all people talk very highly of you as a teacher."

"I shall be alright in no time."

"You should be alright now, otherwise I shall not go."

"I am alright now."

"No, you are not."

"Believe me, I am."

"I want to believe you but I can't."

मैं हँसा।

दोपहर को देव बख़्शी का पत्र आया था कि श्री मोहन चोपड़ा धर्मशाला पहुँचे हुए हैं और both the friends are enjoying each other's company and exchanging confidences.

मेरे दिल में एक दर्द की लकीर उससे भी खिंच गई थी। सोचा था कभी ज्ञान से इस मामले में बात करूँगा—मगर अब सोचता हूँ कि वह निरर्थक ही होगा।

The parting with N... was the best possible parting that could be there between a man and a woman.

I liked her immensely today.

जालन्धर : 7-8-58

कल दिन में कुछ भी नहीं किया, फिर भी दिन बहुत व्यस्तता में बीता। दो-एक पृष्ठ टाइप किए, फिर कुछ मिलनेवाले लोग आ गए। दोपहर को अश्क और यशपाल

के पत्र मिले। यशपाल ने 'जानवर और जानवर' की बहुत प्रशंसा की थी, अश्क ने 'आषाढ़ का एक दिन' की। सो अपने दिमाग़ की नसें कुछ इस तरह फूलीं कि काम-धन्धा छूट गया। बैठकर कई एक पत्र लिखे। इसी तरह शाम हो गई जब मोती एंड पार्टी आ गई।

बियर शॉप चले गए। वहाँ बैठे हुए प्रीतम और मोती ने मिलकर प्रीतम और जगजीत कौर की ट्रेजेडी बयान की।

प्रीतम पहले बता रहा था कि किस तरह उसका यू.के. का पासपोर्ट बनवाने में उसे नारी जाति ने सहायता की है। उसकी फ़ाइल यहाँ के मजिस्ट्रेट ने जल्दी भिजवा दी–दिल्ली उसका काम कराने के लिए उसकी एक महबूबा को सवेरे पाँच बजे पासपोर्ट ऑफ़िसर के पास जाना पड़ा और विलायत में उसे admission भी एक महिला की वज़ह से ही मिली।

अचानक उसने पूछा, ''अपने चेहरे से क्या मैं नपुंसक लगता हूँ?''

''क्यों?'' मैंने आश्चर्य से पूछा।

''कुछ नहीं। मेरे कुछ दोस्त मुझसे कहते हैं।''

प्रीतम की बात करने का ढंग बहुत प्यारा है। उसकी बड़ी-बड़ी आकर्षक आँखें उसके साँवले चेहरे को बहुत सुन्दर बना देती हैं। वह कोमल स्वर से बिना assert किए, सदा मुस्कुराता-सा बात करता है।

पाल ने मुझे उसके और उसकी पत्नी जगजीत कौर के बारे में कुछ बातें बतलाई थीं। उसने पूछा तो मैंने उसे बताया था कि मैं उसके जीवन के सम्बन्ध में थोड़ा कुछ जानता हूँ, अधिक नहीं।

जालन्धर : 9-8-58

कल 'सेल्फ पोर्ट्रेट' टाइप करना आरम्भ किया, जो अभी तक चल रहा है।

बाद दोपहर ताश खेलते रहे–रात को बियर शॉप से 'ड्रंक' लौटे।

कल शायद प्रेमी को पता चल गया हो कि 'ल्युकोना' उसी का व्यावहारिक नाम है।

The man is an idiot of the first water.

आज सुबह पंडित हेमराज के दर्शन हुए। उसके गुण, कर्म, स्वभाव में पिछले पन्द्रह वर्ष में रत्ती-भर भी तो अन्तर नहीं आया।

कितना विचित्र लगता है जब इस तरह का आदमी कहता है–''एफ.ए. की किताब की तो कुल छह हज़ार रुपया ही रॉयल्टी आई। अब मैट्रिक की किताब की दस-बारह हज़ार ज़रूर आएगी!''

पंडित हेमराज और किताब की रॉयल्टी!...ख़ुदा!

यूँ आदमी हरिकृष्ण प्रेमी से तो ज़्यादा समझदार है, इसलिए वह अपनी नाटकावली में हज़ारों रुपए रॉयल्टी के लेता है, तो यही अपनी सम्पादित पुस्तकों से कमा ले, क्या बुरा है। वह भी तो अपने नाटकों की इसी रूप में चर्चा करता है–'मेरा एफ.ए. वाला नाटक–मेरा यू.पी. बोर्ड वाला नाटक...।'

पुस्तकों की दुनिया के इन जन्तुओं के लिए भी कोई Tata-fison ईजाद हो।

आमेन!

जालन्धर : 12-8-58

शनि की रात को बुख़ार हो आया–ऐसी कँपकँपी पहले कभी नहीं आई।

इतवार का दिन सौ से एक सौ तीन के बीच टैम्परेचर लिए बिस्तर में विश्राम किया।

सोमवार को टैम्परेचर उतरा–रमी खेलते रहे।

रात को अढ़ाई-तीन तक नींद नहीं आई।

शनि को वीणा का पत्र मिला था–संकेत था इतवार को अम्बाला आने के लिए।

सोम को दूसरा पत्र मिला–उसमें सोमवार का लिखा था।

यदि बीमार न होते तो इतवार को ज़रूर जाते–और तबीयत फना हो जाती।

आज राजपाल एंड संज़ से आई आर.आर. गुम हो गई और सारा दिन–literally सारा दिन उसे ढूँढ़ने में बीता। एक-एक शेल्फ़, एक-एक किताब, एक-एक फ़ाइल को टटोलकर देखा। वह नहीं मिली। एक-एक ज़ेब, एक-एक ट्रंक देख लिया। वह नहीं मिली।

शाम को झुँझलाकर बाहर चले गए। बियर शॉप होकर लौटे। फिर एक बार सारा कमरा देख लिया। व्यर्थ।

लेटने से पहले, अम्माँ का कूड़े का पीपा देखने लगे। आर.आर. का लिफाफा वहाँ मिल गया।

पाकर झुँझलाहट कम नहीं हुई। मन था कि उसे टुकड़े-टुकड़े कर दें।

जालन्धर : 13-8-58

'सुप्रभात' में राजेन्द्र यादव का लिखा रिव्यू पढ़कर एक बार सिर भन्ना गया।

शाम को काम नहीं किया।

डायरी खाक़ लिखें।

तो आज रिव्यूज़ की चिन्ता करते हैं?

हाँ-हाँ-हाँ!

नहीं भाई साहब ऐसा नहीं।
तो म्याँ मस्त रहो।
अच्छी बात है।
काम करने का मन नहीं तो रेडियो सुनो।
अच्छी बात है।
पहले एक गिलास ठंडा पानी पियो।
अच्छी बात है।
...और प्यारे दुनिया को हेच समझो।
ओ.के.।

जालन्धर : 16-8-58

फिर दो दिन बुख़ार रहा। 'कुछ न करना' कितनी बड़ी मुसीबत है।

'रेस्ट करो' हर कोई यही कहता है। रेस्ट कैसे करें? रेस्ट भी कोई 'करने' की चीज़ है? कोई करने की चीज़ हो तो बताओ, हम करें!

कल म...ल...के साथ आई थी। मिजाज़पुर्सी के लिए। पन्द्रह-बीस मिनट बैठकर दोनों बहनें चली गईं।

I wished I could talk to her alone.

जालन्धर : 18-8-58

बुख़ार तो उतर गया, मगर तबीयत अभी ठीक नहीं हुई। सिर थका-थका है और शरीर में कुछ कच्चा-कच्चा-सा महसूस होता है।

सुबह मन फिर सब छोड़कर अलग और स्वतन्त्र हो जाने के लिए व्याकुल था। डॉ. मदान से बात भी हुई। मगर निर्णय नहीं हो पाया।

जालन्धर : 20-8-58

आज एक भला काम किया।

यूनिवर्सिटी रिसर्च स्कॉलरशिप से भी त्यागपत्र दे दिया।

जालन्धर : 21-8-58

सुबह-सुबह वर्षा होकर हटी थी। दस-साढ़े दस बजे डॉ. मदान त्यागपत्र का काग़ज़ हाथ में लिए हुए आए। उन्होंने उसे टुकड़े करके रद्दी की टोकरी में डाल

दिया और हठ किया कि अप्रैल तक जैसे कैसे भी continue करूँ। उन्होंने कहा कि उनके लिए दोआबा कॉलेज और कन्या महाविद्यालय के एम.ए. टीचिंग से हट जाने से एक कठिन समस्या खड़ी हो गई है—और कि इस वक़्त मुझे डिपार्टमेंट नहीं छोड़ना चाहिए।...तो अब सितम्बर से फिर प्रति सप्ताह एम.ए. के तीन पीरियड पढ़ाओ।

जानता था, मुँह पर विरोध नहीं कर पाऊँगा, इसलिए त्यागपत्र डाक से भेजा था। अब कह दिया कि अप्रैल तक रह जाऊँगा।

दो-एक रोज़ से कई बार वीणा के सम्बन्ध में सोचा है।...चाहता हूँ कि उसका जीवन व्यवस्थित हो जाए। अपने लिए शायद यही जीवन क्रम अच्छा है।

जालन्धर : 23-8-58

कल सोमेश आया और आज सुबह चला गया। वह अभी तक marriage or no-marriage की समस्या से परेशान है।

रात फिर ठीक से नींद नहीं आई।

अब किशन के विवाह पर अमृतसर जाने का निश्चय कर ही लिया है। यूँ मुझे लगता है कि इस अवसर पर कुछ-न-कुछ ऐसा होगा जो मन को छीलेगा।

नींद न आने से मेरा सिर वैसे ही भारी है और मन में झुँझलाहट भर रही है। रात ठीक से नींद आ जाती तो आज तबीयत हरी रहती।

आज रात को तो ज़रा भी सोना नसीब नहीं होगा।

जालन्धर : 26-8-58

तेईस को अमृतसर गए। तायाजी को लिखे पत्र का प्रभाव यह था कि चारों ओर से घटिया बातें सुनने को नहीं मिलीं।

फिर बाईं ओर दर्द उठा—उस वज़ह से काफ़ी परेशानी रही।

चौबीस को मदन मुटयानी के यहाँ चले गए। आठ-नौ घंटे उसके साथ कटे। बचपन के दिनों से आज तक की बातें होती रहीं।

रात फ्रंटियर मेल से चले आए।

कल दिन भी यूँ ही गुज़र गया—

सत्येन्द्र ने डाक से कमल के कुछ पत्र भेजे थे—पढ़कर मन उदास हुआ।

कल फिर अपनी वर्तमान स्थिति को लेकर झुँझलाहट रही।

जालन्धर : 27-8-58

कल वी...के दफ़्तर गया था। पता चला कि इन दिनों उसका दौरा है।

जालन्धर : 28-8-58

आज फिर म...अभी-अभी अपने भाई के साथ आई थी। वह पन्द्रह-बीस मिनट बैठकर चली गई। डॉ. मदान ने उसे resignation की बात बता दी थी। बातें औपचारिक ही हुईं। उसने दो-एक बार आँख भरकर देखा तो मन बहुत उदास हो गया।...

अब तो यह लड़की न ही यहाँ आए तो अच्छा है। कितनी बार सोचता हूँ कि अब मन तटस्थ हो गया है, परन्तु मन तटस्थ कहाँ होता है?

जालन्धर : 29-8-58

वीणा का पत्र–कि 30 या 31 को, सुबह कश्मीर मेल पर उसे देख लूँ–
कश्मीर मेल दो आती हैं–एक कोई चार बजे और दूसरी पाँच बजे।
अलार्म टाइमपीस बिगड़ा हुआ है।
सुबह मॉडल टाउन में रिक्शा नहीं मिलते।
अपनी नींद का कोई भरोसा नहीं।
ऐसे में एक दिन नहीं, दो दिन–
देखें, इस परीक्षा में कैसे पूरे उतरते हैं?
इस समय सिर बहुत भारी है–सोने का प्रयत्न किया जाए।

जालन्धर : 30-8-58

रात-भर का जागना, सुबह-सुबह उठकर रिक्शा ढूँढ़ना और साढ़े चार बजे स्टेशन पहुँचना, सब व्यर्थ गया। वह नहीं आई। बहुत बुरा लगा, मन बहुत झल्लाया। यह अच्छा मज़ाक है। दोनों दिन कश्मीर मेल देख लो! दोनों दिन सुबह पाँच से पहले कौन भला आदमी स्टेशन पर पहुँच सकता है?...उस दिन भी तो मज़ाक ही था। उस इतवार को बीमार न होता तो अम्बाला जाकर क्या गति होती? शनिवार को आप पत्र लिख रही हैं कि इतवार को न चलकर सोम को चलूँगी! यह आपने सोचने का कष्ट नहीं किया कि इतवार को डाक डिलिवर नहीं होती!...अब दिन-भर पत्थर हुए सिर को लिए घूमेंगे और कल...? कल स्टेशन पर पहुँच पाएँगे क्या?...और यही क्या निश्चित है कि आप कल आएँगी?...यदि किसी को मिलने के लिए बुलाया जाए तो व्यक्ति को निश्चित समय देना चाहिए। This is a highly irresponsible attitude towards others.

जालन्धर : 31-8-58

और कल उसका तार आ गया कि वह नहीं आ रही।

यह आने का निश्चय, फिर न आने की बात–सोचता हूँ कहीं अभी से तो वह unpleasant स्थिति उत्पन्न नहीं होने लगी?

कल और आज मन जड़ रहा है। 'मिस पाल' शीर्षक कहानी कल पूरी की थी, पर सन्तोष नहीं हुआ। फिर से लिखना आरम्भ किया। कहानी लम्बी है—दो-तीन दिन और ले जाएगी। न जाने मैं ज़िन्दगी में कब तेज़ रफ़्तार से लिखना सीखूँगा।

जालन्धर : 1-9-58

रात को नींद नहीं आई। दिन-भर पत्थर-सा सिर लिए कमरे ठीक करते रहे।

'आषाढ़ का एक दिन' पर नामवर की समीक्षा मिली।...

It seems that the play is really well written. Otherwise I cannot understand why everybody should praise it.

दस साल कहानियाँ लिखते रहे—किसी ने उनकी इस तरह मुक्त कंठ से प्रशंसा नहीं की। अश्क, जगदीशचन्द्र माथुर, लक्ष्मीचन्द्र जैन, चमन—सबके पत्रों में एक-सी प्रशंसा मिली—और मैं सोचता था कि ऐतिहासिक स्पर्श होने के कारण मेरे अधिकांश मित्र मुँह बिचकाएँगे कि बच्चाजी, अब इतिहास के पेट में मुँह मारने लगे—इस जीवन की सारी पूँजी—क्या खा बैठे?

'आख़िरी चट्टान तक' को इन्हीं दिनों सारा रिवाइज कर डालने का इरादा है।

शारीरिक उपलब्धि का अभाव कई बार शरीर को बुरी तरह से कस लेता है। स्नायुओं पर इतना दबाव पड़ता है कि कुछ काम नहीं होता।...समझ में नहीं आता कि इस परिस्थिति का क्या निदान करना चाहिए। अमृतसर में सभी सम्बन्धियों ने पुनर्विवाह की चर्चा की थी। क्या orthodox ढंग से विवाह करके सुखी हो सकूँगा? I certainly cannot live through that bitterness again.

जालन्धर : 2-9-58

वृक्ष हवा में सिर मारते हैं तो क्या वह हवा का दबाव मात्र ही होता है या उसमें वृक्ष की अपनी भी कुछ प्रतिक्रिया होती है—उसके अपने रोमांच की अभिव्यक्ति? विश्वास नहीं होता कि यह केवल हवा का गणित ही है जो वृक्ष की पत्ती-पत्ती को उस उन्मादी स्थिति में ला देता है।

मैंने अपने आज तक के जीवन में जिस सबसे महान व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त किया है, वह मेरी माँ है।

यह भावुकता नहीं है। मैंने बहुत बार तटस्थ रूप से इस नारी को समझने का प्रयत्न किया है और हर बार मेरे छोटेपन ने मुझे लज्जित कर दिया है।

बड़े-से-बड़े दुःख में मैंने उसे अविचल धैर्य में स्थिर रहते देखा है। जीवन की किसी भी परिस्थिति ने उसे कर्त्तव्य निष्ठा से नहीं हटाया। परन्तु अपनी कर्मण्यता के लिए रत्ती-भर अहंभाव तो उसमें नहीं है। वह कर्म करती है, जैसे कर्म उसका अस्तित्व है, जीवन है, स्वभाव है। वह जो नहीं कर पाती उसका उसे खेद अवश्य होता है, पर जो कर लेती है, उसका गर्व नहीं। और घर में उसका अस्तित्व वैसे ही है जैसे विश्व में वायु का—वह प्राण देती है, परन्तु अदृश्य रहकर। घर में सब कुछ सँभला-सिमटा रहता है—हर चीज़ व्यवस्थित रहती है—परन्तु माँ कुछ भी करने के लिए वही समय चुनती है जब 'वह करना' किसी को दिखाई न दे। कल रात ही साढ़े ग्यारह बजे वह मेरी मेज़ झाड़ने और ठीक करने लगी थी जब मैं उस पर खीझ उठा, और वह मेरे खीझने से भी दुःखी नहीं हुई और वत्सल हो उठी।

"तू तो मुझे कोई काम करने ही नहीं देता। सुबह तेरी मेज़ पर चीज़ें इधर-उधर बिखरी होगीं तो तेरा बैठकर काम करने को जी नहीं करेगा।"

मैं झल्लाता रहा और वह मेरे सिर पर हाथ फेरती रही।

"माँ की मूर्खता पर ग़ुस्से नहीं होते। तुझे तो पता है कि तेरी माँ दिल से कुछ बुरा करना नहीं चाहती। इसलिए कुछ ग़लत हो जाय तो दुखी मत हुआ कर। ला तेरे सिर में तेल डाल दूँ। दिन-भर काम करता है इसलिए थक जाता है।"

समझ में नहीं आता कि यह नारी अपने शरीर में जीती है या अपने में बाहर ही जीती है। अपना शारीरिक दुख, श्रान्ति, रोग सब कुछ उसे महत्त्वहीन प्रतीत होता है।

बहुत बार तंगी आई है। पिताजी की मृत्यु के बाद तो बहुत ही बुरे दिन देखे थे। फिर बीच में मैंने दो-तीन बार बेकारी काटी। फिर भी माँ थोड़े-से-थोड़े साधनों से भी वही रोटी मेरी थाली में मुझे देती रही। कटौतियाँ बहुत होती थीं—मगर पहले अपने शरीर और पेट पर, फिर बहन के कपड़ों और खाने पर, फिर छोटे भाई पर—लेकिन मुझ पर नहीं।

"इसका कारण आर्थिक है। क्योंकि तुम बड़े बेटे हो और वह तुम पर निर्भर करती है।" ऐसा भी सुना है। पर क्या कारण आर्थिक है? क्या वह मुझ पर निर्भर करती है? क्या उसकी रात-दिन की तपस्या आर्थिक निर्भरता है?

"माँ, तू अन्नपूर्णा है।" एक बार मैंने कहा था।

उसकी आँखें भर आईं। बड़े भोलेपन से उसने पूछा, "किस बात पर तू ऐसा कहता है?...तेरे बाबूजी भी एक बार यही कहते थे।...किस बात पर?..."

मेरे विवाहित जीवन में तुमने दोहरा torture सहा है। उधर उसके पास रहकर एक नौकरानी का-सा व्यवहार सहते हुए और मेरे पास आकर मेरे कराहने और छटपटाने को देखते हुए। फिर भी अपनी ओर से यह कभी उसकी शिकायत मुँह पर

नहीं लाई। और अब अन्तिम दिनों में अपने से हुए व्यवहार की बात कहीं भी तो मुझसे नहीं कही–कौशल्या भाभी से कही।

"मैं कहती थी मेरा बेटा पहले ही दुखी है, मैं उसे दुखी क्यों करूँ?"

और शीला इस नारी के सम्बन्ध में कहती थी, "उसे बहुत ज़बर्दस्त inferiority complex है। हममें यही बुराई है कि हम तुम्हारी माँ की तरह inferiority complex के शिकार नहीं हैं।"

और वह inferiority complex की शिकार नारी इस समय भी अपने कमरे में बत्ती जलाकर लेटी है–सोई नहीं–हालाँकि आज दिन-भर काम करती रही है–क्षण-भर के लिए भी विश्राम नहीं कर सकी। कारण जानता हूँ। मैंने अभी ईसबगोल का छिलका नहीं खाया।

इस साढ़े चार फुट का काया में भावना के अतिरिक्त और भी कुछ है।

दिन-भर मेह बरसता रहा। पिंजरे में बन्द शेर की तरह कमरे में टहलता रहा– 'मिस पाल' शीर्षक कहानी दोबारा टाइप करता रहा। दिन में सोया भी नहीं, काम भी करता रहा, फिर भी नींद क्यों नहीं आई।

जालन्धर : 4-9-58

कल दिन–

वर्षा–फ्लाश–व्हिस्की–भक्षण।

कल प्रेमी के जाने की पार्टी थी।

आज शाम फिर यही दौर रहेगा–केवल वर्षा शायद न हो।

ज्ञान का एक पत्र।

मोहन भाई का धर्मशाला यात्रा का शायद यह अनिवार्य परिणाम है!

The letter has given me immense pain...

Here is the reply to the letter—

ज्ञान भाई,*

पत्र मिला।

मेरे जीवन में तुम्हारी बहुत 'कंट्रीब्यूशन' रही है–यह शायद उसकी आख़िरी किश्त है। इसके लिए भी आभार मानता हूँ।

भूलता जीवन में कुछ भी नहीं–हाँ, दो व्यक्ति कभी मिलें नहीं, पत्र नहीं लिखें– इतनी बात सम्भव हो सकती है।

---

* लाहौर में राकेश के छात्र-जीवन का मित्र।

मैंने कब तुम्हारे प्रति द्वेष की बातें कही हैं, या क्यों कभी कहने की सम्भावना है, यह समझ में नहीं आया। द्वेष का कोई आधार होता है। यहाँ आधार कौन-सा है? सोलह वर्ष पहले जब तुम्हें जाना-ही-जाना था, तो कुछ स्पर्धा की भावना अवश्य थी। पिछले चौदह वर्ष में ऐसी किसी भावना का अवकाश नहीं रहा। आज किन्हीं कारणों से तुम इस सम्बन्ध को समाप्त कर रहे हो तो यह भावना मेरे अन्दर क्यों जाग जाएगी? मुझे तुमसे क़तई कोई शिकायत नहीं है।

इस आकस्मिक रवैये के कारणों—या कारण—को समझ सकता हूँ। चाहता था एक बार तुमसे रू-ब-रू बात करता—इसलिए ही धर्मशाला आया था। परन्तु वैसा नहीं होना था। पिछले डेढ़ वर्ष के कटुतापूर्ण इतिहास के कुछ पक्ष ऐसे हैं जिन्हें तुम्हीं जानते थे—और तुम्हारे ही अनुभव-सूत्र को लिए हुए मैंने इस परिस्थिति को सँभालना चाहा था।...परन्तु चाहने और होने में इतना बड़ा अन्तर भी तो हो सकता है।

तुमने मेरे जीवन की झूठी विडम्बना का ज़िक्र किया है। मुझे किसी सत्य की उपलब्धि का भान नहीं है। मुझमें तुमसे दस खामियाँ ज़्यादा हो सकती हैं—परन्तु मूलतः मैं आज भी वही व्यक्ति हूँ जो दस वर्ष पहले था।

परन्तु तुमने जो कुछ लिखा है, किसी व्यक्तिगत पीड़ा के कारण ही लिखा होगा। चन्द सुनी हुई बातों को आधार मानकर चलोगे, ऐसा विश्वास नहीं करना चाहता।

तुम्हारी कोई भी इच्छा मुझे मान्य है। तुम जब से दूर हटने लगे थे, तब से मैंने अपने को लादने का प्रयत्न कब किया है?

—मोहन राकेश

जालन्धर : 5-9-58

यह संघर्ष छोटा और आसान नहीं है।...परन्तु यदि मुझे जीवन में विश्वास है और विश्वास में विश्वास है तो मुझे इस दुःख को भी पीना और पचा लेना होगा।... दूरी निरन्तर बढ़ रही थी—उसी मौन में यह घटना स्वाभाविक रूप से ही हो जाती। परन्तु मोहन भाई की ईर्ष्या इतनी दूर तक जाएगी, इस परिणाम तक पहुँचेगी, यह सब कभी मैं कल्पना में भी नहीं ला सका था। लाहौर की कुछ घटनाएँ याद आती हैं। शायद मैत्री के इस सम्बन्ध में मेरी 'एप्रोव' और इनकी 'एप्रोच' में ही अन्तर था। जिस दिन मुझे जोधपुर जाना था, ज्ञान सहसा Cheney's restaurant से उठकर चला गया था। मैंने मोहन की लिखी किसी चीज़ की आलोचना की थी और वह रूठ गया था। मैंने ही उसे मनाया था। फिर गुरदासपुर—वह दिन जब मैं बस में लौटकर आने लगा था और मोहन जाकर ज्ञान को क्लब में लाया था? फिर पहलगाम गवर्नमेंट कॉटेज की वह रात—उस दिन मोहन ने ऐसा व्यवहार किया था जैसा कोई दुश्मन भी नहीं कर सकता। 'With all the vengeance of an old friend'. Oscar Wilde की यह पंक्ति कल से बार-बार याद आती है।

My only analysis of the situation is that Mohan has been suffering from an aggravated sense of professional jealousy.

पुष्पा पर उसका प्रकोप भी उस ईर्ष्या का ही परिणाम था। पुष्पा ने जो कुछ बताया था, उससे भी यह स्पष्ट था किन्तु ज्ञान–उसके मन को मैं अभी तक भी ठीक से नहीं समझ पा रहा हूँ। क्या आज इस सम्बन्ध में इसका भी ego कहीं hurt होता है? या क्या यह मोहन भाई के perverted मन से उपजी दास्तान का ही प्रभाव है?

जालन्धर : 6-9-58

अभी तक सिर जकड़ा हुआ है, मन भारी है। मैंने पत्र पढ़ते हुए नहीं सोचा था कि यह चोट मुझ पर इतना गहरा असर करेगी। वास्तव में मैंने अक्सर अपने साथ यही पाया है। कोई भी घटना या परिस्थिति तुरन्त मुझे प्रभावित नहीं करती। जब घटना होती है, मुझ पर उसका असर नाममात्र को ही होता है। कुछ क्षण बीतते हैं और जैसे प्रतिक्रिया जड़ पकड़ने लगती है–धीरे-धीरे वह सारी चेतना में एक शोक की तरह फैल जाती है। फिर उस शोक को मिटाने के लिए उस जड़ को उखाड़ने के लिए अपनी पूरी इच्छा शक्ति और जीवन शक्ति को उपयोग में लाना पड़ता है।...यह सम्भवतः मेरी इच्छा शक्ति और जीवन शक्ति की सबसे बड़ी परीक्षा है।

इसका तो अर्थ यह है कि व्यक्ति किसी पर भी विश्वास न करे, किसी से निश्छल चित्त होकर बात न करे, किसी के सामने अन्तस् के सम्पूर्ण को व्यक्त करने का प्रयत्न न करे। अपने लिए एक चेहरा और दुनिया के लिए दूसरा चेहरा रखे। मेरी सबसे बड़ी कमज़ोरी यही है कि मैं जिस किसी व्यक्ति पर विश्वास करता हूँ, पूरा विश्वास कर लेता हूँ–बल्कि कोई भी जब तक विश्वासघात नहीं करता तब तक उस पर पूरा विश्वास करता हूँ–बहुत बार चाहता हूँ कि हर एक से अपना सब कुछ कह दूँ–हर व्यक्ति के सामने अपना confession कर लूँ–परन्तु परिणाम सामने हैं।

मुझे सबसे गहरे घाव उनके हाथों लगे हैं जिन्हें मैंने वर्षों अपने घनिष्टतम मित्र माना है। क्या जीने के लिए, सभी सम्बन्धों के निर्वाह के लिए डिप्लोमेसी आवश्यक है।

मेरा मन भारी है। किसी चीज़ या किसी काम में रुचि नहीं होती। सोचना चाहता हूँ तो सोचा नहीं जाता। मन बार-बार उन्हीं शब्दों पर–तीखे चुभते हुए शब्दों पर लौट जाता है। मैंने उसके साथ जीवन में क्या बुराई की है? इतनी ही कि उसे मित्र ही नहीं अपने से बड़ा भी माना है, उसे प्यार भी किया है और उसकी क़द्र भी की है, जब वह corruption case में suspend हुआ था और उसे डेढ़ साल की सज़ा होने की सम्भावना थी तो मैंने उससे कहा था कि मैं डेढ़ साल उसके पास उसी सेन्टर पर रहूँगा जहाँ उसे जेल में रखा जाएगा–उस बात को पाँच-छह साल ही तो हुए हैं–और आज–

शरीर के दर्द से आदमी कराहता है। इस दर्द से आदमी केवल दबता है और टूटता ही है। बार-बार वही सवाल मन में उठता है—यह क्या है? ईर्ष्या! यन्त्रणा देकर सुख प्राप्त करना? तोड़ देने की चेष्टा?

अपने को दिलासा देता हूँ कि किसी की बात को इतना महत्त्व नहीं देना चाहिए—पर मन झुँझलाता है, सब दिलासे झूठे और फीके लगते हैं। यह क्यों हुआ? क्यों उसने इतनी छोटी बातें लिखीं? उसी ने तो मुझे बताया था कि एक दिन वह दोपहर को अपने कमरे में सोकर उठा तो उसने पुष्पा को अपने को चूमते पाया था—मैं जैसे भी हो मोहन से कहूँ कि उस लड़की का जल्द-से-जल्द ब्याह कर दिया जाय। मैंने तब तो मोहन से नहीं कहा। परन्तु जब पुष्पा मेरे बार-बार मना करने पर भी यहाँ आने लगी, घरवालों से झूठ बोलकर, धोखा देकर, और जिस 'स्नेह' से मिलने के बहाने अमृतसर में ज्ञान के यहाँ जाती थी उसी 'स्नेह' से मिलने के बहाने अमृतसर में आकर वहाँ से यहाँ के चक्कर काटने लगी और चाहने लगी कि मैं इस बात को गुप्त रखूँ—तो मैंने यही अपराध किया कि मोहन से कह दिया—यह समझकर कि उसे लौटने को किराए के पैसे भी देकर मैं उसके adventure में साझीदार बनता हूँ—उससे मेरी मित्रता में आघात पड़ता है। मैं puritan नहीं हूँ—मेरी शारीरिक वासना कई बार मुझे पागल भी बना देती है—मगर मैं अपनी मित्रता की रक्षा करना चाहता था।

परिणाम यह है! लड़की ने भाई से कहा कि वह कभी मेरे यहाँ नहीं आई, उसने कभी कोई बात नहीं कही—यह सब व्यर्थ की तोहमद लगाई है।

भाई ने शायद ज्ञान से यही कहा होगा कि मैंने उसकी बहन पर यह नीचतापूर्ण तोहमद लगाई है।

और ज्ञान ने आज यह पत्र लिखा है। ज़रा-सी 'डिसऑनेस्टी' से सारी परिस्थिति ठीक हो सकती थी। कुछ न कहता, उस लड़की की इच्छाएँ पूरी होने देता तो मित्रता भी बची रहती—पुराने यार मिलकर जीवन-भर पुराने दिनों की चर्चा करते रहते।

मगर अब?

मुझे इस बात का अफ़सोस नहीं कि मैंने दो मित्र खो दिए। मानवी सम्बन्ध eternal तो होते नहीं। परन्तु अफ़सोस इस बात से है कि मित्रता और मानवी सम्बन्ध के विश्वास को उस घटना ने इतनी चोट पहुँचाई है कि लगता है, प्रत्येक पर सन्देह करना चाहिए—मन में विश्वास उठे तो भी उसे दबा देना चाहिए। जीवन विश्वास से नहीं 'टेक्ट' से चलता है।

मगर अब मैं इतना बड़ा हो गया हूँ, अपने को बदल कैसे सकता हूँ? वीणा पर मैंने विश्वास किया—उसके सामने जीवन का राई-रत्ती हिसाब खोलकर रख

दिया—केवल वीणा की बात नहीं कही—इसलिए कि वीणा को किसी भी तरह compromise नहीं करना चाहता। पाल, शरत, यादव पर भी मैंने इसी तरह विश्वास किया—कौशल्या भाभी पर भी!

क्या यह विश्वास ही अपराध है? किसी पर भी विश्वास न करूँ? किसी पर भी विश्वास न करूँ?

कम्बख़्त, तूने मुझसे बात तो की होती, मुझसे पूछा तो होता।

कल पहली बार, जब सुदर्शन ने प्रेमी को स्टेशन पर विदा दी तो मन में इसलिए compassion जागा...

What is this life?

कल ख...के पत्र ने भी मन को कुछ सहारा दिया।

जालन्धर : 7-9-58

तीन दिन की जड़ता के बाद आज किसी तरह 'मिस पाल' शीर्षक कहानी पूरी की।

शाम को म...ल...के साथ आई—कालिया आया हुआ था—दो मिनट की फार्मल-सी बातचीत के बाद चली गई।

शाम को घूमने निकले तो मन अपेक्षतया स्वस्थ हुआ।

जो हुआ है, सम्भवतः शुभ के लिए ही है।...

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु!

जालन्धर : 10-9-58

आज राजपाल एंड संज़ का पत्र आया कि 'आषाढ़ का एक दिन' का पहला संस्करण समाप्त हो गया है। इससे सचमुच बहुत खुशी हुई। मगर खुशी के साथ एक संशय भी है। मुझे यह पता ही नहीं कि पहले संस्करण में कितनी प्रतियाँ थीं। दो हज़ार या एक हज़ार? परन्तु दो हज़ार से कम का संस्करण तो अब कोई भी नहीं छापता। और दो हज़ार का संस्करण हो तो अढ़ाई-तीन महीने में बिक कैसे गया?

आज करतूत यह की कि रेलवे रसीदघर छोड़कर बरसते पानी में स्टेशन से पर्चों का पार्सल छुड़ाने चले गए। वहाँ जाकर बरसाती की ज़ेबें टटोलीं तो उसमें कुछ पैसे ही थे। लौटकर घर आए तो आर.आर. अपनी मेज़ पर रखी थी।

ख...ने लिखा था वीरवार पहुँचने को और अभी एक्सप्रेस तार आ गया कि नहीं, शनिवार को! खुदा!

प्रेमी के जाते ही रेडियो से पत्र मिला कि एक नया ड्रामा डिस्कस करने के लिए हम उनके दफ़्तर आएँ। पढ़ते ही पारा चढ़ गया। आज सुबह उन्हें लिख दिया कि हम ऐसे पत्र को सख़्त 'रिसेंट' करते हैं और कि यह रेडियोवालों का फ़र्ज़ है कि डिस्कस करने के लिए हमारे घर आएँ।

आमेन!

आज शायद इकत्तीसवीं बार (ख़ुदा जाने) फिर उपन्यास आरम्भ किया। इस बार पूरा करना ही चाहिए।

जालन्धर : 11-9-58

आज न...के विवाह का निमन्त्रण पत्र आया। उ...के नाम से बधाई का पत्र लिख दिया। कल 'जानवर और जानवर' की प्रति भेंट के रूप में रजिस्टर्ड पोस्ट से भेज देंगे।

आज स्टेशन डायरेक्टर D. K. Sengupta को एक व्यक्तिगत पत्र भी लिख दिया और यह भी स्पष्ट कर दिया कि in want of an apology, I won't contribute anything to the A.I.R., Jullundur.

दिन भर ख़ूब जमकर काम किया।

जालन्धर : 14-9-58

डायरी न लिख पाने का एकमात्र कारण था मानसिक व्यस्तता। इस तरह डूबकर मैंने कभी काम नहीं किया जिस तरह इन दिनों उपन्यास का काम किया है। मुझे विश्वास है कि यह उपन्यास अवश्य पूरा होगा।

इस बीच स्टेशन डायरेक्टर से apology का पत्र आ गया—बशीर बट, जिसका वह ड्राफ्ट था व्यक्तिगत रूप से apology के लिए आया—बात गई आई हो गई।

ख...आई थी कल—उसकी भावना के सामने सचमुच नतशिर हो जाता हूँ— इतनी सहिष्णुता—ऐसा त्याग—She is a real woman!

और आया शीला का पत्र—बाहर पता बनावटी हैंड-राइटिंग में था—पत्र की भाषा लगभग वैसी ही थी जैसी कभी-कभी पश्चाताप के क्षणों में उसने आख़िरी दिनों में लिखी थी—मगर इस पत्र से पहली बार लगा कि इस पश्चाताप के मूल में वही रिएलाइज़ेशन भी है—मगर सिवाय मौन रहने के कर क्या सकता हूँ?

A.L. Khatib ने किसी जयरतन का किया हुआ 'आर्द्रा' का जो अंग्रेज़ी अनुवाद ढाका से भिजवाया, वह सचमुच बहुत अच्छा लगा।

कल 'कहानी क्यों लिखता हूँ?' इस सम्बन्ध में एक वार्ता लिखी थी, जो आज पढ़ आए। उससे पहले डॉ. मदान के साथ न...के ब्याह पर गए थे—वहाँ कोई हमारा परिचित नहीं था, इसलिए दोनों आदमी लौट आए।

जालन्धर : 15-9-58

दिन भर सिर्फ़ काम किया।

सोचता हूँ, अपने घर की आरम्भिक कहानी 'घराना' शीर्षक एक उपन्यास में लिपिबद्ध करूँ—यह बात इसलिए दिमाग़ में आई कि आज दीदी के आने की सूचना आई है—वह अगले इतवार को आएगी—पन्द्रह-सोलह बरस बाद! पहले सोचा कि उसके चरित्र पर एक अच्छी-सी कहानी लिखूँ—मगर कहानी में उसका चरित्र ठीक से प्रस्तुत न होगा!...ख़ैर!

जालन्धर : 16-9-58

ख़ूब तेज़ हवा और उड़ते हुए बादल। ऊपर गहरी घटा जैसे स्थिर है और नीचे से हल्के-हल्के पारदर्शक से बादल, सफ़ेद और सुरमई, उड़े जा रहे हैं—जैसे एक यवनिका हट रही हो और दूसरी यवनिका खुल रही हो! ये क्षण कितने सुन्दर हैं? स्पर्श—रूप—ऐसे क्षणों में अपना जीवित होना कितना सार्थक प्रतीत होता है?

कितना विचित्र है—ऊपर की गहरी घटा भी धीरे-धीरे चल रही है—उसके नीचे कुछ गहरे हल्के बादल हैं, वे भी चल रहे हैं, उसके नीचे हल्के-फुल्के टुकड़े हैं, ये भी चल रहे हैं—पर तीनों की गति अलग-अलग है। घटा मन्थर है, बीच के बादलों की गति सहज है और नीचे के बादल मलमल के आँचल की तरह उड़े जा रहे हैं। और सबकी दिशा अलग-अलग है। घटा दाईं ओर जा रही है, बीच के बादल पीछे की ओर और ये कूदते हुए हरिण शावक बाईं ओर—यहाँ से वहाँ तक हवा के कितने स्तर हैं?

व्यक्ति क्या है? केवल एक छोटी-सी घटना। सब व्यक्ति छोटी-छोटी घटनाएँ हैं। जीवन के सन्दर्भ में कभी-कभी एक छोटी-सी घटना भी बहुत महत्त्वपूर्ण हो उठती है—यही बात व्यक्ति के साथ होती है। व्यक्ति का एकान्तिक महत्त्व कुछ भी नहीं है—वह केवल किसी-न-किसी सन्दर्भ में ही महत्त्वपूर्ण होता है। इसलिए 'जीनियस' और 'चुने हुए व्यक्ति' का सारा दम्भ निराधार और निरर्थक है। हर मनुष्य—यदि उसकी सम्भावनाएँ पहचानी जा सकें।—तो किसी न किसी रूप में, या किसी न किसी

क्षेत्र में जीनियस होता है। जीवन का सन्दर्भ यदि उन सम्भावनाओं को प्रकट होने का अवसर नहीं देता तो वह व्यक्ति ठूँठ, अनपढ़, असभ्य, ओछा—कुछ भी बना रह सकता है। और अनुकूल सन्दर्भ उसे एक समय की संचालक शक्तियों में से एक भी बना दे सकता है। यूँ मनुष्य की योग्यता के स्तर हो सकते हैं—उसकी कर्मशक्ति के भी स्तर हो सकते हैं। परन्तु स्तर स्तर का भेद उतना बड़ा नहीं होता, जितनी व्यक्तियों की जीवन के सन्दर्भ में स्थिति देखकर अनुमान होता है। कई बार जीवन का सन्दर्भ और व्यक्ति का प्रयत्न उसे उसकी योग्यता के स्तर से कहीं ऊँचे स्तर पर पहुँचा देता है—परन्तु न यह विस्मित होने की बात है न भाग्यवादी बनने की। भाग्य एक ही है—और वह सारी मानवता का सामान्य है—समय की गति के अनुसार जीवन में होने वाले अनिवार्य परिवर्तन ही मनुष्य का भाग्य है। व्यक्ति का भाग्य कुछ नहीं है—इसे केवल एक साधारण घटना से मिला हुआ अनुकूल प्रतिकूल या उदासीन सन्दर्भ ही कह सकते हैं। और वह सन्दर्भ स्वतः घटना है। इसलिए मनुष्यों में कोई बड़ा कोई छोटा नहीं है—केवल पद और अर्थ की दृष्टि से ही नहीं—अन्तर्हित योग्यता और मानवीय गुण की दृष्टि से भी!

जालन्धर : 17-9-58

जैसे ये दिन बीत रहे हैं, सारी ज़िन्दगी ही ऐसे बीते तो कितना अच्छा रहे? व्यस्त रहना—मन का काम करना और मन से करना—अपनी ही प्रभुता और अपने ही शासन में चलना—कितना अच्छा लगता है? यह आन्तरिक व्यस्तता ही शायद जीवन है—यही सबसे बड़ा सुख है।

सोने से पहले एक रेडियो नाटक का synopsis लिखना चाहता हूँ, नहीं बन रहा। दो घंटे हो गए सिर पटकते, बनता ही नहीं।

जालन्धर : 18-9-58

आज उसके न आने से एक और स्थिति स्पष्ट हो गई।

दिन ऐसे ही गया। 'डोरियाँ' शीर्षक से एक नाटक का synopsis तैयार किया। कुछ पर्चे-अर्चे चैक किए। आज जितेन्द्र ने बताया कि आगामी वर्ष से सब तरह के परीक्षकत्व से भी अपना पत्ता कट गया है। यह भी छुट्टी हुई। मतलब इस अप्रैल से विशुद्ध रूप से मसिजीवी रह जाएँगे!

कल रात की नींद दिन-भर बुरा हाल किए रही। आजकल न अन्दर सोते बनता है, न बाहर। क्या करें?

जालन्धर : 19-9-58

सवेरे पुनः उपन्यास के कुछ पन्ने लिखे—कुछ पन्ने रिवाइज़ किए। दोपहर को बंसल आया—उसने जो लिस्ट दी, उससे स्पष्ट है कि अपना नाटक इस बार नहीं लगेगा।

दो बजे ख...के यहाँ चला गया। चार घंटे वहाँ बैठा—बहुत-सी बातें जो उससे कहना चाहता था, कह डालीं—मन खुल गया।

अब जोशी साहब तशरीफ़ ले आए हैं—इसलिए न काम होगा, न डायरी लिखी जाएगी। क्या होगा? पिक्चर देखेंगे।

तोबा!

इन्सान हर एक से चालाकी कर ले, मगर अपने साथ तो चालाकी नहीं कर सकता। So, one has got to be honest. There is no other way–absolutely no other way!

जालन्धर : 20-9-58

केवल तीन पन्ने लिखे—मगर उपन्यास का बहुत-सा अंश रिवाइज़ कर डाला। परिणाम यह है कि जितना हिस्सा लिखा है, वह दोबारा लिखना या टाइप करना पड़ेगा।

दिन काम करने से ही बीत गया केवल शाम को थोड़ी देर बाहर घूम आया।

दादी माँ के आने की पहली सूचना नहीं आई। फिर भी आशा है कि कल वह आएँगी।

राजपाल एंड संज़ के पत्र से यह जानकर कि 'आषाढ़ का एक दिन' का पहला संस्करण उन्होंने 1000 का छापा था, क़दरे निराशा हुई।

जालन्धर : 23-9-58

दादी माँ इतवार को घर आ गई। परिवार के जीवन में इस घटना का बहुत महत्त्व है। दादी माँ के आ जाने से मुझे अपना-आप और घर अपेक्षया भरा हुआ प्रतीत होता है। इतने बरस जो दुराव रहा—उसके लिए दोषी सभी हैं—वह भी, हम भी। परन्तु अब यह निकटता बनी रहे—वह अपने घर में ही अन्तिम दिन तक रहे—यह हृदय से चाहता हूँ।

तीन दिन दो रातें बातों में ही बीतीं। दादी माँ वर्षों के क़िस्से सुनाती रहीं। कभी हँसे, कभी रोए, कभी उदास हुए और कभी पेचताब खाए। प्रकटतः तायाजी और उनके परिवार ने हमारे सम्बन्धों को तोड़ने में कितना बड़ा पार्ट प्ले किया है? उस परिवार की छोटी और कमीनी हरकतों की वजह से ही हम लोग बरसों इस तरह

दूर-दूर रहे। आज इतने बरसों के बाद महसूस हो रहा है कि यह पिताजी का ही परिवार है, उन्हीं का घर है—वही वातावरण आंशिक रूप से भी लौट आए तो 'घर' में जो 'घर' का अभाव था, वह किस हद तक भर जाएगा?

काम न कर पाने का खेद नहीं—ये दिन—माँ के साथ बात करते हुए इस तरह बीते कि और सब कुछ गौण हो गया। अब कल से पुनः योग साधना आरम्भ करेंगे—"योगः कर्मसु कौशलम्!"

जालन्धर : 26-9-58

कल उ...आई थी, न...के ब्याह की मिठाई लेकर। कल ही ख...ने बताया कि शीला देहरादून के कॉलेज में प्रिंसिपल नियुक्त होकर गई है। रात को नरेन्द्र ने अपने और स्वर्ण के झगड़े का क़िस्सा सुनाया—उसने बताया कि टैंशन अब क्लाइमेक्स तक पहुँच चुकी है। डेढ़ घंटा उसके साथ एवरेस्ट में बैठा रहा। इस शख़्स की स्थिति देखकर बहुत दुख होता है। It is far worse than mine.

उसने बताया कि इस बार वह किताबें उठाकर घर से चली गई थी। फिर दफ़्तर में चली आई थी कि अभी मेरे साथ फ़ैसला करो। उसने बताया कि कारण आर्थिक तो है ही, साथ यह भी है कि वह जल्दी अपने एक बच्चा चाहती है, और वह इससे बचना चाहता है क्योंकि उस स्थिति में तो खाना-पीना तो हराम होगा ही, 'She will die of T.B.'

कल ही अमृतसर से दो अपरिचित व्यक्ति मिलने आए थे। मैं घर पर नहीं था। दादी माँ अपने ही अन्दाज़ों में खो रही थीं। Somehow the talk of this subject makes me sad.

दादी माँ के स्वभाव में 'बेसिकली' आज भी अन्तर नहीं आया है। अम्माँ के प्रति उसके भाव में आज भी स्नेह और विश्वास नहीं है। उसके लिए अम्माँ जो कुछ भी करती है, उस किए में कुछ दोष ढूँढ़ने को नहीं मिलता, यह भी सम्भवतः उसे अच्छा नहीं लगता। वह ऐसा कोई कोना नहीं पाती जहाँ वह assert कर सके, अपनी supremacy सिद्ध कर सके। इसमें उसे हीनता लगती है। अभी तो सब बातें ऐसी हो रही हैं कि वह शिकायत कर ही नहीं सकती। मगर जब यह लौटकर अमृतसर जाएगी तो निःसन्देह बहुत कुछ ऐसा होगा जिसकी वह शिकायत करेगी। इस बार शायद न भी करे—क्योंकि उसकी शिकायतों के मुख्य भाजन इस बार तायाजी और उनका परिवार हैं।

जालन्धर : 28-9-58

तीन दिन से वर्षा ही नहीं थमती। लगभग वैसी ही स्थिति हो रही है जैसी सितम्बर-अक्टूबर सन् 55 में हुई थी। छोटी-छोटी वर्षा–लगातार। इस बार फिर मकान-अकान गिरेंगे।

कल एक कहानी 'गुनाहे बेलज़्ज़त' के पीछे पड़े रहे। आज पूरी करने का प्रयत्न करेंगे।

कहानी पूरी नहीं हुई। दिन में पुरुषोत्तम और उसका एक मिलनेवाला आ गए। 'Madame Bovary' देखने चले गए। Jennifer Jones की performance बहुत अच्छी थी।

दादी माँ से देर तक बातें हुईं। अब रात काफ़ी हो गई है, आँखें भारी हैं सोएँगे।

जालन्धर : 29-9-58

आज कहानी 'गुनाहे बेलज़्ज़त' पूरी हो गई। एक नई कहानी की रूपरेखा भी बन गई।

शाम को पांडे, बशीर और प्राण चाय पीने आए थे। उसी समय म...भी अपने cousin के साथ आ गई। वह कुछ nervous और excited लगती थी। कमरे से निकलते हुए उसने पीछे से चिकुटी काट दी। दो-चार मिनट में ही वह चली गई।

दादी माँ से बदस्तूर बातें होती रहीं पर आजकल उतना ख़ाली-ख़ाली नहीं लगता।

नींद से बुरा हाल है।

जालन्धर : 30-9-58

दिन-भर वर्षा रही। दादी माँ को जाना था, वह नहीं जा पाई। शाम को साढ़े चार-पाँच के क़रीब उ...आई–डेढ़-दो घंटे देर से। विशेष बात नहीं हो पाई।

घूमने निकला तो सड़क पर पानी-ही-पानी था। मॉडल टाउन में ही इधर-उधर घूमकर लौट आया।

देर तक दादी माँ के पास बैठकर क़िस्से-कहानियाँ चलती रहीं।

जालन्धर : 1-10-58

दिन-भर मन बहुत परेशान रहा। सुबह भी बारिश थी। नए अरेंजमेंट के अन्तर्गत आज पढ़ाने जाना था। दादी माँ का आज जाने का प्रोग्राम बना था। अम्माँ उन्हें छोड़ने चली गईं–मैं कॉलेज चला गया।

इतने अर्से के बाद उस चहारदीवारी में प्रवेश करके बहुत विचित्र-सा लगा। मन ने बहुत रिवोल्ट किया। दफ़्तर में जाकर पता चला कि क्लास बारिश की वजह से चली गई है। लौटकर आते हुए रिक्शा में तबीयत अज़हद परेशान थी। यही निश्चय किया कि यह झंझट जैसे भी हो छोड़ देना होगा। I find it absolutely impossible to put up with it. It is real torture.

घर आने के बाद ही सोचा कि डॉ. मदान से सारी बात करके ख...के यहाँ चला जाए। खाना खाकर डॉ. मदान के यहाँ गया। उनके घर के बाहर एक-एक फुट पानी खड़ा था। लौट आया। चार बजे के क़रीब दूसरी बार गया। पानी में से गुजरकर अन्दर पहुँच गया। तभी प्रोफ़ेसर (प्रिंसिपल) डोगरा भी आ गए। दो घंटे बैठा रहा, प्रो. डोगरा स्त्री-पुरुषों के अंगों और सम्बन्धों की बातें करते रहे—आख़िर वहाँ से उठ आया।

घर आकर कमरे में टहलता रहा। सोचा ख...के यहाँ चला जाऊँ—मगर यह सोचकर रुक गया कि काफ़ी देर हो गई है और कल तो सम्भवतः वह आए ही।

नरेन्द्र आ गया। उससे सारी बात कही। निश्चय किया कि एक बार फिर डॉ. मदान को पत्र लिखूँ।

जालन्धर : 2-10-58

सुबह उठकर जितेन्द्र के साथ डॉ. मदान को पत्र भेजा कि जैसे भी हो मेरा त्यागपत्र ले लें—मेरे लिए कॉलेज एक दिन के लिए भी जाना टार्चर है।

मगर फिर वही इतिहास। दोस्ती का वास्ता, प्रेस्टिज की रक्षा का प्रश्न—और अन्ततः वही पुराना अरेंजमेंट। Now I have to go through this period of six months somehow or the other.

बाद दोपहर रमी और फ्लाश खेलते रहे। सात बजे ख...के आने की बात थी। उसके न आने से सिर बहुत भन्नाया।

खाना खाकर काम किया जाए।

जालन्धर : 30-10-58

उपन्यास के तीन पृष्ठ टाइप किए। दिन रुटीन में बीत गया।

जालन्धर : 5-10-58

रोज़नामचा वगैरा कुछ नहीं।

कल ख...के आने पर पहले जड़ता कुछ बढ़ी, फिर दूर हो गई।

आज दिन-भर खाया और घर में टहला किए।

अभी टाइप करने बैठे तो बारह-चौदह पंक्तियों से आगे नहीं बढ़ सके।

सिर भारी—ज़ुकाम का अल्टीमेटम।

डॉ. मदान ने बताया कि इन्हीं दिनों म...की बड़ी बहन की शादी है।

सुबह पढ़ाने जाएँगे।

आज कुछ देर सोचा कि ज्ञान क्या चीज़ है। क्या वास्तव में आरम्भ से उसके दिल में जैलैसी की भावना रही है?

जालन्धर : 6-10-58

आज कॉलेज गए और एक पीरियड पढ़ा आए।

दिन में कुछ लिखा, कुछ सोए। शाम को घूम लिया और विरक के यहाँ बैठे रहे।

दोपहर को 'सुहागिनें' शीर्षक कहानी का synopsis लिख डाला।

बस इतना ही किया।

जालन्धर : 8-10-58

कल ख...ने जो बात बताई, उससे बहुत दुःख हुआ। उसे यह ख़्याल क्योंकर हुआ कि यह बात मेरे source से निकली होगी?

...घर आने पर नरेन्द्र आया हुआ था। कुछ देर उससे बातें होती

रात को 'सुहागिनें' शीर्षक कहानी लिखना आरम्भ किया।

अभी-अभी रेडियो पर सुना कि प्रेसीडेंट इस्कन्दर मिर्ज़ा ने पाकिस्तान का विधान भंग कर दिया है तथा प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारें तोड़ दी हैं और देश में मार्शल लॉ लागू कर दिया है। स्थल सेना के सेनापति मार्शल लॉ के मुख्य संचालक नियुक्त हुए हैं।

अम्माँ से कहा कि पाकिस्तान में इतनी बड़ी उथल-पुथल हो गई है तो उसने एक हल्की-सी 'अच्छा' के बाद कहा "काढ़ा अभी रख दूँ कि शाम को पिएगा?"

मुझे हँसी आ गई।

जालन्धर : 12-10-58

आठ की शाम को अश्क और कौशल्या भाभी आ गए—और जैसा कि हुआ करता है—बैठने की फुर्सत भी नहीं मिली। वे लोग आज चंडीगढ़ चले गए। वहाँ से शिमला होते हुए वे 19-20 के क़रीब लौटेंगे।

कौशल्या भाभी की नेचर में बहुत contradiction है। एक तरफ़ तो वे इस तरह पिघलती हैं जैसे जान ही दे डालेंगी और दूसरी तरफ़ इस तरह सख़्त होती हैं जैसे कहीं कोई कोमलता हो ही नहीं।

उमा के आने से पहले और उसकी वेद आंटी के आने की बात को लेकर भाभी ख़ामख़ाह सख़्त हो उठी थीं। उस परिवार का प्रकरण उठने पर उन्हें लगता है कि अश्क जी उनके प्रति sympathetic नहीं हैं—उन्हें उनकी उपस्थिति अखरती है—और कि वे स्वयं समझती हैं कि इसमें उनका अपराध है, इत्यादि। मुझे उमा का व्यवहार, उठना, बैठना, बोल-चाल, सब कुछ स्वाभाविक और 'ग्रेसफुल' लगा—उस लड़की ने छोटी होती हुए भी कोई छोटी बात नहीं की। इसके विपरीत भाभी सबकुछ करती हुई भी अपने मन में कसी रहीं, कुढ़ती रहीं। उन्हें उमा की बातों में अतिरिक्त मतलब और उसके व्यवहार में coldness महसूस होती थी। graceful व्यवहार भी कई बार कितने ज़बर के साथ किया जाता है, भाभी इसका 'टिपिकल एक्ज़ाम्पिल' हैं। भाभी की इस मनःस्थिति पर कई बार तरस भी आता है।

परसों-अतरसों म...अपनी बहन के ब्याह का कार्ड देने आई थी। आज वीणा कश्मीर मेल से गुज़र कर चम्बा गई। सबेरे उठकर स्टेशन पहुँच गया था। आज बस स्टैंड पर सहसा पद्मा खुराना से भेंट हो गई। वह उ...के ब्याह पर चंडीगढ़ जा रही थी। इस बीच सदानन्द अपने और अपने मित्र श्यामलाल के परिवार के साथ मिलने आया।

कई दिनों की चहल-पहल के बाद आज घर ख़ाली और वीरान लगता है। कल से फिर कुछ दिन चक्की पीसो!

Somesh came this afternoon. There is something in the speech and manners of this man that irritates me.

रात को अनेकानेक कीड़े पढ़ना-लिखना-जीना हराम कर देते हैं। इन्सान करे तो क्या करे?

पाकिस्तानी coup de tat की continuity में कल ख़ान अब्दुल गफ्फार ख़ान भी गिरफ़्तार हो गए। इससे स्पष्ट है कि ऊँट किस करवट बैठेगा।

जालन्धर : 14-10-58

कल से कहानी 'सुहागिनें' पूरी करने के पीछे पड़े हैं। कहीं गए नहीं, यहीं घूम लिए। परसों से सिगरेट पीना भी छोड़ रखा है।—इसके अलावा अभी और भी कटौतियाँ करनी होंगी।

जालन्धर : 15-10-58

थकान।

जालन्धर : 16-10-58

आज 'सुहागिनें' शीर्षक कहानी पूरी रिवाइज़ भी कर डाली। शायद कहानी बुरी नहीं है।

कल नरेन्द्र से देर तक कौशल्याजी और उमा के बारे में बात हुई। मुझे खुशी है कि दोनों के बारे में जो मेरी राय है, वही नरेन्द्र की भी है। उमा में सचमुच इस छोटी-सी उम्र में वह maturity है जो आश्चर्य में डाल देती है। नरेन्द्र ने बताया कि चंडीगढ़ से part होते समय जैसे वह हँसी और अश्क के गले से लिपट गई—फिर कौशल्या की कमर में बाँह डाले हुए उसे बस की ओर ले गई। जब कौशल्या जी ने कहा कि वह दिसम्बर में इलाहाबाद कैसे आएगी, अश्क तो तब बाहर गए होंगे; तो उसने कहा पापा जी न सही, मम्मी तो वहाँ होंगी। कौशल्या ने earrings उसे दे दीं, तो 25/- देने का इरादा बदल दिया। फिर भी 10/- वे देने लगीं तो उमा ने कहा कि अभी मेरे पास पैसे हैं, मैं किराया लेकर आई हूँ।

नरेन्द्र का कहना था कि उसने उमा के गले लगने पर अश्क के चेहरे पर जो मुस्कुराहट देखी, वह जीवन-भर पहले कभी नहीं देखी—It was true happiness. फिर उमेश के अभिनयपूर्ण जीवन की बात हुई—कैसे वह कौशल्याजी के प्रति भी कोमलता का अभिनय करता है—उस घर में हर आदमी दूसरे को at arm's length रखकर जीता है—पुत्री अपनी जगह great है, उमेश अपनी जगह, अश्क अपनी जगह और कौशल्या अपनी जगह—नरेन्द्र ने कहा—"As if everybody is struggling for existence in a hostile camp. This can't fit in there. That's why I feel uncomfortable there."

सचमुच इस लड़की को यदि पिता का प्यार और वह सुविधा न मिली जिसकी वह अधिकारिणी है तो यह एक बहुत बड़ी ट्रेजेडी होगी।

कल रेडियो स्टेशन पर श्री जगदीशचन्द्र माथुर से भेंट हुई। He seems to be a nice person. कल रेडियो के सांस्कृतिक कार्यक्रम में बुलगानिनवाला skit मुझे बहुत अच्छा लगा।

आज शाम बहुत अच्छी बीती। कुछ भी लिख लेने पर एक बहुत स्वाभाविक-सी खुशी होती है। ज़िन्दगी में ज़रा-सा balance और हो तो मैं कितना-कितना काम कर सकता हूँ?

जालन्धर : 19-10-58

'सुहागिनें' शीर्षक कहानी में कुछ हेर-फेर करने में दो दिन निकल गए।

कल दिन में दीनानाथ (राजपाल एंड संज़) के आने पर दो घंटे प्रकाशन-लेखन सम्बन्धी गपशप होती रही।

दोपहर को वीणा का पत्र मिला। उसने चम्बा आने को लिखा था। पढ़कर काफ़ी देर असमंजस में पड़ा रहा। अश्क और कौशल्या जी शायद रात को आएँगे। कौशल्या भाभी का हठ था कि उनके साथ दिल्ली ज़रूर चलूँ।

आख़िर झूठ का आश्रय लेने की सोची। एक बड़ा-सा बहाना बनाकर आज निकल चलें—भाभी नाराज़ होंगी तो सँभाल लेंगे।

दो बजे की बस से पठानकोट के लिए रवाना होंगे। रात वहाँ रहकर कल आगे चलेंगे।

कहते हैं, अक्टूबर में चम्बा बहुत सुहाना होता है।

जालन्धर : 28-10-58

फिर वही भुतहा घर। अम्माँ के और अपने अस्तित्व की रेखाएँ कहीं-कहीं ही तो मिलती हैं। नहीं, वह अपने में बन्द, अपनी जगह और मैं लिखता, पढ़ता, सोचता अपनी जगह।

...वे गहन आत्मीयता के पाँच दिन मुझे कभी नहीं भूलेंगे। जैसे सचमुच वह रस की वर्षा थी और मैं भीग रहा था। जैसे वह घर ही घर था—और सब तो मकान हैं—ख़ाली, सूने, निःस्पन्द!

काश कि मैं वहाँ कई सप्ताह, कई महीने रह पाता।

सुबह बस स्टैंड पर साधारण औपचारिक-सी विदा लेकर चला आया। मगर ज्यों-ज्यों बस आगे बढ़ती गई, मन और भीगता गया। बस में स्नॉरडन, शिमला, में दाई की परीक्षा देने जानेवाली बारह-चौदह लड़कियाँ भी सफर कर रही थीं। एक लड़की बार-बार उचककर बाँह को अपने वक्ष से छू देती थी, इसलिए काफ़ी देर मन की प्रवृत्ति दूसरी ओर रही—मगर वह आप्लावन, वह फुहार में नहाकर निकलने की अनुभूति बनी रही।

पुरुषोत्तम और सोमेश की वजह से एक दिन पठानकोट रुककर कल घर पहुँचा। आते ही पता चला अश्क-दम्पति बहुत नाराज़ होकर गए हैं। इन दोनों मियाँ-बीवी के चिड़चिड़ेपन का कोई हल नहीं। इनकी आँख किसी के किए पर नहीं जाती, न किए पर ही जाती है। मन बहुत क्षुब्ध हुआ।

कई काम रुके पड़े हैं। कल चंडीगढ़ जाने को मन नहीं होता। मगर सोचता हूँ कि अब कहा है तो जाना ही चाहिए। फिलहाल दिल्ली जाने का मन नहीं।

वीणा को बहुत लम्बा-लम्बा पत्र लिखना चाहता था। मगर दो पन्ने लिखकर ही रह गया। लगा कि जो लिखना चाहता हूँ, उसे पन्ने-के-पन्ने लिखकर भी नहीं लिख पाऊँगा। और शायद 'लिखने' की ज़रूरत भी नहीं है।

अब मुझे अपने बुढ़ियाने की बात सुनकर भी दुःख नहीं होता। केवल एक डर लगता है। कल को यदि कोई कारण इस भाव को भी बदल दे...?

इन दुष्कल्पनाओं में पड़ने में क्या रखा है?

रात एक सपना देखा।

एक कमरा था। कोने में देव बख़्शी खड़ा था। ज्ञान एक बियर का मग और बोतल लिए हुए दाख़िल हुआ, और आरामकुर्सी पर बैठकर नशे में बकने लगा। मैं उसके सामने खड़ा था। पहले उसने आधा मग मेरे चेहरे पर उँड़ेल दिया। फिर शेष बियर और मग दीवार पर मारकर तोड़ दिए। फिर बोतल मेरे माथे पर दे मारी। मैं खड़ा रहा। बख़्शी उसे डाँटने लगा। ज्ञान उठा और आकर मुझसे लिपट गया। बोला, मैं दो बार तुम्हारे घर हो आया हूँ। मेरी आँखें भर आईं।

आँख खुली तो मैं रो रहा था।

घर बहुत सूना-सूना लगता है।

जीवन का क्या एडजस्टमेंट होगा, कुछ समझ में नहीं आता।

2-11-58

रात मन बहुत उदास था। मगर उदासी तो स्वाभाविक है। शायद न उदास होना ही इन दिनों अस्वाभाविक है।

4-11-58

थकान, नींद, उदासी। पेट ठीक नहीं, पीठ में दर्द है। दो रातें हो गईं, नींद ठीक से नहीं आई। आज आएगी क्या?

आई नीड ए होम। Shall I ever have it?

जालन्धर : 5-11-58

रमेश ने लिखा है उन्हें 'रंगमंच' की ओर से 'आषाढ़ का एक दिन' का अभिनय करने के लिए यू. पी. गवर्नमेंट से 300 रु. ग्रांट मिली है और अन्य सुविधाएँ भी मिलेंगी। वे शायद मध्य दिसम्बर में नाटक प्रस्तुत करें। जानकर बेहद खुशी हुई... मगर क्या मैं स्वयं performance देखने जा पाऊँगा?

वीणा का पत्र।

"मौसम बहुत स्निग्ध और 'वार्म' है। गिरती दीवारें ख़त्म हो गई हैं।"

"...और क्या कर सकती हूँ तुम्हारे लिए?"

मन अभिभूत हो गया, कल्पना भी नहीं करना चाहता कि यह स्नेह मुझसे छिन जाएगा। कभी-कभी डर लगता है...सचमुच स्नेह का तन्तुजाल कितना कोमल होता है। यह चारों ओर से छा लेता है, फिर भी यह अनुभव नहीं होने देता कि उसने तुम्हें घेरा है, बल्कि यह भी नहीं महसूस होने देता कि उसने तुम्हें छुआ है।

अपना अस्तित्व हल्का लगता है। अभाव बड़े हैं, परन्तु उनके प्रति भी ममता उमड़ती है। आह! आज का यह अभाव बीते हुए कल के भाव की अपेक्षा कितना मधुर और स्निग्ध है, कितना कोमल और निजी है।

यह ऐसा अभाव है जिसे खोने में भी डर लगता है! ओह!

जालन्धर : 8-11-58

अक्सर कई-कई दिन कुछ न लिखना आदत-सी होती जा रही है। क्यों इतनी थकान रहती है?

कई बातें लिखना चाहता हूँ—कमल और सत्येन्द्र के विषय में; राजेन्द्र यादव के विषय में; नरेन्द्र के साथ हुई Boris Pasternak सम्बन्धी बातचीत के विषय में—मगर सिर इजाज़त दे तो न।

कितने अकेले-अकेले से दिन निकलते हैं। कब सोचा था कि ऐसी भी ज़िन्दगी व्यतीत करेंगे!

घड़ी की टिक्-टिक्-टिक्-टिक्-टिक्-टिक्-टिक्-टिक्—ऊँह!

जालन्धर : 11-11-58

घूमकर आया तो रास्ता चलना कठिन हो गया। चेतना रात की रानी की गन्ध से लद गई। कितना बोझीला नशा था। जैसे ढेरों पंखड़ियों में ढक गए हों। घर में दाख़िल होकर भी वह नशा बना रहा।

गन्धमादन पर्वत क्या था?

क्या वहाँ रात की रानी ही नहीं खिली रहती थी?

मन कहता है, इन फूलों का आसव भी ज़रूर होता होगा। कितना गहरा उतरता होगा वह नशा?

और मुझे इन दिनों दूसरा भी नशा है—उपन्यास लिखने का।

जालन्धर : 12-11-58

1. उपन्यास लेखन
2. कमरे में चहलक़दमी
3. भोजन
4. मध्याह्न शयन
5. सम्भाषण
6. जम्हाइयाँ
7. पत्र लेखन
8. झपकियाँ
9. निद्रा

इति

दिवसारम्भ से दिवसान्त तक की चर्चा समाप्त हुई।

...हिमालय जिसने अनन्त विचारों को जन्म दिया है, क्या उस समुद्र से कम महान है जिसके प्रति वे सब निर्झर समर्पित हैं?

...अपनी विस्मृति ही जीवन का रहस्य है, दूसरे की प्रतिभूति नहीं।

...सम्बन्ध तो संयोग है, चांस है, एक घटना है। उसे पुरानापन छा लेता है। नित्य नूतन अपना काल है, जो घटना नहीं, चांस नहीं, संयोग नहीं।

जालन्धर : 22-11-58

अब तक उपन्यास फिर से जितना और जैसे लिखा था उससे सन्तोष नहीं हुआ। इसलिए अब फिर से आरम्भ करेंगे! फिर से—ओह! कितने हज़ार बार मैं फिर से आरम्भ करूँगा?

और सुबह ही मिला था वीणा का पत्र। उसने बड़े लाइट मूड में लिखा था। बहुत अच्छा लगा। उसी समय उत्तर दे दिया। मगर उसी समय से मन उखड़ा-उखड़ा-सा है। मन होता है कि मैं भी वहीं होऊँ—घूमूँ, लिखूँ, गप करूँ, चाय पियूँ! क्यों मैं यहाँ जकड़ा हुआ हूँ? क्या यह जकड़ मुझे जीने देगी? मुझसे कुछ भी तो नहीं हो पाता। आई फील सो लोनली एंड सो डेज़र्टेड—जैसे ज़िन्दगी की लड़ी से टूटकर अलग पड़ा हुआ हूँ! इस उद्‌भ्रान्त मनःस्थिति में इन्सान करे तो क्या करे!

जालन्धर : 23-11-58

कल न...का पत्र आने पर खुशी भी हुई थी—मन बाद में उदास भी रहा। रात को भी बेचैनी रही—नींद ठीक से नहीं आई।

आज अभी-अभी ख़ूब रोया। माँ ने रोटी खाते समय कह दिया कि उसका शरीर शिथिल होता जा रहा है, अन्दर से अपना-आप ढीला-ढीला-सा लगता है! न जाने इन शब्दों का क्या असर हुआ कि अचानक होंठ फड़कने लगे—और अगले ही क्षण मैं बच्चों की तरह होंठ बिसोरकर रोने लगा। माँ ने छाती से लगाया, क़समें खाईं कि उसे कुछ नहीं है, वो तो यूँ ही कह रही थी, मगर बहुत देर रोना नहीं रुका।

"मैं इतनी जल्लाद हूँ कि अपने बच्चे को तकलीफ़ में छोड़कर मर जाऊँगी?" माँ कहती रही। "नहीं बेटे, मुझे कुछ भी नहीं है। मैं बिल्कुल ठीक हूँ। कभी हवा का दौरा हो जाता है, और कुछ नहीं। तू चिन्ता मत कर। मैं क़सम खाती हूँ जो मुझे कुछ हो। तू विश्वास कर मुझे कुछ नहीं हो सकता। मैं मरकर अपने बच्चो को दुखी करूँ—मैं माँ हूँ कि कौन हूँ? तू मेरा मरी का मुँह देखे जो दिल ख़राब करे—।"

जालन्धर : 24-11-58

तो आज रिसर्च स्कॉलरशिप से हमारा रेजिगनेशन स्वीकृत हो गया।

आज से वास्तविक संघर्ष का दौर शुरू होता है। आई एक्सेप्ट दि चेलेंस ऑफ़ लाइफ, आई बिलीव देट आई शैल नॉट फेल।

पहला काम यह किया कि न...को 'एक्सप्रेस टेलिग्राम' दे दिया। कल तक उसका जवाब मिल जाना चाहिए।

दिन में ख़ूब घूम लिया, इस समय सिर थका है और नींद आ रही है।

जालन्धर : 26-11-58

कल रात—

डॉ. मदान ने खाने पर बुलाया था।...बहुत-बहुत बातें हुईं। He said he was hopeful of resolving the matter. He would call her in the morning and have a straight talk,

I did not sleep at night.

He came at 12 in the morning and said that he could not send the messages as Sudarshan came to see him at two and took two hours talking of her woe. He said he would go himself in the evening.

It is 2 p. m. now and the time does not seem to move at all. What shall I do?

I believe his confidence is misplaced. I believe that he can do nothing in the matter. I believe that it is only going to leave some further bad taste in my mouth. I believe that the part of me that has broken already will suffer another blow. The two days that I wanted to spend arranging my matters, will now be spent in idle torture from which it is not easy to escape.

My bitterness is further enhanced because N... has not written back. She may not write back at all. What nonsense this emotional relationship is? You do not know when the mighty heights that you are so proud of might come crumbling down in a moment... It is simply inexplicable to me why she at least did not wire me to wait for her letter. This in fact is the crisis in human soul. She also probably is one of those individuals who are very bold in imagination and very cowardly in practice. But there was no boldness needed for this. I simply had asked if I could get accomodation for myself there. Why this silence over this?

जालन्धर : 4-12-58

इस बीच कितना कुछ हुआ।

27 को अमृतसर जाने का इरादा था—घर से निकलते हुए वीणा का पत्र मिल गया। कुछ और भी पत्र थे। प्लाज़ा जाकर नरेन्द्र की प्रतीक्षा की—वह समय पर नहीं आया। कोफ़्त हुई। अमृतसर जाने का इरादा छोड़ दिया।

नरेन्द्र के नाम एक लम्बा रुक्का लिखकर छोड़ा था। वह आज तक नहीं मिला। उस ओर से मन विक्षुब्ध है।

...29 को चंडीगढ़ चला गया। दोस्त मंडली में दो-तीन दिन बहुत अच्छे कटे। सेमिनार के बाद गाडगिल ने अगले रोज़ बुलाया। सुबह गया, बातें हुईं। सम्भव है हम लोग एक निश्चित वातावरण पैदा कर सकें।

सोचता हूँ, दिल्ली की बजाय चंडीगढ़ ही शिफ़्ट कर जाऊँ तो शायद अच्छा रहे! मगर...।

चंडीगढ़ रहते प्रादेशिक साहित्य संसद की स्थापना कर डाली। मित्र मंडली यही चाहती थी—सो आसानी से सबकुछ हो गया।

लौटकर दादी के ऑपरेशन की समस्या सामने आई। वह इतवार को ही आ गई थीं। मंगल को ऑपरेशन करा दिया।

मंगल की रात को वीणा आ गई। एक दिन पहले उसका तार आया था।

24 घंटे में बहुत-बहुत बातें कर डालीं।...

दि टाइम वाज़ स्पेन्ट ब्लिसफुली।

3 की रात को उसके जाने के समय एक घटना हो गई। 'रिफ्रेशमेंट रूम' में खाना खाते हुए उसकी बातों से पता चला कि सम्भवतः बन्दे के लेखकीय 'सेल्फ' से वह भी परिचित नहीं है।

पहले चोट लगी—फिर मन में कन्फ्यूज़न भर गया। वह जाने से पहले बहुत 'डिप्रेस्ड' हो गईं।

मुझे घर आकर 'गिल्ट सेन्स' रही।

चाहता था, उसे लम्बा पत्र लिखूँ कि उसे कुछ 'माइंड' नहीं करना चाहिए—मेरी भावना में कोई अन्तर नहीं आया—मगर कैसे लिखता?

एक संक्षिप्त-सा पत्र—फार्मल—लिख दिया।

अभी-अभी उसका दिल्ली स्टेशन से लिखा पत्र मिला।

मैं उसे कैसे विश्वास दिलाऊँ कि मेरी निगाह में उसके महत्त्व में ज़रा भी अन्तर नहीं आया।

जालन्धर : 14-12-58

उपन्यास के तीन चेप्टर लिख चुकने के बाद आज राकेश भाई फिर पहले पृष्ठ पर लौट आए। अगर यही हाल रहा तो राकेश भाई ज़िन्दगी में एक भी उपन्यास पूरा नहीं करेंगे, और जैसा कि स्वाभाविक है, भूखों मरेंगे।

...कल अम्माँ ने कितने भोलेपन से कहा था—तेरा उपन्यास ज़रा बड़ा हो जाएगा—इसे दो हिस्सों में छापना!

हाँ, क्षण भी महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि अनेक युग बीतकर उसका निर्माण करते हैं—क्योंकि उसे लाने के लिए कल्पों की सन्धियाँ टूटती हैं, इतिहास अनेक करवटें लेता है, भूगोल अपनी धुरिएँ बदलता है। हाँ, क्षण बहुत महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि जीवन की पूरी सार्थकता उसमें सिमट आती है—व्यक्ति के ही नहीं, एक समाज और एक समय की सारी सार्थकता!

परन्तु फिर भी क्षण, क्षण ही तो होता है—इतना छोटा, इतना क्षणिक उस सार्थकता को पा लो, या क्षण को बीत जाने दो, युगों को निरर्थक हो जाने दो, यह अपने पर ही तो निर्भर करता है! परन्तु यह चेतना ही क्या कम है कि—हमारे जीवन में भी वह क्षण एक बार आया था।

जालन्धर : 18-12-58

आज वीणा के आने पर फिर तीन दिसम्बर की पुनरावृत्ति ही हुई। मन उसी तरह खेद से भर गया।

नोट्स फ्रॉम एन ऑड लेटर रिटिन अर्लियर।

...कई बार अपने विकास में हम स्वयं ही बाधा बन जाते हैं जब हम, जो हमें होना है, उसके अतिरिक्त कुछ होते ही होना समझने लगते हैं।

...किसी भी मार्ग के अवलम्बन में अवलम्बन ही आश्वासन है—निरन्तर अनुसरण ही तृप्ति है। जहाँ 'क्या होना था', 'क्या होना चाहिए' का कोई महत्त्व नहीं

रह जाता—क्योंकि कोई क्रिया कार्य नहीं है—क्योंकि करने का परिणाम ढोना आवश्यक है।

...लहू में व्याप्त भाव को अधिकार रूप में कोई अपना 'प्राप्य' कहे तो लहू में उबाल उठता है क्योंकि यह उसका अपमान है। स्नेह किसी का देय या किसी का प्राप्य नहीं है। देह में स्वास्थ्य की तरह वह अन्तर का धर्म है। जिसके हृदय में स्नेह है, तृप्ति उसी की है।

...विशुद्ध स्नेह का अधिकार स्नेह होने तक है, उसकी प्रतिक्रिया स्वाभाविक रूप से अपने-आप होती है। —जो बाँधना चाहता है वह स्नेह नहीं, भय है, आशंका है, अविश्वास है।

...प्रवाह स्नेह का धर्म है जैसे जो प्रवहमान है वह सुन्दर झील में भी बँधकर नहीं रह सकता! बाँध दो तो वह बदबू देने लगता है।...यदि वह प्रवाह पैर के तलुवे भिगोकर भी निकल जाता है तो पुलक का वह क्षण अभिनन्दनीय है।

जालन्धर : 20-12-58

घूम-फिरकर फिर दोराहे पर। मैं इस निराशा को पूरी तरह स्वीकार क्यों नहीं कर लेता? कितनी बुरी चीज़ है यह कमज़ोरी!

एक तरह से मन ने मान ही लिया था। उस दिन डॉ. मदान शाम को उनके यहाँ गए मगर बात नहीं कर सके। दो-तीन दिन हुए उसके अब्बा ने आकर उनसे कहा कि वे किसी भगत के लड़के के साथ (जो विलायत से आ रहा है) उसकी सगाई कर रहे हैं। सुना और अपने में समेट लिया।

...मगर आज सुबह...आज जाना था डौली के। सुबह नरेन्द्र के साथ चलना था। सुबह ही महेन्द्र और ज्ञान पटियाला से आ गए थे। उनके साथ मदान के यहाँ गया और लौट आया। फिर चलने की तैयारी की तो अम्माँ ने कहा, "जिस दिन तुम चंडीगढ़ गए थे उस दिन म...आई थी 12 बजे के लगभग—अकेली।"

इतने दिन यह बताना अम्माँ को याद नहीं रहा। मन बहुत उदास हो गया। नरेन्द्र से परामर्श किया। सलाह हुई कि डॉ. मदान से बात करके ही जाऊँ। घर आ गए। डॉ. मदान के यहाँ जाकर बात की। उन्होंने फिर कहा कि आज दोपहर नौकर को भेजकर उसे बुला भेजेंगे और पूछ लेंगे...

सोचा, शाम तक डौली के हो आएँगे।

चले तो कम्पनी बाग़ के पास वह सहसा साइकिल पर आती दिखाई दी। उसकी साइकिल सहसा रिक्शा के पास से निकल गई। मन और भी उदास हो गया—बेहद उदास।

स्टेशन के अड्डे से बस पकड़ी।...टांडा अड्डा से आगे गेट बन्द था। बस रुक गई। नरेन्द्र ने सहसा कहा, "तुम उतरकर घर चले जाओ, मैं गाँव हो आऊँगा।"

उसकी तरफ़ देखा। दोनों टिकट उसके हाथ में दे दिये और बस से उतर पड़ा!

आई फेल्ट ग्रेटफुल।

घर आते हुए अम्माँ रास्ते में मिल गई। उसे साथ रिक्शा में बिठा लाए। अगर वही...

और पाँच बज रहे हैं। मन उड़ा-उड़ा-सा है। चाहता हूँ डॉ. मदान ने बात कर ली हो। एक तरफ़ तय तो हो जाए। रात की गाड़ी से दिल्ली जाना है। यादव का कल एक्सप्रेस लैटर आया था। उससे मिलना चाहता हूँ। दिल्ली में रहने की जगह भी देखनी है।

मगर...

और रिक्शा में जाते हुए रास्ते में ही मिला था दुर्गा।

"ज्ञान और देव याद करते थे," उसने कहा। बताया कि ज्ञान ट्रांसफर होकर दिल्ली आ गया है।

नहीं जानता आमने-सामने होने पर कैसा लगेगा। 'इमोशनल डिस्टरबेंस' तो न होगी, दुख अवश्य होगा।

घड़ियाँ, पल मेरा समूचा व्यक्तित्व उन्मुख मयूर की तरह चोंच खोले हैं। बादल नहीं बरसेगा तो क्या घुट जाऊँगा! नहीं।

पीड़ा को भी सहज रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। पीड़ा अपने में ही पीड़ा है—उसके अतिरिक्त और कुछ तो प्रदर्शन ही है।

And that is the end of the episode.

You said, my dear friend Shakespeare, Frailty thy name is woman! But even today I don't agree with you entirely, because I know at least one woman, who is not frail.

I thank you very much Veena, for your letter which I received today. You certainly are a gem of a woman.

परिशिष्ट

मोहन राकेश ने 'सारिका' के सम्पादन-काल के आरम्भ में ही एक नई और महत्त्वपूर्ण सीरीज़ शुरू की थी—'आईने के सामने'। इसके अन्तर्गत विभिन्न भारतीय भाषाओं के अनेक प्रमुख लेखकों ने अपने आत्मकथ्य लिखे। कालान्तर में राकेश ने उक्त स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशित रचनाओं में से हिन्दी, उर्दू, पंजाबी और बांग्ला के पन्द्रह आत्मांकन लेकर इसी शीर्षक से एक पुस्तक का सम्पादन किया। 'आईने के सामने' नामक यह पुस्तक 1965 में प्रकाशित हुई। रचनावली के इस खंड में 'परिवेश' से लिया गया लेख 'चींटियों की पंक्तियाँ : ज़मीन से काग़ज़ तक' वास्तव में बदले हुए शीर्षक से छपा 'आइने के सामने' वाला आलेख ही है। इसी सन्दर्भ में हम यहाँ मोहन राकेश द्वारा लिखी गई उस पुस्तक की 'भूमिका' प्रकाशित कर रहे हैं। इस भूमिका से एक सजग सम्पादक के रूप में राकेश की मौलिक उद्‌भावनापूर्ण सोच और सूक्ष्म रचना-दृष्टि का पता चलता है।

—संपादक

'आइने के सामने' की भूमिका

'आईने के सामने'—यह शीर्षक बाद का है, जो शब्द पहले दिमाग़ में था, वह था 'सेल्फ-पोर्ट्रेट'। सेल्फ-पोर्ट्रेट का सही अनुवाद क्या होना चाहिए, यह मैं तब भी नहीं सोच पाया था, अब भी नहीं सोच पा रहा। आत्म-चित्र या आत्म-रेखाचित्र या आत्मांकन, ये सब शब्द कुछ अलग-सी ध्वनि लिये जान पड़ते हैं।

तब 'सारिका' का सम्पादन कार्य मैंने सँभाला ही था। पत्रिका का जो रूप सामने था, उससे हटकर कुछ 'नया' करने की बात ही नहीं थी—उस दृष्टि से तो कई स्तरों पर उसमें परिवर्तन अपेक्षित था—बात बहुत दिनों से मन में आ रहे एक विचार को कार्यान्वित करने की थी। सोचा था कि जिस तरह एक चित्रकार रेखाओं के माध्यम से आत्मांकन करता है, क्या उसी तरह एक लेखक के लिए भी शब्दों के माध्यम से आत्मांकन करना सम्भव है? संशय प्रश्न के साथ ही आरम्भ हो जाता था, क्योंकि हर माध्यम की अपनी सम्भावनाएँ हैं—जो जिस तरह रेखाओं के लिए सम्भव है, वह उसी तरह शब्दों के लिए भी सम्भव कैसे हो सकता है? फिर सोचा कि शब्दों की अपनी प्रकृति के अनुसार भी तो आत्मांकन की सम्भावनाएँ सोची जा सकती हैं—यदि अलग-अलग लेखकों द्वारा इस तरह के प्रयोग किए जाएँ, तो उनसे शायद एक नई विधा का सूत्रपात हो सकता है।

इस सम्बन्ध में सबसे पहले बात हुई राजेन्द्र सिंह बेदी से, 'बाम्बेलिस', चर्चगेट में, 'चीज़-पाई' के साथ कॉफ़ी पीते हुए। 'चीज़-पाई' का ज़िक्र इसलिए कि वह बेदी की ख़ास पसन्द की चीज़ है, और वह ख़ुद जाकर उसका बड़ा-सा टुकड़ा प्लेट में डलवा लाए थे। पर ख़ुद खाने की जगह वह पूरा-का-पूरा टुकड़ा मुझे खिला देने की कोशिश में थे। कॉकटेल के रंगीन सिगरेटों की एक डिब्बी भी वह किसी दोस्त से, या शायद अपने लड़के से, मार लाए थे, और चाह रहे थे कि वे बीस-के-बीस सिगरेट भी उसी समय वहीं बैठे-बैठे पी जाऊँ। थोड़ी देर में मुझे लगने लगा कि जो मैं कह रहा हूँ, उसमें उनकी दिलचस्पी कम है, ज़्यादा दिलचस्पी यह देखने में है कि मैं दूसरे के दिए सिगरेट कितने आत्म-विश्वास के साथ पीता हूँ, और 'चीज़-पाई' के लिए मना करने पर भी कैसे मेरी नज़र बार-बार उसके बाक़ी हिस्से की तरफ़ मुड़ जाती है। इधर मैं अपने को कहता सुनता, "बस यही अस्पष्ट-सा विचार मन में था।

पता नहीं बात मैं ठीक से कह पाया हूँ या नहीं पर चाहता हूँ कि इस अन्दाज़ में एक चीज़ लिखकर आप छः-आठ रोज़ के अन्दर-अन्दर मुझे दे दें..." और जवाब में उधर से सुनने को मिलता, "खाओ, खाओ, अब यह इतना-सा ही तो टुकड़ा बाक़ी है। इतनी अच्छी 'चीज़-पाई' यहाँ और कहीं नहीं मिलती।"

बेदी से बात कर चुकने के बाद यह अहसास मन में बना रहा कि शायद बात मुझसे ठीक से कही नहीं गई—मुझे किसी और तरह से और किन्हीं और शब्दों में, अपने को स्पष्ट करना चाहिए था—किन शब्दों में, यह मैं आज तक नहीं सोच पाया।

पर यह दिक़्क़त—बात ठीक से न कह पाने की—एक बार नहीं बार-बार पेश आई—हर बार जब एक नए लेखक से, नए सिरे से, इस विषय में बात करनी पड़ी। हर लेखक ने बेदी की तरह चुपचाप लिखना स्वीकार नहीं कर लिया, यह महसूस भी कराया कि बात कुछ स्पष्ट नहीं हुई। अक्सर सुनने को मिला कि भई, यह तो समझ में आ गया कि अपने बारे में कुछ लिखना है; पर क्या लिखना है, यह कुछ समझ में नहीं आया। और मुझे मानना चाहिए कि मैं बात किसी के सामने ठीक से स्पष्ट नहीं कर सका, बहुत दिनों बाद जब अपनी लिखने की बारी आई, तो अपने सामने भी नहीं।

सबसे ज़्यादा दिक़्क़त जिस आदमी से लिखवाने में पेश आई, शायद वही उस विचार के सबसे निकट पहुँचा भी—मैं नाम न भी लूँ, तो उसका 'सेल्फ-पोर्ट्रेट' इसकी गवाही देगा। नागार्जुन की घुमक्कड़ी उन दिनों उन्हें बम्बई ले आई थी। मैंने पहली बार उनसे बात की, तो सीधा जवाब मिला, "नहीं, मैं यह सब नहीं लिखूँगा।" दूसरी बार बात की, तो उन्होंने मिलना-जुलना ही बन्द कर दिया। इस पर मैंने दूसरा रास्ता अपनाया। स्टॉफ के एक फोटोग्राफर को पीछे लगाकर उनकी तसवीरें उतरवा दीं। फिर कहा कि अब तो दफ़्तरी कार्यवाही हो चुकी है इसलिए उन्हें यह चीज़ लिखकर देनी ही होगी। नागार्जुन हँसे, झुँझलाए पर अगले रोज़ से दो-दो, चार-चार पन्ने आने शुरू हो गए। फिर बीच में व्यवधान पड़ने लगा, तो उन्हें कमरे में बन्द रहकर लिखने का नोटिस दिया गया। जहाँ वह पहले रहते थे, वहाँ से बदलकर उन्होंने चौपाटी में कमरा लिया और उसकी कुंडी चढ़ाकर किसी तरह ये लेख पूरा कर दिया। जब सब पन्ने मेरे हाथ में दे चुके, तो एक दिन कुछ संत्रस्त भाव से बोले, "यह सब छाप दोगे?" और फिर ख़ुद ही ठहाका लगाकर हँस दिए। बोले, "अच्छा आप दो। जो होगा देखा जाएगा।"

सबसे पहला लेख बेदी का था, और प्रायः सभी का मत है कि लेखमाला की उससे अच्छी शुरुआत नहीं हो सकती थी। मैं चाहे अपनी बात उनसे ठीक से नहीं कहा सका था पर उन्होंने जो कुछ लिखा, उसने थोड़ी देर के लिए भुला दिया कि मैंने उनसे क्या चाहा था। लेख उन्होंने मुझे स्वयं पढ़कर सुनाया था, और सुनाते हुए जहाँ उनकी आँखें शरारत से चमक उठी थीं या जहाँ उनके चेहरे पर एक दार्शनिक

गम्भीरता घिर आई थी, उन स्थलों को आज रेखांकित नहीं किया जा सकता। बेदी से उनका लेख सुनने से लेकर एक अनुभव मुझे बार-बार हुआ कि कोई भी विचार जब एक व्यक्ति से दूसरे तक पहुँचता है, तो उसका रूप कुछ और ही हो जाता है—पहले के रूप से सर्वथा अलग और स्वतंत्र। इसलिए, हर बार, हर नए लेखक का आत्मांकन पढ़ना मेरे लिए एक नया अनुभव रहा—क्योंकि हर लेखक ने मेरी अपेक्षा को झुठलाकर अपने ही अन्दर की किसी अपेक्षा की पूर्ति की थी। मुझे यह भी लगा कि हर आत्मांकन आरम्भिक विचार से जितना दूर पड़ता गया है, आत्मांकन के सही उद्देश्य के वह उतना ही निकट आता गया है क्योंकि हर आत्मांकन के एक अलग दृष्टि, एक अलग शैली और एक अलग अवधारण का परिचय दिया।

इस संग्रह में पन्द्रह लेखकों के आत्मांकन दिए जा रहे हैं—इनमें से दस मेरे 'सारिका' में रहते प्रकाशित हुए थे, पाँच बाद में प्रकाशित हुए हैं। यूँ अब तक और भी कई लेखकों के आत्मांकन प्रकाशित हो चुके हैं पर उन सबको यहाँ लेना मैंने अपना अधिकार नहीं समझा। अधिकार का दावा उन पाँच को लेकर भी नहीं है जो मेरे कार्यकाल के बाद प्रकाशित होने पर भी यहाँ दिए जा रहे हैं—पर व्यक्ति रूप में इन लेखकों से इतनी निकटता है कि इनसे अनुमति लेने में मुझे उतना संकोच नहीं हुआ। तारा बाबू का आत्मांकन मेरे कार्यकाल में प्रकाशित हुआ था, फिर भी यहाँ नहीं दिया जा सका क्योंकि उनकी अनुमति मुझे प्राप्त नहीं हुई।

ये पन्द्रह लेख काफ़ी हद तक हमारी आज की रचनात्मक प्रतिभा का प्रतिनिधित्व करते हैं। एक ओर कृशन चन्दर का लेख है जिसमें उनकी वह शैली अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में देखी जा सकती है जिसे आज 'कृशनचन्द्ररियत' का नाम दिया जाने लगा है। कृशनचन्दर के आलोचक कुछ भी कहते रहें, एक ऐसी निजी शैली का विकास जिसका अनुसरण उस भाषा की एक पूरी पीढ़ी करे, कम महत्त्व की बात नहीं है। फिर जहाँ तक ज़िन्दादिली का सवाल है, वह भी मैं समझता हूँ कि जितनी कृशनचन्दर के सेल्फ-पोर्ट्रेट में है, उतनी किसी और के में नहीं। दूसरी ओर कमलेश्वर हैं जिसने बहुत सादगी के साथ अपने जीवन के कुछ मार्मिक प्रसंगों को उघाड़कर सामने रखा है—हलकी भावुकता की पुट रखते हुए भी कमलेश्वर के सेल्फ-पोर्ट्रेट में एक ऐसी आन्तरिकता है जो सहज ही मन को छू लेती है। विमल मित्र और विष्णु प्रभाकर ने बौद्धिक धरातल पर अपने को परखने का प्रयत्न किया है—उनके लेखों में उनके व्यक्ति की अपेक्षा उनका रचनाकार अधिक सामने आता है। इससे बिलकुल विपरीत स्थिति राजेन्द्र की है—उसके लेख में निजी जीवन के परिवेश को ही लिया गया है, जिसने लेखक के रूप में उसे ढाला है। अमृता प्रीतम और कुर्रतुल-ऐन-हैदर के लेखों में एक तरह का अतीत-विरह (नास्टाल्जिया फॉर द पास्ट) है, जिसे अमृता ने अपनी कवित्वमय शैली से अपने जीवन का एक व्यापक सन्दर्भ बना दिया है, और कुर्रतुल-ऐन-हैदर ने बौद्धिक आधार पर अपने लेखकीय व्यक्तित्व की रीढ़ माना है।

भगवतीचरण वर्मा का लेख उनके व्यक्तित्व की अपेक्षा उनके जीवन-दर्शन पर अधिक प्रकाश डालता है, यशपाल का लेख उनके विकास-क्रम को सीढ़ी-दर-सीढ़ी प्रस्तुत करता है और अश्क का लेख जीने के प्रति उनके दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करता है। भीष्म साहनी का लेख दो हिस्सों में बँटा लगता है—एक हिस्से में उनका निजी परिवेश है, और दूसरे में साहित्यकार के रूप में उनका कर्तव्य-बोध। और अमृतलाल नागर...उनका पोर्ट्रेट साहित्यकार से अधिक एक चित्रकार का है।

इन सब लेखों को एक साथ पढ़कर जो बातें मन में आती हैं, उनमें एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अधिकांश लेखकों ने जहाँ अपने बचपन के कुछ बहुत सहज आत्मीयतापूर्ण चित्र दिए हैं, वहाँ अपने यौवन की ओर हलका-सा संकेत करके ही निकल जाना चाहा है—इसमें नागार्जुन काफ़ी हद तक, और अश्क और कृशन चन्दर कुछ हद तक अपवाद हैं। शेष ने जहाँ कहीं अपने यौवन के दिनों की ओर संकेत किया है, वहाँ उनका व्यक्तित्व नहीं, साहित्यकार ही सामने रहा है। अमृता प्रीतम के लेख की बुनावट में व्यक्ति-जीवन के कुछ संकेत जरूर हैं पर उनकी शैली ने उन्हें इतना अमूर्त बना दिया है कि वे अपनी सांकेतिक स्थिति तक ही सीमित रह जाते हैं। कहा नहीं जा सकता कि इसका क्या अर्थ लेना चाहिए कि हमारे लेखक अपने यौवन को उसकी सहजता में स्वीकार करते कतराते हैं या कि उनके यौवन में ऐसा कुछ रहा ही नहीं जिसका कि उल्लेख किया जा सके? कुंठा जीने में है, या अपने जिए को खुलकर स्वीकार करने में? यह प्रश्न और सबसे ज़्यादा अपने सेल्फ-पोर्ट्रेट को लेकर मन में आता है।

इसके अलावा एक और ध्वनि जो नागार्जुन को छोड़कर प्रायः सभी के लेखों में है—वह है थकान और क्षोभ की। इसकी अभिव्यक्ति कहीं नियतिवाद के रूप में हुई है, कहीं टूटे सपनों के खेद के रूप में। कहीं अपना प्राप्य न मिलने की शिकायत के रूप में, और कहीं परिवेश से उखड़ने के अहसास के रूप में। कहीं अपूर्ति के रूप में, कहीं एक तरह की तटस्थता के रूप में। कहीं वर्तमान की खंडित बुनियाद पर खड़े होकर एक अनिश्चित भविष्य की ओर हाथ फैलाने के रूप में, कहीं एक प्रतिशोध-भावना के रूप में। कहीं हीनता की स्वीकृति के रूप में, और कहीं वर्तमान का सामना ही न कर पाने के रूप में। विचित्र बात यह है कि यह ध्वनि पुरानी पीढ़ी से कहीं ज़्यादा बीच की और नई पीढ़ी के लेखकों में है—यशपाल, नागर और अश्क में इनका आभास उतना नहीं मिलता, जितना अन्य लेखकों में है।

पर दूसरी ओर इन लेखकों की आस्था है—सामान्य जीवन और उसके यथार्थ में आस्था—जिसका उल्लेख 'फिर भी', 'तो भी' और 'परन्तु' के बाद हरेक करता है, यह बीच का शब्द चाहे उनका पूरा आत्मांकन ही क्यों न हो। सामान्य जीवन से जुड़े होने की यह भावना इन लेखकों के रचना-संस्कार पर प्रकाश डालती है, और इनके आन्तरिक संघर्ष पर भी, जो कि थकाने और हरा देनेवाली परिस्थितियों को इन्हें

अपनी परिणति नहीं मानने देता। इनके संघर्ष की बुनियाद इनकी ईमानदारी पर है और इनकी ईमानदारी इनके संघर्ष की उपज है। बिना किसी तरह की तुलना में पड़े यह कहा जा सकता है कि इन लेखों से एक उद्देश्य की पूर्ति तो होती है और वह यह कि इनसे अलग-अलग भाषाओं और अलग-अलग उम्र के लेखकों का पारस्परिक अन्तर स्पष्ट होने के साथ-साथ उनकी सामान्य दिशा और सामान्य खोज पर भी प्रकाश पड़ता है।

—मोहन राकेश

●●●

मोहन राकेश

जन्म : 8 जनवरी, 1925; जंडीवाली गली, अमृतसर।

शिक्षा : संस्कृत में शास्त्री, अंग्रेज़ी में बी.ए., संस्कृत और हिन्दी में एम.ए.।

आजीविका : लाहौर, मुम्बई, शिमला, जालंधर और दिल्ली में अध्यापन, सम्पादन और स्वतंत्र-लेखन।

प्रकाशन : आखिरी चट्टान तक (यात्रा वृत्तान्त); इंसान के खँडहर, नये बादल, जानवर और जानवर, एक और ज़िन्दगी, फ़ौलाद का आकाश (कहानी); अँधेरे बन्द कमरे, न आनेवाला कल, अन्तराल (उपन्यास); आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे अधूरे (नाटक); परिवेश (निबंध), मृच्छकटिक, शाकुंतल (नाट्यानुवाद)।

पुरस्कार/सम्मान : सर्वश्रेष्ठ नाटक और सर्वश्रेष्ठ नाटककार के संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार, नेहरू फ़ैलोशिप, फ़िल्म वित्त निगम का निदेशकत्व, फ़िल्म सेंसर बोर्ड के सदस्य।

निधन : 3 दिसम्बर, 1972, नई दिल्ली।

जयदेव तनेजा

जन्म : 15 मार्च, 1943, ओकाड़ा (अविभाजित भारतवर्ष)।

शिक्षा : एम.लिट्. पी-एच.डी।

आजीविका : अध्यापन एवं पत्रकारिता।

प्रकाशन : हिन्दी/भारतीय रंगकर्म पर 26 पुस्तकें प्रकाशित। मोहन राकेश पर—लहरों के राजहंस : विविध आयाम, मोहन राकेश : रंग शिल्प और प्रदर्शन (समीक्षा एवं शोध), राकेश और परिवेश : पत्रों में, पुनश्चः, एकत्र, नाट्य-विमर्श, मेरे साक्षात्कार, पूर्वाभ्यास (सम्पादन)।

पुरस्कार/सम्मान : दिल्ली नाट्य संघ, साहित्य कला परिषद्, हिन्दी अकादमी एवं केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी द्वारा पुरस्कृत/सम्मानित।

संप्रति : स्वतंत्र लेखन।

मोहन राकेश
रचनावली

खंड 1
अंतरंग

खंड 2
पहले पहल

खंड 3
नाटक

खंड 4
एकांकी

खंड 5
कहानियाँ

खंड 6
उपन्यास

खंड 7
उपन्यास

खंड 8
निबंध-आलोचना

खंड 9
विविध विधाएँ

खंड 10
पत्र

खंड 11
नाट्यानुवाद

खंड 12
कथानुवाद

खंड 13
कथानुवाद

ISBN 978-81-8361-427-6
₹ 10400 (तेरह खंड)

राधाकृष्ण
नयी दिल्ली पटना इलाहाबाद